इकाई -1 यूनानी(GREEK) राजनीतिक चिन्तन की विशेषताएं

इकाई की संरचना

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 यूनानी राजनीतिक चिन्तन के विकास की परिस्थितियाँ
1.3.1 भौगोलिक स्थितियाँ
1.3.2 जिज्ञासु – प्रवृत्ति
1.3.3 विवेक - बुद्धि
1.3.4 मानव के महत्व का ज्ञान
1.3.5 मानवीयता की भावना
1.3.6 शासन के विविध रूपों की विद्यमानता
1.4 यूनानी राजनीतिक चिन्तन की विशेषताएं
1.4.1 नगर-राज्य
1.4.2 मानव अध्ययन को विशेष महत्व
1.4.3 यथार्थवादी चिन्तन
1.4.4 राज्य नैतिक संस्था के रूप में
1.4.5 विवेक को प्रधानता
1.4.6 दास प्रथा
1.4.7 सामुदायिक हित की भावना
1.4.8 समाज व राज्य में अन्तर नहीं
1.4.9 धर्म निरपेक्ष राजनीतिक चिन्तन
1.4.10 राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अभाव
1.5 यूनानी राजनीतिक चिन्तन का महत्व
1.6 सारांश
1.7 शब्दावली
1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना-

यूनान पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का सिरमौर रहा है। पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ यूनानी राजनीतिक चिन्तन से ही होता है। इसीलिए कहा जाता है कि यूनानी चिन्तन समस्त पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ है, पृष्ठभूमि है और नींव है। सम्पूर्ण पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन या तो यूनानी राजनीतिक चिन्तन का समर्थन या विरोध प्रतीत होता है। किसी राज्य या समाज में होने वाली सामाजिक एवं राजनीतिक उथल-पुथल राजनीतिक विचारों (सिद्धान्तों) के उत्पत्ति को उर्वरता प्रदान करती हैं। यूनान की सामाजिक व राजनीतिक अस्थिरता ने यूनानी दार्शनिकों का ध्यान इस तरफ आकृष्ट किया कि सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था नें सुधार अपरिहार्य है। जिससे यूनान में राजनीतिक विचारों ने जन्म लेना प्रारम्भ किया और वह इस रूप में प्रकट हुआ कि सम्पूर्ण दुनिया के राजनीतिक विचारों का मार्गदर्शक या आधार सिद्ध हुआ।

यद्यपि यूनानी राजनीतिक चिन्तन से पूर्व भारत, मिस्र, ईरान, चीन, बेबीलोन आदि देशों के निवासियों ने न केवल राजनीतिक संस्थाओ की रचना किया वरन् विभिन्न राजनीतिक समस्याओं पर गहन चिन्तन और मनन भी किया। कुछ ऐसे विचारों का प्रतिपादन भी किया गया जिनका विकास बाद में पष्चिमी जगत में हुआ। किन्तु पौर्वात्य जातियों का राजनीतिक चिन्तन क्रमबद्ध, सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक नहीं था। इस प्रकार अन्य समाजों को राजनीतिक चिन्तन को प्रारम्भ करने का श्रेय प्राप्त होने के बावजूद इसे सर्वप्रथम क्रमबद्ध, व्यवस्थित और वैज्ञानिक स्वरुप प्रदान करने का पूरा श्रेय यूनानियों को ही दिया जाता है।

यूनानी अन्य जातियों की तरह धर्म के क्षेत्र में आगे बढ़ने के बजाय भौतिक जगत की वस्तुओं पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए बुद्धि के प्रकाश में विश्व पर विचार करने का प्रयत्न किये। इस प्रकार निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक चिन्तन का व्यवस्थित व वैज्ञानिक रूप यूनानियों द्वारा ही प्रतिपादित किया गया। यूनानी राजनीतिक चिन्तन राजनीतिक चिन्तन को समझने की दृष्टि प्रदान करता है। यह वह आधार है जिस पर सम्पूर्ण पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का महल निर्मित प्रतीत होता है।

1.2 उद्देश्य-

यह इकाई के अध्ययन के उपरान्त -

1. पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के विकास को समझने में सहायता मिलेगी।

2. सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियां किस प्रकार राजनीतिक चिन्तन को पनपने में सहयोग करती है का ज्ञान प्रदान करेगा।

3. वर्तमान राजनीतिक चिन्तन को समझने में भी सहायता मिलेगी।

4. वर्तमान राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना में इसके योगदान को हम जान सकेगे।

1.3 यूनानी राजनीतिक चिन्तन के विकास की परिस्थितियां

आवश्यकता अविष्कार की जननी होती है अर्थात समस्या उत्पन्न होने पर उसका समाधान खोजना मानव की प्रकृतिर रही है। यूनान की सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं ने यूनानी चिन्तकों को उनका समाधान ढूढ़ने के लिये प्रेरित किया। जिससे यूनानी राजनीतिक चिन्तन का प्रादुर्भाव हुआ। पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन यूनानियों का अन्वेषण था। यह सत्य है कि यूनानी राजनीतिक चिन्तन से पूर्व शासक एवं शासितों का अस्तित्व तो था किन्तु राजनीति का नही। यह एक महत्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न है कि राजनीतिक दर्शन अथवा चिन्तन का उदय सर्वप्रथम यूनान में ही क्यों हुआ इसके प्रमुख कारकों का उल्लेख निम्न रूपों में किया जा सकता है-

1.3.1 भौगोलिक स्थितियां

यूनानी राजनीतिक चिन्तन के उदय पर उसकी विषिष्ट भौगोलिक स्थिति का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। यूनान के पूर्व की ओर असीरिया तो दक्षिण की ओर मिस्र था। फौनीसिया के व्यापारियों ने यूनायिों को सभ्यता का सन्देश तो दिया परन्तु उनकी स्वतन्त्रता पर कोई कुठाराघात नही किया। इससे यूनानियों को अपनी सभ्यताके विकास का निरन्तर अवसर मिला।

यूनान की जलवायु समषीतोष्ण है। जिससे अत्यधिक ठण्ड या गर्मी यहां के निवासियों के लिए परेषानी का सबब नही बनती है। इस राज्य के स्वास्थयबर्धक जलवायु के कारण यूनानी शारीरिक एवं मानसिक दृष्टी से मजबूत होते हैं। कम उपजाऊ भूमि होने के बावजूद प्रकृति द्वारा यूनानियों के भोजन की सुलभता व समषीतोष्ण जलवायु के कारण वस्त्रों की चिन्ता का अभाव इनको अध्ययन, मनन, चिन्तन तथा सांस्कृतिक क्रियाकलापों के संचालन के लिये प्रचुर समय प्रदान करता है।

1.3.2 ज़िज्ञासु प्रवृत्ति

मानव स्वभाव में जिज्ञासावृति स्वाभाविक रूप से पाई जाती है किन्तु यूनानियों में यह प्रवृत्ति अत्यन्त प्रबल थी। उनकी यह प्रवृत्ति यूनानी राजनीतिक चिन्तन के विकास का प्रमुख कारण बनी। अरस्तू ने लिखा है कि ''सभी मनुष्य जानना चाहते है। आश्चर्य की भावना दार्शनिक बनाती है, दर्शन का एक मात्र स्रोत यही है। जिज्ञासा की भावना यूनानी जाति की एक प्रमुख विशेषता है। किसी बात को स्वीकार करने से पूर्व वे उसका बैज्ञानिक परीक्षण करते थे। अपनी इसी वृत्ति के कारण यूनानी दार्शनिकों ने विश्व की उत्पति व राज्य सम्बन्धी चिन्तन का प्रतिपादन किया।

1.3.3 विवेक- बुद्धि

जिज्ञासा वृत्ति के साथ-साथ यूनानियों में विवेक तत्व की भी प्रधानता थी। विवेक के कारण ही यूनानी तर्क - वितर्क,वाद-विवाद को अत्यधिक महत्व देते थे। किसी भी सत्य को वे तब तक स्वीकार नही करते थे जब तक कि उसे तर्क की कसौटी पर कस कर सच्चाई का ज्ञान न प्राप्त कर लिया जाय। विवेक की प्रधानता के कारण ही धार्मिक अन्धविश्वासों में उनकी कोई रूचि नही थी। विवेक व तर्क में गहरी आस्था के कारण ही वे राजनीतिक चिन्तन के जनक के रूप में प्रकट हुए। यूनानी इस बात से भलीभांति परिचित थे कि वाद-विवाद किसी कार्य के मार्ग में बाधक नहीं है बल्कि कोई भी बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य तब तक भली-भांति सम्पादित नहीं हो सकता जब तक कि उसे प्रारम्भ करने से पूर्व उस पर वाद-विवाद व मनन - चिन्तन विवेचन नहीं कर लिया जाता है। किसी भी

संस्था का निर्माण करने से पूर्व उस पर समाज के लोगों में वाद-विवाद निष्चित रूप से संस्था के रूप को निखार देता है। वह समाज या राज्य के लिए बेहतर भी सिद्ध होती है।

1.3.4 मानव के महत्व का ज्ञान

राजनीतिक चिन्तन के अभ्युदय के लिए मानव को अपने महत्व का ज्ञान होना भी अत्यन्त आवश्यक होता है। यूनानियों को यह पूर्ण विष्वास था कि नियति ने बहुत ही कम चीजों को पहले से निष्चित कर रखा है। तमाम अदृश्य शक्तियों के होते हुए भी मनुष्य अपनी सामर्थ्य से अपने समाज का निर्माण अपनी इच्छानुसार कर सकता है। उनका यही विष्वास उन्हें राजनीतिक कार्यों में भाग लेने के लिए प्रेरित करता था और वे अपने अधिकारों के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक थे। यूनानियों का मानना था कि यदि कोई मानव अपने राजनीतिक व सामाजिक दायित्वों का निर्वहन नहीं करता है तो उसका जीवन निरर्थक होता है। मानव के महत्व के कारण ही यूनानी मानव व्यक्तित्व के विकास के समस्त साधन उसे उपलब्ध कराने का समर्थन करते थे।

1.3.5 मानवीयता की भावना

यूनानी मानवीयता की भावना से ओत-प्रोत थे। उनका चिन्तन मानवीयता पर आधारित दर्शन ही है। सोफोक्लीज ने लिखा है कि ''मनुष्य एक अद्भुत वस्तु है जिससे बढ़कर और कोई अद्भुत वस्तु नहीं।'' मानवीयता में आस्था के कारण ही यूनानियों के द्वारा सदैव मानवीय समाज की बुराईयों को दूर करने का प्रयास किया गया। अपने विचारों के माध्यम से वे तत्कालीन समाज के उन व्यवस्थाओं पर गहरी चोट करने का प्रयास कर रहे थे जो मानव समाज या मानवीयता के लिए कोढ़ साबित हो रही थी। वही उन व्यवस्थाओं का वे प्रबल समर्थन भी कर रहे थे जो मानव प्रेम व सुख-समृद्धि को बढ़ावा देने वाली थी। इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि यूनानियों का सम्पूर्ण प्रयास मानवता की सेवा करने के लिए ही था। मानवीय होने के कारण ही यूनानी चिन्तन राज्य के अस्तित्व का आधार पूर्ण सुखमय एवं आत्मनिर्भर जीवन को मानता था।

1.3.6 शासन के विविध रूपों की विद्यमानता

यूनान छोटे-छोटे नगर राज्यों का अद्भुत संगम था। इन नगर - राज्यों की शासन प्रणालियां भी भिन्न-भिन्न थी। जिससे शासन के विविध स्वरूपों का तुलनात्मक अध्ययन कर आदर्श शासन की धारणा का प्रतिपादन सम्भव था। अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'पालिटिक्स' की रचना से पूर्व लगभग 158 देशों के संविधानों का अध्ययन कर यूनान की राजनीतिक व्यवस्था की बुराईयों को दूर करते हुए शासनके सर्वोत्तम रूप को खोजने का प्रयास किया। यह विविधता पूर्ण राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्था राजनीतिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए उर्वरता प्रदान करती थी। शासन के विविध रूपों का अस्तित्व यूनानियों के शासकीय अनुभव में बृद्धि किया परिणाम स्वरूप वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि आदर्श शासन के लिए किन-किन चीजों का होना अपरिहार्य है। यह उनके सम्पूर्ण चिन्तन में भी देखने को मिलता है।

अभ्यास प्रश्न -1

निर्देष- 1. नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपना उत्तर लिखें।

2. इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कर अपने उत्तर की त्रुटियों को दूर करें।

1. पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ सर्वप्रथम हुआ-

(क) यूनान में (ख) रोम में (ग) उपर्युक्त दोनों में (घ) इनमें से कहीं नहीं

....
....

....
....

2. यूनानी इस बात के प्रबल समर्थक थे कि कोई भी अच्छा कार्य बिना वाद-विवाद व तर्क-वितर्क के सम्भव नहीं है।

1. सत्य है/ 2. असत्य है

3. यूनानी नगर-राज्यों के शासन व्यवस्था में एकरूपता पायी जाती थी ?

1. सत्य है/ 2. असत्य है

....
....

4. यूनान के पूर्व और दक्षिण की ओर कौन-कौन देष बसे हुए थे ?...
....

1.4. यूनानी राजनीतिक चिन्तन की विशेषताए

राजनीतिक दार्शनिक का राजनीतिक दर्शन उसके जीवन युग से निकलता है। वास्तव में उसका राजनीतिक दर्शन उस समय की स्थिति के लिए दिया गया उत्तर होता है जिस समय का वह दार्शनिक होता है या यूं कहें कि समय, काल और परिस्थितियों का प्रभाव निष्चित रूप से प्रत्येक दार्शनिक या चिन्तक के विचारों पर पड़ता है। जिसके कारण प्रत्येक समय के दर्शन या चिन्तन में कुछ विलक्षणताएं देखने को मिलती है। इनको ही हम उस समय के चिन्तन की विशेषताओं के रूप में सम्बोधित करते हैं। प्राचीन यूनान के समय, काल और परिस्थितियों के प्रभाव के कारण ही यूनानी राजनीतिक चिन्तन में निम्नलिखित विशेषताएं देखने को मिलती हैं।

1.4.1 नगर-राज्य

यूनानी राजनीतिक चिन्तकों के अध्ययन के केन्द्र बिन्दु नगर-राज्य थे। नगर-राज्य को दृष्टिगत रखकर ही उन्होंने अपना दर्शन दिया। इसका सबसे प्रबल उदाहरण अरस्तू की पुस्तक Politics (पॉलिटिक्स) को माना जा सकता है। Politics शब्द की उत्पत्ति Polis (पोलिस) शब्द से हुई है। जिसका अर्थ होता है नगर-राज्य अर्थात नगर-राज्य का अध्ययन करने वाला विषय च्वसपजपबे कहलाया। क्षेत्रफल और जनसंख्या के दृष्टि से यूनानी नगर-राज्य लघु इकाईया थे। इसमें निवास करने वाले नागरिकों में सामुदायिकता और सद्भाव की भावना पायी जाती थी अर्थात संगठित जीवन, समान धर्म और उपासना नगर- राज्य की प्रमुख विशेषता थी। ये लोग आपस में एक दूसरे

को करीब से जानने का प्रयास करते थे। वैचारिक आदान-प्रदान, वाद-विवाद, भाषण, वाकपटुता एवं व्यवहार कुषलता इनका सामान्य लक्षण बन गया था। सामूहिक चरित्र के अतिरिक्त नगर राज्य का लक्ष्य सुखी एवं आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति करना था। प्लेटो और अरस्तू दोनों ने ही नगर राज्य को आत्मनिर्भर समुदाय माना था। यह नगर-राज्य लोगों को सद्जीवन (नैतिक) जीवन प्रदान करने में भी सहयोग करता था। अरस्तू ने लिखा है कि ''राज्य जीवन के लिए अस्तित्व में आया और सद्जीवन के लिए बना हुआ है।'' इस प्रकार नगर-राज्य एक पूर्ण राजनीतिक व सामाजिक इकाई था।

यूनानियों द्वारा नगर-राज्य को आदर्श संस्था माना जाता था। यही कारण था कि वे नगर-राज्य की कीमत पर बड़े साम्राज्य को स्वीकार करने के लिए कत्तई तैयार नही थे। जबकि अरस्तू के जीवन काल में ही फिलिप ने यूनानी नगर-राज्यों का अन्त करके अपने साम्राज्य की स्थापना कर लिया था फिर भी अरस्तू ने इन साम्राज्यों के बारे में कोई विचार नहीं किया। यूनानियों को यह पूर्ण विष्वास था कि बड़े राज्यों में जीवन का वह सामंजस्य नहीं रह सकता जो छोटे-छोटे नगर-राज्यों में सम्भव था। इस चहार दीवारी के अन्तर्गत मनुष्य एक सामान्य एवं स्वाभाविक जीवन में गुथे हुए थे।

1.4.2 मानव अध्ययन को विशेष महत्व

मानव यूनानी राजनीतिक चिन्तन का प्रमुख अध्ययन विषय था। यूनानी मनुष्य को एक सामाजिक और राजनीतिक प्राणी मानते थे। अरस्तू ने कहा था कि ''मनुष्य एक सामाजिक व राजनीतिक प्राणी है जो मनुष्य समाज में नही रहता या यह कहता है कि उसे समाज की आवश्यक ता नहीं है वह या तो पषु या देवता होगा। यूनानियों का मानना था कि सबसे आश्चर्य जनक वस्तु मानव है उससे अधिक आश्चर्य जनक वस्तु अन्य कुछ नहीं है। इसलिए मानव का अनुसंधान करना अति आवश्यक है जिससे उसके बारे में सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त हो सके। इस प्रकार यूनानियों का उद्देश्य मानव को मानव बनाना था जिससे वह अपने साथ-साथ सम्पूर्ण समाज व राज्य के लोगों के सुख व समृद्धि में सहायक बन सके। यूनानी व्यक्ति के व्यक्तित्व के सर्वागीण विकास के पक्षपोषक थे। इसके लिए वे व्यक्ति को वे सभी साधन देने के पक्षधर थे जो इस निमित्त आवश्यक हो।

1.4.3. यथार्थवादी चिन्तन

यूनानी राजनीतिक चिन्तन तत्कालीन राजनीतिक समस्याओं के समाधान से सम्बन्धित था। यद्यपि प्लेटो का दर्शन आदर्श वादी था किन्तु वह भी अपने आदर्षो का प्रतिपादन राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए ही किया था। अरस्तू तो प्लेटो का षिष्य होते हुए भी प्लेटो की आलोचना इसलिए किया कि उसका चिन्तन यथार्थ जगत से सम्बन्धित नहीं था। अपनी पुस्तक पॅालिटिक्स की रचना के पूर्व अरस्तू ने लगभग 158 देशों के संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन किया था। इसलिए अरस्तू के सिर्फ दासता सम्बन्धी विचारों को छोड़ दिया जाय तो उसके सिद्धान्त आज भी उतने ही प्रासंगिक प्रतीत होते हैं जितना कि वे अरस्तू के समय में थे। यूनानी नगर-राज्यों की एक प्रमुख विशेषता राजनीतिक अस्थिरता थी। इसलिए यूनानी राजनीतिक चिन्तन का प्रयास इस अस्थिरता को समाप्त कर आदर्श राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करना था। यह भी कहा जा सकता है कि यूनानी राजनीतिक चिन्तन भौतिक या सांसारिक जगत या लौकिक या दृष्य जगत से सम्बन्धित था न कि पारलौकिक, अदृश्य या आध्यात्मिक जगत से। यूनानी राजनीतिक चिन्तन का उद्देश्य सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं का व्यवहारिक निवारण करते हुए आदर्श समाज या राज्य की स्थापना करना था। ऐसा राज्य या समाज सभी प्रकार की कमियों से अछूता होगा। इसमें व्यक्ति के व्यक्तित्व को कुंठित करने वाला कोई तत्व नहीं होगा। अरस्तू ने क्रान्ति व उसके प्रतिकार से बचने का जो उपाय सुझाया है वे सतत् व अनादि काल तक प्रासंगिक बने रहेगे।

1.4.4. राज्य एक नैतिक संस्था है

यूनानी राजनीतिक चिन्तन राज्य को एक नैतिक संस्था मानता था। इसलिए उनका कहना था कि राज्य के बगैर नैतिक व आदर्श जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है। अरस्तू ने लिखा था कि ''राज्य जीवन के लिए अस्तित्व में आया और सद्जीवन के लिए बना हुआ है।'' राज्य का उद्देश्य मानव में सदुणों या अच्छी शक्तियों का विकास करना है। यह मानव को बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक श्रेष्ठता प्राप्त करने में सहयोग प्रदान करता है। जिस प्रकार व्यक्ति नैतिक जीवन का अनुसरण कर आनन्द प्राप्त करता है उसी प्रकार राज्य का आनन्द भी सकारात्मक अच्छाई का विकास करना है। मनुष्य का उद्देश्य सदैव नैतिक और आनन्दपूर्ण जीवन व्यतीत करना होता है, और राज्य ऐसा जीवन सम्भव बनाने के लिए ही अस्तित्व में बना हुआ है । इस प्रकार राज्य एक नैतिक संस्था है जिसका उद्देश्य एक नैतिक और सदुणी जीवन का विकास करना है। राज्य के वगैर नैतिक जीवन की कल्पना करना आकाष कुसुम के समान होगा। राज्य और समाज के बाहर व्यक्ति का व्यक्तित्व कुठित हो जायेगा। वह स्वयं के लिए अनुपयुक्त होने के साथ-साथ राज्य व समाज के लिए भी अनुपयोगी हो जायेगा।

1.4.5 बुद्धि विवेक को प्रधानता

यूनानी राजनीतिक चिन्तन विवेक तत्व को अधिक प्रधानता प्रदान करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण यूनानी राजनीतिक चिन्तन मानव विवेक की कहानी है। प्लेटो के आदर्श राज्य का दार्शनिक शासक विवेक की प्रतिमूर्ति था। प्लेटो ने कहा था कि संसार के समस्त कष्टो को तब तक दूर नहीं किया जा सकेगा जब तक कि सभी राजाओं को दार्शनिक या सभीदार्शनिकों को राजा न बना दिया जाय। इससे यह प्रतीत होता है कि यूनानियों की मानव विवेक में प्रबल आस्था थी। मानव विवेक में आस्था के कारण ही यूनानी किसी भी व्यवस्था की प्रांसगिकता को स्वीकारने के लिए तर्क की कसौटी को सर्वोत्तम मानते थे। उनका मानना था कि कोई भी व्यवस्था अच्छी है या बुरी इसका ज्ञान तभी होगा जब इसे तर्क या विवेक की कसौटी पर कसा जाय। यूनानियों का विष्वास था कि सत्य का अनुसंधान विवेक द्वारा ही किया जा सकता है। उनकी बुद्धि धार्मिक पूर्वाग्रहों से काफी हद तक मुक्त थी। इसी कारण कहा जाता है कि यूनानी राजनीतिक चिन्तन मनुष्य के स्वतन्त्र बुद्धि एवं स्वच्छन्द तर्कना - शक्ति का परिणाम है वह किन्ही धर्मशास्त्रीय मान्यताओं, रूढ़ियों अथवा अन्धविश्वासों पर अवलम्बित नहीं है। उनका राजनीतिक चिन्तन उन्मुक्त बुद्धि की स्वतन्त्र क्रीड़ा था। यूनानियों की बुद्धिवाद में आस्था की प्रषंसा अपने सार्वजनिक भाषण में करते हुए पैराक्लीज ने कहा था ''एथेन्सवासी जिन कार्यो को स्वयं प्रारम्भ नहीं करते उनके भी गुण-दोषों को परखने में सदैव समर्थ होते हैं इसलिए वे वाद-विवाद को कार्य के मार्ग में बाधा नहीं मानते बल्कि उनका कहना था कि कोई भी बृद्धिमत्तापूर्ण कार्य तब तक भली-भाँति सम्पादित नहीं हो सकता जब तक कि उसे करने के पूर्व उस पर वाद-विवाद या गहन विचार-विमर्श न कर लिया जाय।

1.4.6 दास प्रथा

यूनानी राजनीतिक चिन्तन दासता का प्रबल समर्थन करते हुए इसे पूर्णतः प्राकृतिक एवं न्यायोचित मानता है। यूनानियों के अनुसार प्रकृति ने दो तरह के मनुष्यों का निर्माण किया है- स्वामी और दास। दास स्वामियों की सेवा के लिए निर्मित किये गये है ।अतः उनकी सेवा ही उनके जीवन का उद्देश्यहै । प्रकृति में भी यह सर्वत्र देखने को मिलता है कि उत्कृष्ट द्वारा निकृष्ठ पर शासन किया जाता है। उदाहरण स्वरूप आत्मा-शरीर पर, मानव-पशुओं पर, पुरूष-स्त्री पर और माता-पिता बच्चों पर शासन करते हैं। इसलिए यह प्राकृतिक है कि शासक की अपेक्षा बौद्धिक दृष्टि से निकृष्ठ होने के कारण दास पूर्णतः स्वामी के शासन-अनुशासन में रहें। यूनानी चिन्तको का मानना था कि यूनानी सभ्यता के प्रांगण का निर्माण दासता से ही हुआ है। दासता के बिना यूनानी सभ्यता के अस्तित्व को अधिक

दिनों तक सुरक्षित रखना सम्भव नहीं होगा। दासता के आधार पर ही यूनानी नागरिकों को वह अवकाष प्राप्त होता था जिससे वे भोजन, वस्त्र आदि के चिन्ता से मुक्त होकर अपने नागरिक कर्तव्यों का निर्वहन करते थे। दासता के प्रबल पक्षपोषण के कारण अनेक विद्वानों ने तो यूनानी राजनीतिक जीवन, सभ्यता एवं संस्कृति को दास प्रथा पर अवलम्बित माना है। यूनानी चिन्तको का मानना था कि दासता की समाप्ति का अर्थ यूनानी सभ्यता को विनष्ट करना होगा। इसलिए अमानवीय होते हुए भी यूनानियों द्वारा दासता का प्रबल समर्थन किया गया।

1.4.7 सामुदायिक हित की भावना-

यूनानीदार्शनिकों ने व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों का निरूपण करते समय सामुदायिक हित को महत्वपूर्ण माना। इन्होंने ही सर्वप्रथम यह प्रतिपादित किया कि मनुष्य समाज और राज्य में रहकर ही अपना सर्वांगीण विकास कर सकता है। समाज या राज्य से बाहर व्यक्ति के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। सामुदायिक हित को प्रधानता प्रदान करने के कारण ही यूनानी राज्य को पूर्ण और व्यक्ति को उसका अंष मात्र मानते थे। उनका कहना था कि जिस प्रकार पूर्ण अंष से अधिक महत्वपूर्ण होता है। उसी प्रकार समुदाय हित या राज्य हित व्यक्तिगत हित से अधिक महत्वपूर्ण है। यूनानियों में सामुदायिक जीवन के प्रति स्वाभाविक लगाव का ही परिणाम था कि वे संघो और संस्थाओं के माध्यम से अपने सामाजिक और राजनीतिक दायित्वों का निर्वहन करते थे। समाज मानव में सामाजिक गुणों का विकास करता है। समाज में ही मानव का पालन-पोषण होता है और समाज में ही उसे आदर्श मानवीय गुणों की षिक्षा मिलती है। इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने आपको पूर्ण मानव बनाने के लिए अर्थात अपनी अन्तर्निहित शक्तियों को विकसित करके अपने जीवन को पूर्णता प्रदान करने हेतु समाज पर निर्भर है। इसलिए यूनान के मनीषीयों तथादार्शनिकों ने मनुष्य को पर्वतों के कन्दराओं या जंगलों में जाकर परम-तत्व का चिन्तन करने का उपदेष देने के बजाय उनको सामाजिक समुदायों जिनमें सबसे महत्वपूर्ण राज्य है तथा संस्थाओं को अधिक पूर्ण बनाने के लिए उत्प्रेरित किया। इस प्रकार व्यक्ति तथा समाज में समन्वय स्थापित करते हुए यूनानी विचारकों ने राजनीति विज्ञान की इस चिरंतन समस्या का समाधान करने का प्रयास किया कि व्यक्ति तथा राज्य में कौन साध्य तथा कौन साधन है।

1.4.8 समाज और राज्य में अन्तर नहीं-

यूनानियों के अनुसार राज्य और समाज में कोई भेद नहीं होता है। समाज और राज्य पृथक-पृथक न होकर एक-दूसरे से अविछिन्न रूप से जुड़े हुए है। राज्य के बारे में उनका दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था यही कारण था कि उन्हें राज्य और समाज में कोई अन्तर परिलक्षित नहीं हुआ।

1.4.9 धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक चिन्तन

सधारणतः यूनानियों को धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक चिन्तन का जन्मदाता माना जाता है। इसका कारण है कि प्राचीन यूनानियों की जातीय मनोवृत्ति धार्मिक नहीं थी न ही वहाँ कोई सुगठित पुरोहित वर्ग था। प्रायः यह देखने को मिलता है कि एक धर्म भीरू व्यक्ति स्वतन्त्र बुद्धि की क्षमता एवं तर्कना शक्ति की उपयोगिता में अधिक विष्वास नहीं रखता बल्कि वह धर्मषास्त्रों द्वारा प्रतिपादित कुछ विष्वासों, मान्यताओं तथा सिद्धान्तों को ध्रुव सत्य मान लेता है। धर्म - पुरोहित लोग धर्मषास्त्रों की आलोचना करने वालों को नरक का भय दिखाकर उसे चुप कर देने का प्रयास करते हैं। यूनानी दार्शनिक एवं चिन्तक धर्म शास्त्रों तथा धर्म-पुरोहितों के ऐसे कठोर अनुषासन से काफी हद तक मुक्त थे। उनके इस योगदान की ओर संकेत करते हुए बार्कर ने लिखा है कि ''राजनीतिक चिन्तन के जन्मदाता यूनानी हैं इसका मूल स्रोत यूनानी मस्तिष्क का शान्त एवं सुस्पष्ट बुद्धिवाद है। भारत और जूडिया (पैलेस्टाइन) के लोगों की भांति यूनानी भी धर्म के क्षेत्र में आगे बढ़ने और इस जगत को विष्वास के आधार पर ग्रहण करने के

बजाय चिन्तन के क्षेत्र में आगे बढ़े और दृष्यमान वस्तुओं पर आश्चर्य प्रकट करने का साहस करते हुए उन्होने विवेक के प्रकाश में विश्व पर चिन्तन करने का प्रयास किया।''

1.4.10 राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अभाव

यूनान के छोटे से भू-भाग पर कई छोटे-छोटे नगर राज्य स्थित थे जिनमें घोर आपसी ईर्ष्या व प्रतिद्वन्दिता व्याप्त थी। अतः इनमें आपस में निरन्तर फूट व कलह का वातावरण था। यूनानी राजनीतिक चिन्तन कभी भी अपने को नगर-राज्यों की सीमाओं से मुक्त नहीं कर सका। यही कारण था कि आधुनिक युग की तरह वे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से चिन्तन नहीं कर सके और न ही अपने चिन्तन को नये विस्तृत राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय आयाम प्रदान कर सके। इस प्रकार उनका चिन्तन हमेशा नगर-राज्यों की संकीर्णता से ग्रस्त रहा।

इस प्रकार यह देखने को मिलता है कि पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ यूनानी जगत से होने के कारण यूनानी चिन्तन अपने आप मे अद्वितीय प्रतीत होता है। जिसमें ऐसी तमाम विलक्षणताएं देखने को मिलती है जिनका अस्तित्व अन्य कही के चिन्तन में दिखाई नहीं देता है।

1.5 यूनानी राजनीतिक चिन्तन का महत्व

यूनानी राजनीतिक चिन्तन की एक-एक विशेषताएं पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन के नीव की ईंट है। प्राचीन काल में जितनी उत्कृष्ट कोटि, जितना सुस्पष्ट एवं वैज्ञानिक ढंग का राजनीतिक चिन्तन यूनान में हुआ उतना अन्यत्र कही देखने को नहीं मिलता है। यूनानियों ने राजनीति विज्ञान के जिन शब्दावलियों तथा परिभाषाओं का निर्धारण किया उनका प्रयोग हम आज तक कर रहे है। उदाहरण स्वरूप, राजनीति, राजतन्त्र, कुलीनतन्त, वर्गतन्त्र, जनतन्त्र, इत्यादि शब्दों का मूल स्रोत प्राचीन यूनानी राजनीतिक चिन्तन ही है। प्राचीन यूनानियों ने राज्य के उद्देश्य, कानून के स्वरूप व्यक्ति के अधिकारों, शासन के कार्यो, व्यक्ति तथा राज्य के सम्बन्धों, राज्य के स्वरूप इत्यादि प्रश्नों का समीचीन उत्तर दिया। लिविंगस्टन का यह कथन अतिष्योक्तिपूर्ण नहीं है कि प्राचीन यूनानियों की सबसे महान देन यह है कि उन्होने राजनीतिक चिन्तन का अविष्कार किया था।

राजनीतिक चिन्तन प्राचीन यूनानी राजनीतिक चिन्तकों का कितना ऋणी है इसे स्पष्ट करने के लिए मेयर के अग्रलिखित शब्द उद्धरणीय हैं वह लिखता है कि ''जीवन के प्रति यूरोप का जो दृष्टिकोण है, उसे समझने का जो प्रयास है, उसकी समस्त श्रेणियां प्रारम्भ से ही स्थायी रूप से यूनानियों द्वारा निर्मित हुई हैं। जब तक यूरोपवासी ऐतिहासिक जगत को जानने का प्रयत्न करते रहेगे तक तक यूनानी विचारों एवं धाराणाओं को अपनाकर ही यह सम्भव हो सकेगा। ''यूनानी राजनीतिक चिन्तन का महत्व राजनीतिक चिन्तन में किस हद तक है इसका अन्दाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि राजनीति विज्ञान का जनक या प्रणेता अरस्तू यूनान का ही एक महान मनीषी या चिन्तक था।

1अभ्यास प्रश्न -2

निर्देष- 1. नीचे दिये गये रिक्त स्थान में अपना उत्तर लिखे।

2. इकाई के अन्त में दिये गये उत्तर से मिलान कर अपने उत्तर की त्रुटियों को दूर करें।

1. यूनानी अपने चिन्तन में विष्वास (आस्था) को अधिक महत्व देते थे।

1. सत्य है/ 2. असत्य है

....
....

2. यूनानी राजनीतिक चिन्तन का केन्द्र बिन्दु कौन सी संस्था थी ?

....
....

3. यूनानी दार्शनिक व्यक्तिगत हित और सामुदायिक हित में ज्यादा महत्व देते थे -

(क) व्यक्तिगत हित को (ख) सामुदायिक हित को (ग) इनमें से किसी को नहीं

....
....

4. यूनानियों ने दास प्रथा का प्रबल समर्थन किया था।

1. सत्य है/ 2. असत्य है

....
....

1.6 सारांश

पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ यूनान से माना जाता है। सामाजिक व राजनीतिक उथल-पुथल को राजनीतिक सिद्धान्तों के निर्माण के लिए अपरिहार्य माना जाता है। यूनानी नगर राज्यों की राजनीतिक अस्थिरता ने निष्चित रूप से प्लेटो और अरस्तू जैसेदार्शनिकों को जन्म दिया। यूनान के लोगों में जिज्ञासा वृत्ति व विवेक की प्रधानता थी। इसलिए वह प्रत्येक चीज के बारे में जानने का प्रयास करते थे और तर्क-वितर्क व वाद-विवाद के माध्यम से सदैव अच्छा करने का प्रयास करते थे। उनका मानना था कि तर्क वह कसौटी है जो सत्य का अनुसंधान करने में महत्वपूर्ण सहयोग करता है। तर्क-वितर्क, वाद-विवाद के बिना किया गया कोई भी कार्य या संस्था समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होगा इस बात की भी निष्चित नहीं होगी।

यूनानी नगर राज्यों के शासन की विविधता ने उन्हे तुलनात्मक अध्ययन करने का अवसर प्रदान किया। जिससे इस बात का पता लगाया जा सकता था कि कौन शासन प्रणाली सर्वोत्तम है। अरस्तू ने अपनी पुस्तक 'पालिटिक्स' की रचना के पूर्व लगभग 158 देशों के संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन किया। तत्पष्चात् वह तात्कालिक यूनानी समाज (नगर-राज्यों) में व्याप्त समस्याओं का निराकरण करने के लिए ही अपने ग्रन्थ 'पालिटिक्स' की रचना की। अरस्तू के विचार कितने यथार्थवादी व व्यवहारिक थे यह इसी से सिद्ध है कि अरस्तू ने जितने भी विचार व्यक्त किये है केवल उसके दासता सम्बन्धी विचारों को छोड़कर शेष आज भी उतने ही प्रासंगिक हे जितने कि वे अरस्तू के समय में थे। यथार्थ चिन्तन पर आधारित होने के कारण ही अरस्तू की पुस्तक को राजनीति विज्ञान का प्रथम ग्रन्थ और अरस्तू को राजनीति विज्ञान का जनक कहा गया।

प्लेटो और अरस्तू के विचार तात्कालिक सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों एवं पूर्व के यूनानी दार्शनिकों के विचारों से प्रभावित थे और ये भावी राजनीतिक चिन्तन के स्रोत बने। इस प्रकार सम्पूर्ण पाश्चात्य राजनीतिक दर्शन का आरम्भ प्लेटो और अरस्तू के विचारों से होता है। कहा जाता है कि पष्चिमी राजनीतिक चिन्तन का प्रत्येक विचारक या तो प्लेटो का अनुयायी है या अरस्तू का। इस कथन में बहुत अधिक सच्चाई है क्योंकि आज भी राजनीति विज्ञान के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी बहुत कम चीजें है तो यूनानी विचारधारा के इन दोनों विचारकों के उत्कर्ष काल में नहीं थी अन्तर केवल इनके विस्तार का है। मूल रूप से प्रायः सारे तत्व पश्चिमी राजनीतिक चिन्तन के इन दिग्गजदार्शनिकों में मिल जाते है। इसलिए कहा जाता है कि राजनीतिक चिन्तन का ज्ञान प्राप्त करने की कोई कोषिष तब तक सार्थक नहीं होगी जब तक कि प्लेटो और अरस्तू (यूनानी चिन्तन) का ज्ञान प्राप्त न कर लिया जाय। यही वह आधार है जिसपर सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन का महल खड़ा दिखायी देता है। क्योंकि इनके पूर्व के जो भी विचार है वे या तो हमारे लिए अप्राप्य हो गये है या तो उनमें वह क्रमबद्धता नहीं है जो यूनानी चिन्तन में देखने को मिलती है।

1.7 शब्दावली

पाष्चात्य् - पश्चिमी जगत से सम्बन्धित

चिन्तन -किसी भी सिद्धान्त अथवा आचार के सारे आयामों के विषय में सोचना

दार्शनिक - व्यक्तिगत अनुभूत तथ्यों को व्यक्त करने वाला

संस्था -एक निष्चित उद्देश्य के प्राप्ति हेतु सक्रिय व्यक्तियों का समूह

अन्वेषण - ऐसी खोज जिसका पूर्व में कोई अस्तित्व न रहा हो

सभ्यता -किसी भी समाज अथवा राष्ट्र का आचरण

संस्कृति - किसी भी राष्ट्र अथवा समाज का भौतिक विवेक

जिज्ञासु -जानने की इच्छा शक्ति

नगर -व्यवस्थित तरीके से बनायी गयी सुसभ्य लोगों की वस्तियाँ

वाक्पटु -जो भाषण में चतुर अथवा निपुण हो

साम्राज्य - एक अधिनायकवादी क्षेत्र जिसकी सम्प्रभुता एक व्यक्ति अथवा सरकार ने हाथों में हो

आदर्श वाद -एक वैकल्पिक भौतिकवाद अथवा वैचारिकया काल्पनिक जगत में पूर्णता

यथार्थवाद- वास्तविक जगत से सम्बन्धित

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न-1

1. (क) यूनान में 2. (1) सत्य है 3. (2) असत्य है 4. पूर्व की ओर असीरिया और दक्षिण की ओर मिस्र

अभ्यास प्रश्न-2

1. (2) असत्य है 2. नगर-राज्य 3. (ख) सामुदायिक हित को 4. (1) सत्य है

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.डॉ.बी.एल. फाड़िया, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, साहित्य भवन पब्लिकेषन, आगरा।

2. डॉ. जे.सी. जौहरी, राजनीति विज्ञान, एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन, आगरा।

3. जे.पी.सूद, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (भाग प्राचीन एवं मध्यकालीन) के. नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ।

1.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. जीवन मेहता, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, 1985 साहित्य भवन आगरा।

1.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. यूनानी राजनीतिक चिन्तन के विकास की परिस्थितियों का विस्तृत उल्लेख कीजिए।

2. पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ सर्वप्रथम यूनान में क्यों हुआ।

3. यूनानी राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिये।

इकाई 2 : प्लेटो (428 ई0 पू0 -347 ई0 पू0)

इकाई की संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 प्लेटो का न्याय सिद्धान्त

2.4 प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त

2.5 पत्नियों और संपत्ति का साम्यवाद:

2.6 प्लेटो के आदर्श राज्य का स्वरुप

2.7 शासन एक कला है

2.8 दॅ लॉज प्लेटो का दूसरा सबसे अच्छा राज्य

2.9 सारांश

2.10 शब्दावली

2.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

2.14 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई १ में हमने यूनानी राजनीतिक चिंतन की विशेषताओं का ध्यायन किया है जिसमें उसके विविध पक्षों का अध्ययन किया है जिसमें यह जानने में सहायता मिली है कि किस प्रकार से पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का प्रारम्भ यूनान से माना जाता है। सामाजिक व राजनीतिक उथल-पुथल को राजनीतिक सिद्धान्तों के निर्माण के लिए अपरिहार्य माना जाता है। यूनानी नगर राज्यों की राजनीतिक अस्थिरता ने निष्चित रूप से प्लेटो और अरस्तू जैसेदार्शनिकों को जन्म दिया। यूनान के लोगों में जिज्ञासा वृत्ति व विवेक की प्रधानता थी। इसलिए वह प्रत्येक चीज के बारे में जानने का प्रयास करते थे और तर्क-वितर्क व वाद-विवाद के माध्यम से सदैव अच्छा करने का प्रयास करते थे। उनका मानना था कि तर्क वह कसौटी है जो सत्य का अनुसंधान करने में महत्वपूर्ण सहयोग करता है। तर्क-वितर्क, वाद-विवाद के बिना किया गया कोई भी कार्य या संस्था समाज के लिए उपयोगी सिद्ध होगा इस बात की भी निष्चित नहीं होगी। यूनानी नगर राज्यों के शासन की विविधता ने उन्हे तुलनात्मक अध्ययन करने का अवसर प्रदान किया। जिससे इस बात का पता लगाया जा सकता था कि कौन शासन प्रणाली सर्वोत्तम है।

इसी क्रम में हम इस इकाई २ में यूनानी राजनीतिक चिंतन के प्रारंभिक विचारकों में अति महत्वपूर्ण प्लेटो के विचारों का अध्ययन करेंगे जिसमे उन्होंने अपने समय के अनुकूल जिस सामाजिक राजनीतिक ढाँचे की रूपरेखा प्रस्तुत की है उसका अध्ययन करेंगे | इस अध्ययन से हमें इसके आगे के पाश्चात्य राजनीतिक चिंतकों को भी समझने की दृष्टि भी प्राप्त होगी |

2.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात हम -------

1.प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के बारे में जान सकेंगे |

2.प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त के बारे में जान सकेंगे |

3.प्लेटो के साम्यवादी सिद्धान्त के बारे में जान सकेंगे |

4.प्लेटो के आदर्श राज्य को जान सकेंगे

2.3 प्लेटो का न्याय सिद्धान्त

प्लेटो का न्याय सिद्धान्त उसके दर्शन की आधारशिला है। प्लेटो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुकूल अपने कार्यो को कुशलता एवं सन्तोष भावना से करे, प्लेटो इसे न्याय की संज्ञा देते है। आज हम न्याय को जिस कानूनी परिप्रेक्ष्य में देखते अथवा मानते है, प्लेटो का मत इससे भिन्न था। आज हम लोग न्याय का अर्थ कानूनों द्वारा नागरिकों को दिये गये अधिकार कानूनों द्वारा नागरिकों के वाहय सम्बन्धों का निर्धारण अथवा न्यायलयों द्वारा नागरिकों के ऐसे अधिकारों की रक्षा करने से लगाते है। विद्वानों का मत है कि न्याय एक समन्वयकारी सिद्धान्त है जो कि स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुत्व के आदर्शो के बीच नागरिकों के हितार्थ समन्वय स्थापित करता है। किन्तु प्लेटो की न्याय की धारणा इससे अलग है प्लेटो जिसे हम नैतिकता कहते है, को सच्चा न्याय मानते है। प्लेटो का न्याय सिद्धान्त व्यक्तिगत नैतिकता तथा सामाजिक नैतिकता का सिद्धान्त है विधि का सिद्धान्त नहीं।

प्लेटो राज्य के विकास का वर्णन करते हुए उसमें "आर्थिक तत्व, सैनिक तत्व तथा दार्शनिक तत्व" तीन प्रकार तत्व का वर्णन करता है, और इसी के आधार पर राज्य में तीनों वर्गो के विकास का वर्णन करता है। समाज के विकास क्रम में उसकी आवश्यकताओं के अनुकूल तीन वर्गो की उत्पत्ति होती है।

ये तीन वर्ग है उत्पादक वर्ग सैनिक वर्ग एवं शासक वर्ग। प्लेटो कहता है कि उत्पादक वर्ग आर्थिक तत्व का सैनिक वर्ग साहस वर्ग का शासक वर्ग दार्शनिक तत्व का प्रतिनिधित्व करते है। वास्तव में राज्य के ये तीनों वर्ग मनुष्य की आत्मा में अन्तर्निहित क्षुधा साहस तथा ज्ञान के सूक्ष्म तत्वों के विशद रुप है। प्लेटो के अनुसार मानवीय आत्मा के तीन प्रधान तत्व क्षुधा साहस तथा विवेक मानता है। मनुष्य के विराट रुप राज्य राज्य में भी ये तीन तत्व पाये जाते है। राज्य में क्षुधातत्व का प्रतिनिधित्व करने वाला उत्पादक वर्ग है, जिसका एक मात्र कार्य समाज के लोगों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्तिकरना है। राज्य में साहस तत्व का प्रतिनिधित्व करने वाला सैनिक वर्ग है। जिसका एक मात्र कार्य राज्य की रक्षा करना है। राज्य में विवेक अथवा दार्शनिक तत्व का प्रतिनिधित्व शासक वर्ग करता है। दार्शनिक वर्ग का कार्य राज्य का समुचित शासन करना है।

प्लेटो मनुष्य की आत्मा के तीन गुणों की विस्तृत व्याख्या करता है तथा इनका राज्य के तीन वर्गो के साथ सम्बन्ध की बात करता है। आत्मा के तीन तत्वों तथा राज्य के तीन तत्वों में अन्त सम्बन्धों को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

व्यक्ति	राज्य (व्यक्ति का विराट रुप)
व्यक्ति की आत्मा में पाये जाने वाले तत्व	राज्य में पाये जाने वाले तीन वर्ग
1.क्षुधा (वासना)	1.उत्पादक वर्ग
2.साहस	2.सैनिक वर्ग (सहायक अभिभावक वर्ग)
3.विवेक	3.शासक वर्ग

मनुष्य की आत्मा के तीन तत्वों का निरुपण कर प्लेटो इन तत्वों का सम्बन्ध समाज में पाये जाने वाले तीन तत्वों और उनका प्रतिनिधित्व करने वाले वर्गो के साथ जोड़ता है। इस धारणा में प्लेटो का न्याय का सिद्धान्त निहित है। प्लेटो के अनुसार न्याय के दो पक्ष होते है एक व्यक्तिगत न्याय तथा सामाजिक न्याय जब मनुष्य की आत्मा के तीन तत्व अपने अपने निर्धारित कर्मो को करते हैं और इस क्रम में जब क्षुधा वासना पर साहस और विवेक का नियन्त्रण हो तथा जब साहस विवेक के निर्देशन में कार्य करे व्यक्ति के लिए यही न्याय है। प्लेटो के अनुसार व्यक्तिगत न्याय वह है जब व्यक्ति की वासना पर साहस विवेक का तथा साहस पर विवेक का अनुशासन हो। और सामाजिक न्याय वह है जब समाज के तीनों वर्ग अपने अपने कर्तव्यों का पालन करें जब कृषक उत्पादन का कार्य करें। सैनिक देश की रक्षा करें और दार्शनिक शासक के आदेशों का पालन करें और जब दार्शनिक शासक शासन का संचालन करे, और शासक वर्ग की सर्वोच्चता अन्य वर्गो पर रहे, प्लेटो की मान्यतानुसार यही सामाजिक न्याय है।

प्रत्येक वर्ग का सम्पूर्ण दक्षता से अपने निश्चित कर्तव्य को करना तथा दूसरे वर्ग के कार्यो में हस्तक्षेप न करना ही प्लेटो की परिभाषा में सामाजिक न्याय है। जिस प्रकार व्यक्ति के जीवन में क्षुधा तथा साहस का संचालन विवेक तत्व से करना न्याय है, उसी प्रकार क्योंकि राज्य अन्ततोगत्वा मन की ही उपज है, राज्य में यही न्याय है। प्लेटो के अनुसार प्रत्येक वर्ग द्वारा अपने सुनिश्चित कार्यो को कुशलतापूर्वक करना ही सामाजिक न्याय है।

न्याय का वास्तविक रुप

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर प्लेटो की न्याय की धारणा के वास्तविक स्वरुप को निम्नलिखित रुप में स्पष्ट किया जा सकता है।

1. प्लेटो की मान्यता है कि मनुष्य को जन्म से ही कुछ योग्यतायें प्रकृति द्वारा प्राप्त होती है। अतः व्यक्ति को केवल उसी योग्यता के अनुसार अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। समाज के प्रत्येक व्यक्ति तथा वर्ग द्वारा अपने निश्चित कर्मी की कुशलता से करना ही न्याय है। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में व्यक्ति के अधिकारों पर नहीं कर्तव्यों पर बल दिया गया है।

2.प्लेटो के अनुसार न्याय वैयक्तिक तथा सामाजिक नैतिकता का सिद्धान्त है। अतः प्लेटो का न्याय सामाजिक शुभ की प्राप्ति का नैतिकता का मार्ग है।

3. प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में श्रम विभाजन अहस्तक्षेप तथा कार्यो की विशेषज्ञता के तत्व निहित है।

4. प्लेटो का न्याय सिद्धान्त सामाजिक एकता पर बल देता है। एथेन्स राज्य के विभिन्न बंटे हुए वर्गो में एकता और सामाजिक समरसत्ता स्थापित करना प्लेटो का लक्ष्य था जिसकी पूर्ति का साधन न्याय है।

5. प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का तार्किक परिणाम विवेक की सर्वोपरिता है। इस सिद्धान्त के पीछे सुफरात से प्राप्त प्लेटो की यह मान्यता है कि ज्ञान ही सदगुण हैं दार्शनिक शासक ज्ञान की प्रतिमूर्ति है अतः राज्य में दार्शनिक शासक का विवेक का, शासन होना चाहिए।

न्याय सिद्धान्त की आलोचना

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का अध्ययन करने से उसकी कुछ दुबलाऐं भी प्रकट होती है जो इस प्रकार है-

1. प्लेटो की न्याय की धारणा अत्याधिक निष्क्रिय है किसी प्राकृतिक गुण की क्षमता के नाम पर व्यक्ति को जीवन पर्यन्त निश्चित स्थान पर अपने कर्तव्यों का पालन करने के लिए बाँध दिया जाता है। उस निश्चित स्थान से आगे बड़ने अथवा उपर उठने की इस व्यवस्था में कोई गुंजाइश नहीं है।

2. व्यक्तियों की इच्छाओं के संघर्ष अथवा टकरावों का समाधान करने की न्याय सिद्धानत में कोई व्यवस्था नही है।

3. प्लेटो का न्याय सिद्धान्त विधि और नैतिकता के बीच की विभाजक रेखा को धूमिलकर देता है। प्लेटो के न्याय के नाम पर नैतिक कर्तव्यों को तथा कानूनी दायित्व को एक ही मान लिया है।

4. प्लेटो व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का निराकरण करने तथा सामाजिक एकता के लक्ष्य की प्राप्ति के नाम पर अत्यधिक एकीकरण व्यवस्था की बात करता है।

पॉपर नामक विद्धान्त, प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में सर्वसत्तावादी समाज के बीज ढूंढता है। वह कहता है कि प्लेटो के समाज में विवेक के नाम पर एक वर्ग विशेष का शासन थोपा जाता है। पॉपर के अनुसार प्लेटो की न्याय की परिभाषा के पीछे आधारभूत स्तर पर एक 'एक सर्वसत्तावादी वर्ग का शासन' की मांग है। प्लेटो का समाज तीन वर्गो की असमानताओं पर टिका हुआ है जिसमें समानता का कोई स्थान नहीं है। लेकिन अन्त में बार्कर का मत है कि ''प्लेटो का राजनीतिक सिद्धान्त इस नैतिक सावयव का सिद्धान्त है और उसका न्याय सिद्धान्त ऐसी नैतिकता की संहिता है। जिसके द्वारा वह समाज में जीता है।

2.4 प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त

दार्शनिक द्वारा राज्य का शासन व्यापक शिक्षा के जरिए ही संभव था और यह समक्ष गया कि सही शिक्षा के जरिए ही संभव था और यह समझा गया कि सही शिक्षा के जरिए ही यह सफल हो सकता है। प्लेटो शिक्षा को नैतिक सुधार के जरिए मानव को बदलने का हथियार समझते थे। शिक्षा दूसरों की ओर निःस्वार्थ सेवा भावना भरकर बेहतर होती है और नए समाज का निर्माण होता है। प्लेटो ने इसे गंभीरता से लेते हुए इस पर विस्तृत विचार किया है।

शिक्षा योजना एवं पाठयचर्या का स्वरुप

प्लेटो की शिक्षा योजना के दो स्तर है 'प्रारम्भिक शिक्षा' तथा 'उच्च शिक्षा'। प्लेटो कहता है कि शिक्षा आयु के अनुरुप होनी चाहिए जैसे कि बाल्यावस्था में बालक को प्रयोगात्मक शिक्षा देनी चाहिए। प्रारम्भिक शिक्षा का उद्देश्य भावनाओं को परिष्कृत करके चरित्र का निमार्ण करना है। यह शिक्षा सैनिक वर्ग को तैयार करने की है। प्लेटो की शिक्षा का सम्बन्ध केवल सैनिक वर्ग और दार्शनिक वर्ग की शिक्षा से है। प्लेटो की शिक्षा योजना में सैनिक वर्ग में साहस जागृत करना है तथा पूर्ण संरक्षको के लिए शिक्षा का उद्देश्य उन्हें विज्ञान और दर्शन का अध्ययन करना है जिससे कि इनमें 'विवेक' का जागरण हो।

प्रारम्भिक शिक्षा

प्लेटो ने सलाह दी कि शिक्षा को राज्य द्वारा नियन्त्रित होना चाहिए। प्राथमिक शिक्षा को 18 वर्ष की आयु तक संरक्षक वर्ग तक सीमित होना चाहिए। उसके बाद दो वर्षो की अनिवार्य सैनिक शिक्षा होनी चाहिए और इनमें

क्षमतावान को उच्चतर शिक्षा मिलनी चाहिए। जहाँ प्राथमिक शिक्षा हमें आस पास के वातावरण के प्रति संवेदी बनाती है, वहीं उच्चतर शिक्षा सच्चाई की खोज में सहायता करती है। प्राथमिक शिक्षा सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अनुभव विकसित करती है, नैतिक और सौन्दर्य शास्त्रीय निर्णय में मदद करती है और शरीर को स्वस्थ और मजबूद बनाती है।

लड़के लड़कियों को समान शिक्षा मिलनी चाहिए तथा शारीरिक अन्तर को छोड़कर प्लेटो को उनकी क्षमता में कोई अन्तर दिखायी नहीं देता। दोनों की क्षमताएं भी समान होती है। इस प्रकार उन्होंने प्राचीन यूनान में स्त्री की गौण स्थिति की सुक्ष्म आलोचना की।

प्राथमिक शिक्षा में संगीत और व्यायाम शामिल थे ताकि व्यक्ति के नम्र और कठोर पक्षों को मिलाकर एक समन्वयपूर्ण वयक्ति का निर्माण हो। शारीरिक शिक्षा भावनाओं और इच्छाओं को स्थिरता प्रदान करके मस्तिष्क के लिए शरीर को तैयार करती है। संगीत तर्क की छिपी शक्ति को विकसित कर भावना को नम्र बनाती थी। कविता और संगीत तथा कला सही काम करने का रुझान पैदा करते थे। इससे हर व्यक्ति बिना अतिवादी बने अपना काम करता।

प्लेटो ने संरक्षक वर्ग में आवश्यक गुणों के विकास के लिए साहित्य और संगीत पर पाबंदी लगाने का सुझाव दिया ताकि उनमें हानि कारक प्रभावों से बचा जा सके। प्लेटो ने जोर दिया कि बच्चों की मृत्यु से नहीं डराना चाहिए नहीं तो युद्धभूमि में वे साहस का प्रदर्शन नहीं कर पाएगें। बच्चों को देवताओं और महान व्यक्तियों की कहानियां बतायी जानी चाहिए ताकि उनका नैतिक विकास हो सके। प्लेटो युवक के जीवन से हर तरह की बुराई और कुरुपता दूर रखना चाहते थे।

सही गुणों में प्रशिक्षण वर्ग के सम्पूर्ण सदस्य निर्मित करेगा इस प्रकार के उम्र के साथ सही व्यवहार विकसित होगा। कला में शिक्षा के बाद दो वर्ष सैनिक शिक्षा दी जाएगी अपव्यय और बर्बादी पर पाबंदी लगाकर आत्मा को मजबूत किया जाएगा। प्लेटो ने एथेनियन व्यवहार पर जोर दिया था उसके तहत सत्रह अठारह से बीस वर्ष की आयु के बीच सैनिक सेवा अनिवार्य थी प्राथमिक शिक्षा इन लोगों को मजबूत कर सहायक सेना का निर्माण करेगी।

उच्चतर शिक्षा

बीस वर्ष की आयु में सबसे अच्छे व्यक्तियों को उच्च शिक्षा दी जाएगी। इसमें गणित, रेखागणित, खगोल विद्या और संगीत शामिल होगा। गणित शुद्ध सच्चाई की खोज में शुद्ध बुद्धि का प्रयोग है। प्लेटो की दृष्टि में सच्चाई विचार में न कि विशेष वस्तुअें में बसती है। इस दार्शनिक महत्व के अलावा गाणित का व्यावहारिक महत्व भी है अर्थात सठंया का ¬प्रयोग योद्धाओं को अंको का प्रयोग जानना जरुरी है ताकि सेवाओं की व्यूह रचना कर सके। खगोल शास्त्र अन्तरिक्ष पिंडो के अवलोकन तक सीमित नही है और संगीत कानों द्वारा विशेष स्वर ताल सुनने तक, बल्कि दोनों ही संवेदनाओं से मस्तिष्क को उपर उठाते है और तर्कशक्ति बढ़ाते है। उच्चतर शिक्षा मुक्त बौद्धिक अनुसंधान की भावना का विकास करती है।

जो बुद्धिवादी श्रेणी में नही आते है वे सैनिक बनकर शासक तबके की दूसरी शक्ति बनाते है। उच्चतर शिक्षा का प्रथम चरण दस वर्षो तक चलेगा और उनके लिए होगा जिनका विज्ञान की ओर झूकाव है। तीस वर्ष की आयु में एक ओर चुनाव होगा। जो क्षमता रखते है वे डाइलैक्टिस्स या पराभौतिक तर्क और दर्शन का अगले वर्षो तक अध्ययन करेगें। वे अच्छाई के विचार और अस्तित्व के प्रथम सिद्धान्तों का अध्ययन करेगें। उन्हें शासन का

आंशिक अनुभव होगा। वे सैनिक और राजनैतिक जीवन में पैंतीस वर्ष की आयु तक सहायक पदों पर रहेंगे। यह अगले पंद्रह वर्षो तक चलेगा। दार्शनिक 50 वर्ष की आयु तक पूरी तरह तैयार हो जायेगा। वह अपने समय का अधिकांश हिस्सा राजनैतिक जिम्मेदारियों के साथ दर्शन में लगाएगा। चूंकि वह अच्छाई का विचार आत्मसात कर लेगा इसलिए समुदाय की भलाई करने के लायक हो जायेगा। चूंकि प्लेटो ने शासन को वैज्ञानिक प्रशिक्षण का नतीजा बनाना चाहा, उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि सच्चे ज्ञान वाले लोग ही अच्छे शासक बन सकते है।

प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त का मूल्यांकन

प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त एक ओर सामाजिक दायित्वों को निपुणता से पूरा करने वाली व्यक्तियों एवं वर्गो के प्रशिक्षण की योजना है दूसरी ओर व्यक्ति को उसके तत्व ज्ञान का ज्ञान करा उसे नैतिक और विद्धान बनाने की है। हम कह सकते है कि प्लेटो की शिक्षा प्रणाली नागरिकों के समाजीकरण की विधि है जिसके द्वारा व्यक्ति को राज्य के निर्धारित उद्देश्य के अनुरुप ढाला जा सके। प्लेटो कहते है कि यदि व्यक्ति को अच्छी शिक्षा दी जाती है तो उसका प्रभाव राज्य की उन्नति पर भी पड़ता है और गलत शिक्षा का विपरित असर पड़ेगा और राज्य में उन्नति की बजाय अवनति होगी।

लेकिन प्लेटो की शिक्षा में गुण के साथ कुछ दोष भी है। सबसे बड़ा दोष यह है कि प्लेटो की शिक्षा समाज के दो वर्गो सैनिक तथा दार्शनिक शासकों के लिए है। समाज के बहुसढंयक उत्पादक वर्षो को इसके लाभों से वंचित रखा गया है। दूसरा कला और साहित्य के मूल पर कुठाराघात किया है। क्योंकि उसके कलेवर और स्वरुप पर राज्य का नियन्त्रण थोप दिया जाता है। कला सृजनात्मक रुप तभी निखरता है जब वह राज्य के प्रतिबन्धों से मुक्त हो। इस अधार पर प्लेटों को फासीवादी विचारों का प्रर्वतक भी कहा गया है। तीसरा व्यक्तित्व के विकास लिए शिक्षा के क्षेत्र में जहाँ विषयों की विविधता का होना जितना आवश्यक है उतना ही व्यक्ति की रूचि की विविधता का होना भी नितान्त आवश्यक है। प्लेटो की योजना में व्यक्ति की शिक्षा के लिए स्वरुचि की विविधता के अवसर नहीं है।

2.5 पत्नियों और संपत्ति का साम्यवाद:

प्लेटो के अनुसार समाज में इस बात का जोर था क्षमतावान समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने रुझान के अनुरुप कार्य के लिए तैयार करना, पत्नियों और सम्पत्ति के साम्यवाद का उद्देश्य था भ्रष्टाचार, दुर्घटना, पारिवारिक सम्बन्ध, आनुवांशिकता और धन सामाजिक स्थान के लिए मानदंण्ड नहीं बने।

प्लेटो ने संरक्षक वर्ग के लिए निजी सम्पत्ति और निजी परिवार समाप्त कर दिया क्योंकि इससे भ्रष्टाचार, पक्षपात, व्यक्तिवाद, गुटबाजी और दूसरी ऐसी भ्रष्ट आदतें पैदा होती है जो शासकों के बीच पाई जाती है राजनीति का अर्थ व्यक्तिगत बढावा नहीं बल्कि सामूहिक भलाई करना था। इस प्रकार प्लेटो ने शासन और शासकों के लिए उच्च मानदंण्ड स्थापित किए।

प्लेटो कहता है कि संरक्षक वर्ग के लोग बैरकों में सामान्य सैनिकों के समान रहे उनके पास सोना या चांदी न रहे और आवश्यकतानुसार वे एक छोटी सी सम्पत्ति ही रखे। समाज के किसी भी वर्ग के लोग मकान या भंडारधार अर्थात अपनी निजी सम्पत्ति की कोई जगह नही होनी चाहिए। वे उत्पादक वर्ग की ओर से सिर्फ एक नियत कोटा पाएंगे जो उनकी जीविका के लिए आवश्यक होगा।

प्लेटो की योजना इस पाइथगोरसवादी मान्यता पर आधारित थी कि स्त्री और पुरूष प्राकृतिक स्वभाव और क्षमताओं में समान थे। प्लेटो स्त्रियों को विधायक और शासक बनाना चाहते थे। उनके सिद्धान्त में दो विचार प्रमुख थे परम्परागत विवाह का सुधार और स्त्री मुक्ति। इसके लिए प्लेटो ने स्थायी विवादों और निजी परिवारों के विलयन का प्रस्ताव रखा। यह सिर्फ संरक्षको को स्त्रियों तक सीमित था।

प्लेटो विवाह को आध्यात्मिक मिलन या प्रेम या आपसी आदर पर आधारित मानने से इकार कर दिया। लेकिन प्लेटो मानते है कि समाज तथा मानव जाति की निरन्तरता के लिए विवाह अति आवश्यक है। इसलिए प्लेटो ने सन्तानोत्पत्ति के लिए अस्थाई यौन सम्बन्धों की वकालत की। उन्होने स्त्रियों को बच्चो के लालन पालन की जिम्मेदारी से मुक्त का दिया। प्लेटों ने प्रस्ताव रखा कि यौन सम्बन्धों का कठोरता से नियमन किया जाए ताकि सबसे अच्छे और स्वस्थ मनुष्य राज्य के हितों में तैयार किए जा सके।

प्लेटो के अनुसार दोनों लिंगों के सबसे अच्छे व्यक्तियों के अधिकाधिक सम्बन्ध होने चाहिए और निम्न गुण के लोगों के सम्बन्ध कम से कम होने चाहिए। इस बात की जानकारी शासकों को होनी चाहिए कि यह कैसे सम्भव हो।

प्लेटों ने विवाह के लिए आदर्श उम्र पुरूषों में 25 से 55 और स्त्रियों में 20से 40 रखी। उन्होने माता और पुत्र, पिता और पुत्री के बीच समबन्धों पर पाबन्दी लगा दी। स्थाई वैवाहिक समबन्धों को समाप्त करने का उद्देश्य यौन उच्च श्रृखला को बढ़ावा देना नहीं था बल्कि समुदाय की भलाई करना था। अवैध बच्चों के सम्बन्ध में गर्भपात का सुझाव था अर्थात ऐसे बच्चों जिनकी अनुमति राज्य नहीं दी है या जो अनुमति से अधिक उम्र के व्यक्तियों के बीच सम्बन्धों से जनित हों।

राज्य द्वारा निर्मित और प्रशसित नर्सो के द्वारा बच्चों की देखभाल की जाती है। अभिभावक और बच्चे भी आपसी सम्बन्धों के बारे में नहीं जानते। इसके पीछे जो उद्देश्य था वह कि बच्चे सभी व्यस्कों के प्रति सम्मान का वह स्तर रखे जो अपने पिता के साथ होता है। इसी प्रकार सभी वयस्क बच्चों को उसी तरह प्यार करें मानों वे अपने बच्चे हों। प्लेटो ने जन्म को बहुत कम महत्व दिया और प्लेटो के अनुसार क्षमता आनुवांशिक नहीं होती है। क्षद्म विवाहों, नियंत्रित लाटरी और चुने हुए यौन सम्बन्धों के जरिए उच्च क्षमता वाले व्यक्ति तैयार किये जाते है।

आलोचनात्मक मूल्यांकन

प्लेटो के इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष है कि वे परिवार और विवाह सम्बन्धी मानवीय भावनाओं का ध्यान नहीं रखते फिर शुरुआती समाजवादियों ने इस सिद्धान्त का समर्थन किया। प्लेटो ने जोर दिया कि सम्पत्ति के प्रति निर्भव राज्य के कल्याण के लिए जरूरी था। अपनी सम्पत्ति से अधिक लगाव राज्य की एकता और नैतिकता के लिए हानिकारक था। इससे भ्रष्टाचार पैदा होगा। और राज्य विभाजित हो जाएगा प्लेटो राजनीति में आर्थिक कारकों की भूमिका को समझने वाले प्रथम थे। दूसरा दोष है प्लेटो ने सामाजिक वर्ग परिवार और सम्पत्ति की इजाजत दी, लेकिन संरक्षकों के कठोर नियंत्रण में जो किसी प्रकार व्यावहारिक नहीं है।

प्लेटो का साम्यवाद सादा था जैसा कि धर्म स्थलों के जीवन में पाया जाता है। कई उन्हें आधुनिक समाजवाद के संस्थापक भी मानते है। साम्यवाद सम्पत्ति के सामूहिक स्वामित्व से बढ़कर था। इसमें शोषण और दमन से मुक्त एक ऐसे समाज की कल्पना थी जो न्याय बराबरी, आजादी और जनतंत्र पर आधारित था।

2.6 प्लेटो के आदर्श राज्य का स्वरुप

आदर्श राज्य की कल्पना प्लेटो की अत्यन्त मौलिक धारणा है। प्लेटो के समय एथेंन्स में व्यक्तिगत स्वार्थपरता का बोलबाला था, सामाजिक एकता का अभाव था गैर राजनीतिक लोगों का राजनीति में हस्तक्षेप था। एथेन्स की इन दुर्बलताओं ने प्लेटो को आदर्श राज्य की रुपरेखा प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया। प्लेटो ने तात्कालीन समस्याओं को ध्यान में रखते हुए कार्य विशेषीकरण के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

आदर्श राज्य के आधारभूत सिद्धान्त

प्लेटो का आदर्श राज्य जिन सिद्धान्तों और तत्वों पर टिका हुआ है वे मूल सिद्धान्त निम्नलिखित है-

1. न्याय राज्य की आधारशिला:- प्लेटो के आदर्श राज्य की आधारशिला 'न्याय' है। प्लेटो कहता है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति तथा प्रत्येक वर्ग अपने नैसर्गिक गुणधर्म द्वारा निश्चित कार्य को कुशलतापूर्वक करे तथा दूसरों के कार्यो में हस्तक्षेप न करते हुए अपने कार्य को करे, यही न्याय है। आत्मा के तीन गुणों विवेक साहस और क्षुधा के अनुकूल समाज में दार्शनिक शासक सैनिक तथा कृषक वर्गो का अस्तित्व रहता है। समाज के ये तीनों वर्ग जब अपने कर्तव्यों का पालन करेगें तभी समाज में सामजस्य स्थापित होगा, कार्यकुशलता बढेगी और समाज ठीक प्रकार से चलेगा। इन्हीं सभी गुणों को प्लेटो ने न्याय के गुण के नाम से सम्बोधित किया है संक्षेप में, न्याय प्लेटो के आदर्श राज्य का मूल तत्व है।

2. कार्य विशिष्टीकरण के लिए शिक्षा योजना:- प्लेटो की धारणा है कि शिक्षा के सशक्त रचनात्मक साधन द्वारा व्यक्ति को समाज के आदर्शो एवं कार्यो के अनुकूल ढाला जा सकता है समाज के अन्य वर्गो के लिए तो शिक्षा महत्व है ही फिर भी दार्शनिक शासक के निमार्ण में उसकी महती भूमिका है। दार्शनिक राजा का निमार्ण कसा प्लेटो के दर्शन का अन्तिम लक्ष्य है। प्लेटो यूनानी परम्परा के अनुसार शिक्षा को नागरिक चरित्र निर्माण का प्रबल साधन मानता है प्लेटो के अनुसार शिक्षा राज्य के नियन्त्रण में रहेगी। शिक्षा व्यवस्था अपने विशुद्ध रुप में अनवरत चलती रहे, इसके लिए उसने दार्शनिक शासकों को दायित्व भी सौपा है कि वे राज्य की शिक्षा व्यवस्था को उसी प्रकार बनाये रखे जैसे उन्हे विरासत में प्राप्त हुई है। व राज्य की शिक्षा व्यवस्था में किसी प्रकार के परिवर्तन नहीं आने दें। स्पष्ट है कि एक विशेष प्रकार की शिक्षा प्रणाली प्लेटो के आदर्श राज्य का अविभाज्य अंग है।

3. दार्शनिक शासकों की निरकुंशता विधिका लोप:- प्लेटो के दर्शन का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि प्लेटो के आदर्श राज्य में विधि और जनमत की अपेक्षा की गयी है। प्लेटो के आदर्श राज्य में लिखित कानून का लोप है क्योंकि प्लेटो की यह धारणा है कि स्वंय दार्शनिक शासन कानून की जीवित प्रतिमूर्ति है। उसका ज्ञान ही सर्वोपरि है। किन्तु एक बात याद रखने योग्य है कि प्लेटो का दार्शनिक शासक कानून के अकुंश से मुक्त हुए भी अत्याचारी की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। वह स्वेच्छाचारी शासक नहीं है। न तो वह आततायी है और न प्रजा उत्पीड़क वास्तव में प्रजा का पालन कर्ता है। इस प्रकार यह थोड़े से दार्शनिक शासकों का शासन होने से ज्ञानवानो का अल्पतन्त्र है। उपरोक्त के अध्ययन के बाद हम कह सकते है कि प्लेटो के आदर्श राज्य का अत्यावश्यक तत्व दार्शनिक राजा की अवधारणा है।

4. शासक वर्ग के लिए साम्यवादी सामाजिक व्यवस्था:- जब हम प्लेटो के साम्यावादी धारणा का अध्ययन करते है तो पाते है कि प्लेटो शासक वर्ग पूर्ण अभिभावक तथा सैनिक वर्ग के लिए साम्यवादी व्यवस्था को नितान्त

आवश्यक मानते है प्लेटो के अनुसार शासक वर्ग के लिए न तो कोई कुटुम्ब होगा और न ही सम्पत्ति की व्यवस्था अच्छे पुरूषों का सम्बन्ध समाज की उच्च स्तर की स्त्रयों के साथ बने ऐसा राज्य का कर्तव्य है। उससे समाज अच्छे लोगो की उत्पत्ति होगी। साम्यावादी व्यवस्था भी प्लेटो में आदर्श राज्य की एक विशिष्ठता है।

2.7 शासन एक कला है

प्लेटो मानता है जिस प्रकार भवन निमार्ण या चित्र कला एक योग्यता वाली कला है उसी प्रकार शासन करने की भी एक रचनात्मक कला है। अतः शासन उन्हीं व्यक्तियों को करना चाहिए जो इस क्षेत्र में निपुणता रखते है। इस प्रकार हम कह सकते है कि प्लेटो ने आदर्श राज्य में शासन का एकाधिकार शासन के कलाकार दार्शनिक राजा को सौपा है। प्लेटो मानता है कि जिस प्रकार शिल्पी की कला की सामग्री सीमित होती है जबकि दार्शनिक कलाकार की निमार्ण सामग्री असीमित है सम्पूर्ण मानव और सम्पूर्ण ब्रह्मण्ड दार्शनिक की कला की निर्माण सामग्री है। अतः प्लेटो ने सच ही कहा है कि शासन एक कला है। अतः शासन करने का उन्हीं लोगों को अधिकार है जिन्हे इस कला का पूर्ण ज्ञान है।

2.8 द लॉज: प्लेटो का दूसरा सबसे अच्छा राज्य

दॅ लॉज में प्लेटो ने दूसरे सबसे अच्छे राज्य की बात की शायद यह सरकार कि उनको दार्शनिक आदर्श राज्य हासिल नहीं किया जा सकता क्योंकि वह शिक्षा पर अत्यधिक आधारित था और कानून की उपेक्षा करता था। अर्थात द लॉज में उन्होंने राज्य के सम्बन्धों में कानून की स्थिति का विश्लेषण किया। कानून राज्य और प्रजा दोनों पर लागू था। प्लेटो कहता है कि नगर में 5040 परिवार होने थे और प्रत्येक परिवार के पास निश्चित भूमि का क्षेत्र होता था। सबसे लायक बच्चे को जमीन मिलती थी और अतिरिक्त बच्चों को उन परिवारों को देदिया जाता था जिनमें सदस्यों की संख्या कम थी। नगर की जनसंख्या बढ़ने पर नए स्थान पर जाने की योजना थी। प्रत्येक व्यक्ति 35 वर्ष की आयु तक विवाह कर लेता अन्यथा उसे वार्षिक दण्ड या टैक्स देना पड़ता।

द लॉज में आर्थिक असमानता के बुरे नतीजे दूर करने की बात कही गई है। धन को निरन्तर स्थान दिया गया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी व्यक्ति उत्तराधिकार में जितनी सम्पत्ति पाता था उससे केवल वो चार गुणा सम्पत्ति अपने पास रख सकता था। यदि कोई व्यापार या दूसरे तरीके से अधिक सम्पत्ति अर्जित करता था। तो उसे जनकोष में जमा कर दिया जाता था। सभी नागरिक अपनी अपनी सम्पत्ति एक जन संस्था में रजिस्टर करें

प्लेटो कहता है कि श्रम विभाजन में गुलाम खेती करते थे ऐसे व्यक्ति जो नागरिक नहीं थे व्यापार और नागरिक पूरी तरह राजनैतिक कार्य में लगे रहते थे। अर्थतन्त्र और राजकीय ठाँचे में मिश्रित संविधान लागू होता था। सैनिक सेवा के लायक लोग कानून के संरक्षकों के लिए मतदान करते थे।

द लॉज में भी प्लेटो ने शिक्षा की निर्णायक स्थिति पैदा की कानून के संरक्षक स्त्रियों की एक समिति चुनते जिनका काम था समझा बुझाकर जनसंख्या नियंत्रण के लिए विवाह कानूनों का नियमन करना। बच्चे नहीं होने पर दस साल बाद तलाक दिया जा सकता था। कुछ सदस्य बच्चों की देखभाल

करते थे। बच्चों की शिक्षा तीन वर्ष की आयु से शुरु होकर 6 वर्ष की आयु तक प्रशिक्षण दिया जाता था। छः वर्ष के बाद लड़के व लड़कियों को अलग कर दिया जाता था। लेकिन दोनों के शिक्षकों द्वारा राज्य की शिक्षा दी जाती थी। इन शिक्षकों का वेतन राज्य देता था।

प्लेटो ने संगीत और व्यायाम पर जोर दिया। साहित्य और कला पर कठोर पाबंदी, स्त्रियों के लिए समान शिक्षा और सभी के लिए अनिवार्य शिक्षा पर जोर दिया। उन्होने धर्म पर अधिक ध्यान दिया, उसे राज्य के नियंत्रण में रखा और किसी भी प्रकार की निजी धार्मिक शिक्षा पर पाबंदी लगाई एवं पूजा पाठ राज्य द्वारा अधिकृत पादरी ही कर सकते थे। वे धर्म द्वारा अव्यवस्था फैलाने, महिलाओं और धर्मान्धों पर उनका प्रभाव खत्म करने और नैतिक व्यवहार के पक्ष में धर्म का प्रयोग करने के हक में थे। उन्होंने नास्तिकों के लिए मृत्यूदंण्ड की सलाह दी।

अभ्यास प्रश्न

1.प्लेटो ने दूसरे सबसे अच्छे राज्य की बात अपने किस पुस्तक में की ?

2.प्लेटो ने संगीत और व्यायाम पर जोर दिया | सत्य /असत्य

3.प्लेटो के अनुसार आदर्श राज्य में जनसंख्या कितनी हो ?

4.प्लेटों ने पुरूषों में विवाह के लिए आदर्श उम्र कितनी बताई है ?

5.प्लेटों ने स्त्रियों में विवाह के लिए आदर्श उम्र कितनी बताई है ?

6.प्लेटो के अनुसार आत्मा में कितने गुण होते हैं ?

7.प्लेटो के अनुसार आत्मा में तीन गुण के आधार पर राज्य में कितने वर्ग पाए जाते हैं ?

2.9 सारांश

उपरोक्त अध्ययन के उपरान्त हमें तत्कालीन यूनानी राज्यों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है और यह जानने को भी मिलता है कि किस प्रकार से उस समय वहाँ की सामाजिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिरता व्याप्त थी | जिससे प्लेटो बहुत व्यथित था |इस स्थिति से अपने राज्य को उबारने के लिए एक जिम्मे दार चिन्तक के रूप में एक व्यापक सामाजिक और राजनीतिक ढांचा प्रस्तुत करता है | जिसमे वह आत्मा के तीन तत्वों के आधार पर समाज में तीन वर्गों की बात करता है जो अपनी आत्मा में पाए जाने वाले प्रधान तत्व के आधार पर कार्य करेंगे |इस प्रकार से उसने शासक ,सैनिक और व्यावसायिक वर्ग की बात की | जहा शासक के एक दार्शनिक राजा बनाने लिए एक व्यापक शिक्षा योजना प्रस्तुत की तो दूसरी तरफ वह किसी भी प्रकार के आकर्षण से मुक्त हो इसलि साम्यवादी सिद्धांत भी दिया है जिस्मने राजा के पास न तो अपनी कोई संपत्ति होगी और न ही कोई परिवार जिसके कारण वह विना किसी आकर्षण के अपनी जिम्मेदारी का निर्वहन निर्लिप्त भाव से करेगा | परन्तु जबा वह इस प्रकार के राज्य की स्थापना में असफल रहा तब उसने द्वितीय आदर्श राज्य अर्थात क़ानून पर आधारित राज्य का सिद्धांत अपनी पुस्तक ‘‘द लाज ‘ में दिया है |

2.10 शब्दावली

सर्वसत्तावादी:- वह सिद्धान्त जो राज्य की सारी शक्ति को एक ही जगह केन्द्रित करने, और लोगों के सम्पूर्ण जीवन पर पूर्ण या लगभग पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करने का समर्थन करता है।

राजनीतिक समाजीकरण:- वह प्रक्रिया जिसके माध्यम से व्यक्ति अपने समाज में राजनीतिक जीवन के प्रति अनुकूल दृष्टिकोण बनाता है और जिसके माध्यम से समाज अपने राजनीतिक मानकों और आदर्शो, मान्यताओं और विश्वासों को एक पीढ़ी तक पहुँचाता है।

विधिका शासन:- विधि का शासन ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत शासन की शक्ति का प्रयोग केवल कानून में निहित प्रक्रियाओं, सिद्धान्तों और प्रतिबन्धों के अन्तर्गत ही होना चाहिए व अन्य किसी अधार पर नहीं।

श्रम विभाजन:- आर्थिक जीवन के अन्तर्गत वह व्यवस्था जिसमें भिन्न -भिन्न व्यक्ति अपनी -अपनी क्षमताओं के अनुसार भिन्न2 कार्यो के लिए उत्तरदायी बना दिए जाते है।

शासक वर्ग:- उन लोगों का समूह जो पूरे समाज पर अपने प्रभुत्व एवं शक्ति का प्रयोग करते है।

सामाजिक संविदा:- इसके अनुसार मनुष्यों ने आपस में अनुबंध या समझौता करके राज्य का निर्माण किया है ताकि वह उन्हें अराजकता और नियम हीनता की स्थिति से उबार कर समुचित संरक्षण और व्यवस्थित जीवन प्रदान कर सके।

2.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.दॅ लॉज, 2.सत्य, 3.5040, 4. 25 से 55, 5.20से 40, 6.तीन गुण, 7.तीन ,

2.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.डॉ.बी.एल. फाड़िया, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, साहित्य भवन पब्लिकेषन, आगरा।

2. डॉ. जे.सी. जौहरी, राजनीति विज्ञान, एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन, आगरा।

3. जे.पी.सूद, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (भाग प्राचीन एवं मध्यकालीन) के. नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ।

2.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. जीवन मेहता, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, 1985 साहित्य भवन आगरा।

2.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्लेटो के न्याय सम्बन्धी सिद्धान्त की आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए?

2. प्रजातन्त्र के विषय में प्लेटो के विचारों की विवेचना कीजिए?

3. प्लेटो के आदर्श राज्य के मौलिक सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए ?

4. प्लेटो के साम्यवाद की कल्पना की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए ? प्लेटो के साम्यवाद की तुलना आधुनिक साम्यवाद से कीजिए ?

5. प्लेटो की शिक्षा योजना का वर्णन कीजिए और बताइये कि वह किस प्रकार उसके मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक सिद्धान्तों पर आधारित है ?

इकाई 3 : अरस्तू

इकाई की संरचना

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 अरस्तू के विचारों का वैज्ञानिक स्वरूप
3.4 अरस्तू का राज्य सिद्धान्त
3.4.1 राज्यः उत्पत्ति, स्वरूप तथा उद्देश्य
3.5 दासता सम्बन्धी अरस्तू के विचार
3.6 नागरिकता सम्बन्धी विचार
3.7 संविधान के सम्बन्ध में अरस्तू के विचार
3.8 श्रेष्ठ व्यावहारिक संविधान
3.9 अरस्तू के कुटुम्ब तथा सम्पत्ति सम्बन्धी विचार
3.10 अरस्तू के विधि सम्बन्धी विचार
3.11 अरस्तू की न्याय सम्बन्धी धारणा
3.12 अरस्तू के क्रान्ति सम्बन्धी विचार
3.13 अरस्तू का आदर्श राज्य
3.14 पॉलिटी (वैद्यानिक लोकतन्त्र)
3.15 सारांश
3.16 शब्दावली
3.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.18 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.19 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.20 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई २ में हमने यह अध्ययन किया है किया है कि किस प्रकार से उस समय की सामाजिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिरता से प्लेटो बहुत व्यथित था |इस स्थिति से अपने राज्य को उबारने के लिए एक जिम्मेदार चिन्तक के रूप में एक व्यापक सामाजिक और राजनीतिक ढांचा प्रस्तुत करता है | जिसमे वह आत्मा के तीन तत्वों के आधार पर समाज में तीन वर्गों की बात करता है जो अपनी आत्मा में पाए जाने वाले प्रधान तत्व के आधार पर कार्य करेंगे |इस प्रकार से उसने शासक ,सैनिक और व्यावसायिक वर्ग की बात की | जहा शासक के एक दार्शनिक राजा बनाने लिए एक व्यापक शिक्षा योजना प्रस्तुत की तो दूसरी तरफ वह किसी भी प्रकार के आकर्षण से मुक्त हो इसलि साम्यवादी सिद्धांत भी दिया है जिस्मने राजा के पास न तो अपनी कोई संपत्ति होगी और न ही कोई परिवार जिसके कारण वह विना किसी आकर्षण के अपनी जिम्मेदारी का निर्वहन निर्लिप्त भाव से करेगा | परन्तु जब वह इस प्रकार के राज्य की स्थापना में असफल रहा तब उसने द्वितीय आदर्श राज्य अर्थात क़ानून पर आधारित राज्य का सिद्धांत अपनी पुस्तक ‘‘द लाज ‘ में दिया है |

इस इकाई ३ में हम गुरू शिष्य की महान परम्परा की एके महत्वपूर्ण कड़ी अरस्तू के के सामाजिक और राजनीतिक विचारों का अध्ययन करेंगे और इसमें यह भी अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार से वह सर्वप्रथम तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग कर शासन व्यवस्था का अध्ययन कर ,अध्ययन की वैज्ञानिक परम्परा की शुरूआत सामाजिक विज्ञानों में करता है |इसके साथ –साथ इस इकाई में हम राज्यकी उत्पत्ति, स्वरूप, दासता और नागरिकता, विधि और न्याय सम्बन्धी विचारों के अध्ययन करने के साथ , क्रान्ति सम्बन्धी विचारों के अध्ययन और आदर्श राज्य के सम्बन्ध में भी अध्ययन करेंगे|

3.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम अरस्तू के अनुसार --

1. राज्यकी उत्पत्ति, स्वरूप को जान सकेंगे |

2.अरस्तू के दासता और नागरिकता सम्बन्धी विचार को जान सकेंगे |

3.संविधान के सम्बन्ध में विचार को जान सकेंगे |

4. कुटुम्ब तथा सम्पत्ति सम्बन्धी विचार के बारे में जान सकेंगे |

5. विधि और न्याय सम्बन्धी विचार के बारे में जान सकेंगे |

6. क्रान्ति सम्बन्धी विचार के सम्बन्ध में जान सकेंगे |

7. आदर्श राज्य के बारे जान सकेंगे |

3.3 अरस्तू के विचारों का वैज्ञानिक स्वरूप

अरस्तू के माता पिता प्रकृति की वैज्ञानिक खोज से प्रभावित थे। अरस्तू के पिता एक चिकित्सक थे उनकी कार्यशैली में वैज्ञानिक विचारों के बीच विद्यमान थे। अतः अरस्तू को पैतृक विरासत में वैज्ञानिक स्वभाव प्राप्त हुआ। ऐसे वैज्ञानिक स्वभाव की दृष्टि से उसने जीवन शास्त्र तथा राजनैतिक का विज्ञानिक पद्धति अपना कर अध्ययन किया। अरस्तू के विचारों का जब हम अध्ययन करते है तो पाते है कि उसने राज्य की बुराईयों के कारणों को ढूँठना, उन्हें दूर करने के उपयों का सुझाव देना, तथ्यों का संग्रह एवं उनका वर्गीकरण और उनकी तुलना करना तथा उन तथ्यों के आधार पर अपने निष्कर्षों को स्थापित करना, अनेक ऐसे उदाहरण है जो यह सिद्ध करते है कि अरस्तू की अध्ययन पद्धति वैज्ञानिक थी। अतः अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अरस्तू की अध्ययन-पद्धति अनुभवमूलक थी जो उसे वंशागत प्रभाव से मिली थी।

अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि अरस्तू ने यूनानी राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाओं का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया था। अरस्तू ने यूनान के 158 राज्यों के संविधानों की आगमनात्मक पद्धति से तथ्यों को एकत्र कर उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। और संविधानों की तुलना करके उनके गुण एवं दोषों का विवेचन किया था। इस प्रकार हम कह सकते है कि अरस्तू की अध्ययन पद्धति एक वैज्ञानिक थी।

3.4 अरस्तू का राज्य सिद्धान्त

अरस्तू अपने विचारों के आधार पर यह प्रतिपादित करता है कि राज्य एक ऐसा समुदाय या संघ है जिसका अपना एक विकास क्रम होता है परिवार मिलकर ग्रामों का निर्माण करते है और जब ग्राम के समुदाय बनते है तो राज्य की उत्पत्ति होती है। राज्य ''समरूप व्यक्तियों के श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए संस्था है।'' अरस्तू के अनुसार परिवार मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं की और ग्राम उसकी आर्थिक व धार्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन है।

3.4.1 राज्यः उत्पत्ति, स्वरूप तथा उद्देश्य

1. राज्य एवं नैसर्गिक मानवीय संस्था है- अरस्तू सोफिस्ट विचारकों के विपरित राज्य को एक नैसर्गिक संस्था मानता है। अरस्तू कहता है प्रकृति ने मनुष्य को विवके एवं संवाद की शक्ति प्रदान की है। विवेक और संवाद के कारण मनुष्य, पशु-पक्षियों से भिन्न है इससे इतर वह समुदायों का निर्माण करता है। इस प्रकार कुटुम्ब प्राणियों की प्रथम नैसर्गिक संस्था है। कुटुम्ब से ग्राम और ग्रामों से राज्य बनता है। इस प्रकार राज्य की आधारभूत संस्थाऐं नैसर्गिक है, अतः उससे निर्भित राज्य भी एक नैसर्गिक संस्था है। राज्य की नैसर्गिकता का प्रमाण यह है कि उसकी उत्पत्ति जीवन के लिए हुई तथा सुखी जीवन के लिए इसका अस्तित्व अभी भी बना हुआ है। हम यह भी मान सकते है कि राज्य इसलिए भी एक नैसर्गिक संस्था है क्योंकि वह मनुष्य स्वभाव अन्तर्निहित है।

राज्य समूहों का समूह हैः- अरस्तू की मान्यता है राज्य की दूसरी विशेषता है कि यह समुदायों का समुदाय है। अरस्तू कहता है कि राज्य एक विकसित संस्था है। वह कहता है कि नर-नारी से कुटुम्ब, कुटुम्ब से ग्राम तथा ग्रामों से राज्य का विकास होता है। राज्य विविध संस्थाओं से निर्मित एक संस्था है। यह परिवार और ग्राम जैसे समुदाय

से मिलकर बना हुआ एक समुदाय है। अरस्तू के लिए राज्य का स्वरूप उसकी बहुलता से है। इस रूप में अपने विकसित रूप में राज्य समुदायों का एक समुदाय है।

राज्य का नैतिक उद्देश्य

अरस्तू के अनुसार राज्य का राज्य का मूल उद्देश्य व्यक्ति के जीवन की नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है अतः इसका नैतिक उद्देश्य है। ''यद्यपि राज्य का विकास जीवन की भौतिक व सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ है, किन्तु उसका निरन्तर अस्तित्व इसलिए बना है जिससे कि राज्य में मनुष्य के 'श्रेष्ठ जीवन' की आवश्यकताओं की पूर्ति होते रहे।'' अरस्तू कहता है कि राज्य मनुष्य की सम्पूर्ण प्रकृति की पूर्ति करता है, विशेषतः उसकी प्रकृति के सर्वोच्च पक्ष है। राज्य एक ऐसी संस्था है जिसके पास वे सारे साधन उपलब्ध है जिससे कि मनुष्य का सम्पूर्ण एवं स्वतंत्र नैतिक विकास होता है। राज्य की अस्तित्व मनुष्य के श्रेष्ठ जीवन के लिए होता है। इस प्रकार अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि राज्य का उद्देश्य नैतिक जीवन की आवश्यकता की पूर्ति करना है।

व्यक्ति की अपेक्षा राज्य की अग्रताः- राज्य के स्वरूप के बारे में अरस्तू कहता है कि ''राज्य व्यक्ति की पूर्ववर्ति संस्था है। इस धारणा का स्पष्टीकरण करते हुए वह लिखता है कि राज्य एक सम्पूर्णता है, व्यक्ति जिसका एक अंग मात्र है। इसका अस्तित्व ''व्यक्ति से अग्र (पूर्व) है।'' अरस्तू राज्य को सावयवी संस्था मानता है और व्यक्ति इस शरीर का एक अंग मात्र है। यदि सम्पूर्ण शरीर नहीं है तो असके अगं हाथ अथवा पैर का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होगा। यदि हम तार्किक दृष्टि से विचार करे तो अंग सम्पूर्ण की पूर्व कल्पना करता है। पहले सम्पूर्ण की कल्पना होगी तभी अंग की कल्पना की जा सकती है। अतः राज्य व्यक्ति पूर्ववर्ती है।

राज्य आत्मनिर्भर संस्था हैः- अरस्तू की मान्यता है कि ''राज्य एक आत्म निर्भर संस्था है।'' वह राज्य को आत्म-पर्याप्ति की सर्वोच्च्व संस्था मानता है। अतः यह परिपूर्ण समाज है। उसका मानना है कि राज्य आर्थिक नैतिक, मनोवैज्ञानिक तथा सभी दृष्टि से स्वतन्त्र संस्था है जिसके माध्यम से व्यक्ति अपनी पूर्वता को प्राप्त करता है। वह राज्य की क्रियाओं का भागीदार बनकर उस आत्म-निर्भरता का भागीदार बनता है। इस प्रकार हम कह सकते है यही राज्य का वास्तविक प्रायोजन होता है। मनुष्य के जीवन को कोई भी भौतिक तथा नैतिक आवश्यकता नहीं जिसकी कि पूर्ति राज्य के द्वारा तथा राज्य के अन्तर्गत न की जा सकें। अतः अरस्तू को राज्य को इस प्रकार परिभाषित किया है कि यह कुटुम्बों और ग्रामों को समुदाय है जिसका अस्तित्व ''सुखी और आत्म-निर्भर जीवन के लिए है।

3.5 दासता सम्बन्धी अरस्तू के विचार

इतिहास का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन यूनान में दास-प्रथा का प्रचलन था। और अरस्तू ने दासता सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करता है। अरस्तू परिवार में पति-पत्नी, माता-पिता और सन्तान तथा स्वामी और दास मानता है। अरस्तू दास को परिवार का अभिन्न अंग मानता है। दास कौन है? इस संबंध में अरस्तू बताता है कि जो व्यक्ति प्रकृति से अपना नहीं अपितु दूसरे का है लेकिन फिर भी मनुष्य है, वह प्रकृति से दास है और हम उसे जो कि मनुष्य तो है फिर भी दूसरे के कब्जे में है, उसे हम दूसरे के कब्जे की वस्तु कहेगें और जो वस्तु कब्जे की है उसकी परिभाषा यह है कि वह कार्य साधन है, ऐसा कार्य का साधन जो कब्जाधारी से भिन्न है।'' दास कौन है? को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है -

1.जो व्यक्ति अपनी प्रकृति के कारण स्वयं का नहीं अपितु दूसरे का है, फिर भी मनुष्य है, वह स्वभावतः दास है।

2.दास का गुण बताते हुए वह कहता है कि वह व्यक्ति जो मनुष्य होते हुए भी सम्पत्ति की एक वस्तु है और जो दूसरे के कब्जे में रहता है, वह दास है।

3.तीसरा जो दूसरे के कब्जे की वस्तु है जो कार्य का साधन है, और जिसे वस्तु के कब्जाधारी से पृथक किया जा सके, वह दास है।

दास प्रथा के समर्थन में तर्क |अरस्तू ने दासता के ओचित्य में विभिन्न प्रकार के तर्क है।

1.दासता नैसर्गिक है

अरस्तू कहता है कि दासता नैसर्गिक है। प्रकृति ने ही मनुष्यों को इस प्रकार बनाया है कि उसमें दो वर्ग का निर्माण होता है स्वामी और दास। अरस्तू बताता है कि जा व्यक्ति शासन चलाने की योग्यता रखते है और आदेश देने वाले होते है उन्हें स्वामी कहते है। और जो उन आदेशों का पालन करते है उन्हें दास कहते है। अरस्तू दासता को इस नैसर्गिक नियम के आधार पर सही मानता है। क्योंकि इसमें श्रेष्ठ व्यक्ति हमेशा निकृष्ट व्यक्ति पर शासन करते है। दासता को नैसर्गिक बताने के लिए अरस्तू प्रकृति के सर्वव्यापी सिद्धान्त लेता है।

2- दासता स्वामी और दास दोनों के लिए उपयोगी है

अरस्तू मानता है कि दासता स्वामी और दास दोनों के लिए हितकर है। अरस्तू की मान्यता है कि स्वामी का महत्वपूर्ण कार्य राजनिती है। नगर के राजकार्यों में भाग लेकर नैतिक उत्थान में कार्य करना है और कार्य के लिए स्वामी का अवकाश चाहिए होता है। और स्वामी यह कार्य अवकाश तभी ले सकता है जबकि दास उसके घर के कार्यो के लिए श्रम करें। उसी अवकाश के समय में स्वामी नागरिक जीवन का भागीदार बनकर अपने बौद्धिक तथा नैतिक जीवन की उपलब्धि के लिए करता है। और दास भी स्वामी साहचर्य में रहकर सदगुणों को सीखता है। अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, स्वामी के सदगुण की छत्रछाया में दास लाभ को प्राप्त करता है। इस प्रकार दासता स्वामी और दास दोनो के लिए लाभकारी सिद्ध होती है।

3.दासता प्राकृतिक नियमानुकूल है

दासता की प्रामाणिकता की पुष्टि अरस्तू ने प्रकृति के शासन 'शामित नियम' के आधार पर भी की है। वह मानता है कि प्रकृति में हमेशा 'शासक' तथा 'शसित' पदार्थ होते है। उच्च का निम्न पर हमेशा शासन रहता है। इस प्रकार सामाजिक जगत में स्वामी का दास पर शासन प्रकृति नियमाकूल है।

दास कुटुम्ब की सम्पत्ति है |अरस्तू की मान्यता है कि सम्पत्ति दो प्रकार की होती हैं-

(1) सजीव सम्पत्ति। (2) निर्जीव सम्पत्ति। घर की वस्तुऐं कुटुम्ब की निर्जीव सम्पत्ति है किन्तु दास कुटुम्ब की सजीव सम्पत्ति होती है। सम्पत्ति के ये दोनों ही प्रकार जीवन के लिए आवश्यक है । अतः दास कुटुम्ब की सजीव सम्पत्ति के रूप में पारिवारिक जीवन के लिए आवश्यक है।

दासता के प्रकारः- अरस्तू दासता के दो प्रकार बताता है- नैसर्गिक दासता तथा कानूनी दासता। वे व्यक्ति जो प्रकृति से ही निर्बुद्धि तथा शारीरिक शक्ति प्रधान है, वे नैसर्गिक दास है। वे व्यक्ति जो युद्ध में बन्दी बना लिये जाता है और जिन्हें दास बना लिया जाता है, यह कानूनी दासता है। इस प्रकार प्रकृति और शक्ति द्वारा दास बनाये जाते है। कानूनी दासता के सम्बन्ध में अरस्तू के विचार है कि यूनानियों को विजित दास नहीं बनाया जाए। केवल बर्बर जाति के लोगों को ही कानूनी दास बनाया जाए।

3.6 नागरिकता सम्बन्धी विचार

अरस्तू ने प्लेटो के विपरित नागरिकता को अपने राजनीतिक विश्लेषण का केन्द्र बनाया। राजनैतिक पद हासिल करना एक स्वाभाविक रूझान था। संवैधानिक सरकार के कारण लोग बिना गड़बड़ी के राजनैतिक पद हासिल कर सकते थे।

अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचारों की सबसे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि नागरिकता निवास स्थान से यह तय नहीं होती थी क्योंकि स्थानीय बाहरी और दास नागरिको के साथ रहते हुए भी नागरिक नहीं थे। न ही नागरिकता सामाजिक अधिकारों में हिस्सेदारी से परिभाषित होती थी। नागरिक वह था जिसे विचार विमर्श या न्यायिक पदों में हिस्सेदारी हासिल थी और जो अपने राजनैतिक अधिकारों का प्रभावशाली प्रयोग कर सकता था। नागरिक को संवैधानिक अधिकार भी प्राप्त थे।

अरस्तू की मान्यता थी कि बच्चे, बूढ़े और स्त्रियां नागरिक नहीं हो सकते थे क्योंकि वे क्रमशः अपरिपक्व कमजोर और तर्कबुद्धि विहिन थे। प्लेटो के सामान अरस्तू समझते थे कि नागरिकता एक विशेषाधिकार है और उत्तराधिकार में पाया जाता है। नागरिकों को छोटे और सुगठित पोलिस में रहना चाहिए। प्लेटो का पाँच हजार नागरिकों का संगठन काफी बड़ा था क्योंकि उसके लिए असीमित जगह की आवश्यकता थी। छोटे समुदाय में सभी नागरिक एक-दूसरे को जानते, विवादों का निपटारा करते और क्षमता के अनुसार उचित पदों को बटवारा कर सकते थे।

अरस्तू का अच्छा नागरिक संविधान का पालनकर्ता है, जिम्मेदारी वहन करने लायक उसके पास समय होता है, विविध दिलचस्पियाँ होती है और निःस्वार्थ सहयोगी जीवन के गुण होते है। वे नागरिक को ''जनमामलों में हिस्सेदारी की मित्रता मानते है। यह अधिकार निश्चित वर्ग के बाहर दूसरों को नहीं मिल सकता था। वास्तव में यूनानी नागरिकता अधिकारों पर उतनी आधारित नहीं थी जितनी कि जिम्मेदारियों पर।

3.7 संविधान के सम्बन्ध में अरस्तू के विचार

अरस्तू की संविधान की धारणा आधुनिक संविधानों की धारणाओं से अधिक व्यापक है। अरस्तू 'संविधान' को राज्य का निर्धारक तत्व मानता है। संविधान का स्वरूप ही है जो राज्य के स्वरूप की पहचान कराता है। संविधान को परिभाषित करते हुए अरस्तू लिखता है कि ''संविधान सामान्यतः राज्य में पदो के संगठन की एक व्यवस्था है, विशेषतः ऐसे पद की सभी मुद्रों में सर्वोच्च हैं।''

संविधान का वर्गीकरणः- अरस्तू ने संविधान के दो वर्गीकरण को मान्यता दी है। (1) शासकों की संख्या जिनके हाथो में शासन की सत्ता रहती है, (2) शासन का उद्देश्य क्या है? पहले आधार पर संविधान का वर्गीकरण करते हुए अरस्तू बताता है कि शासन की सत्ता एक व्यक्ति, थोड़े से व्यक्ति के शासन को राजतंत्र ;डवदंतमीलद्ध थोड़े

व्यक्तियों के शासन को ‘अल्पतन्त्र’ ;।तपेजवबतंबलद्ध तथा अधिक लोगों के शासन को ‘पालिटी’ चूंसपजल कहता है। संविधान के इन तीनों प्रकारों को आधार ‘शासकों की संस्था’ है।

किन्तु अरस्तू इस आधार को आकास्मिक मानता है। वर्गीकरण का वास्तविक आधार शासकों को उद्देश्य क्या है? को मानता है। शासन यदि भले ही एक व्यक्ति थोड़ से व्यक्ति अथवा अधिक व्यक्तियों का हो, सार्वजनिक हित से प्ररित होकर कार्यशील है, अरस्तू उसे ‘संविधान’ मानता है। निजी स्वार्थ से प्ररित होकर किया गया शासन कभी ठीक नहीं हो सकता। अरस्तू ऐसे संविधान को विकृत संविधान की संज्ञा देता है। तद्नुसार सामान्य हित से प्ररित एक व्यक्ति के शासन को अरस्तू ‘राजतन्त्र’ थोड़े से व्यक्तियों के शासन को ‘अल्पतन्त्र’ तथा अधिक लोगों के शासन को पॉलिटी अर्थात ‘संयत लोकतन्त्र’ बताता है। दूसरी कोटी ‘विकृत संविधानों की है।’ जब शासक ‘निजी हित’ से प्रेरित होकर शासन करते है तब तक एक व्यक्ति विकृत शासन निरंकुशतन्त्र, थोड़े से व्यक्तियों का विकृत शासन ‘धनिकतन्त्र’ और अधिक लोगों का अधिक निर्धन लोगों के हितार्थ विकृत शासन लोकतन्त्र कहलाता है। संख्या के आधार पर तथ उद्देश्य के आधार पर किये गये संविधानों के वर्गीकरण को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-

1- शासकों की संख्या	2- उद्देश्य के अनुसार	
	‘सार्वजनिक हित के लिए सही’ शासन	निजी स्वार्थ के लिए विकृत शासन
एक व्यक्ति का शासन	राजतन्त्र	निरंकुशतन्त्र
थोड़े व्यक्तियों का शासन	कुलीतन्त्र	धनितन्त्र
बहुसंख्यक व्यक्तियों का शासन (भीड़तन्त्र)	पॉलिटी	लोकतन्त्र

शुद्ध शासन के तीन प्रकार

उपयुक्त शारणी से स्पष्ट होता है कि ‘‘सार्वजनिक हित’’ में किये जाने वाला शासन ‘सही’ अथवा शुद्ध है। यह शासन जब एक व्यक्ति द्वारा किया जाता है उसे अरस्तू ‘‘राजतन्त्र’’ कहता है। थोड़े व्यतियों द्वारा किया गया ‘शुद्ध’ शासन अल्पतन्त्र है तथा अधिक संख्यकों द्वारा सार्वजनिक हितार्थ किया गया शासन पॉलिटी है। इस आधार पर शुद्ध संविधान के ये ती प्रकार है- राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, तथा पॉलिटी।

विकृत शासन के तीन प्रकारः- उपयुक्त तीनों प्रकार के शासन निजी स्वार्थों की पूर्ति के समय-समय पर विकृत रूप धारण कर लेते है। इस प्रकार राजतन्त्र का विकृत रूप निरंकुशतन्त्र, कुलीनतन्त्र का विकृत रूप धनिकतन्त्र तथा सयंत लोकतन्त्र (पॉलिटी) का विकृत रूप भीड़त का अर्थात लोकतन्त्र हो जाता है। निष्कर्ष रूप से यह कह जा सकता है कि अरस्तू ने कुल 6 प्रकार के शासनों का वर्णन किया है जिनमें अपने उद्देश्य के अनुसार तीन शुद्ध तथा तीन विकृत प्रकार हैं।

3.8 श्रेष्ठ व्यावहारिक संविधान

अरस्तू संविधानों को 6 प्रकार में वर्गीकृत करते हुए व्यावहारिक दृष्टि से श्रेष्ठ संविधान खोजता है। मनुष्य के स्वभाव को ध्यान में रखते हुए अधिकांश राज्यों के लिए व्यावहारिक संविधान की खोज करना अरस्तू के चितंन का आधार है। अरस्तू के अनुसार ''राजनीतिक समाज का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप वह है जिसमें सत्ता का निवास मध्यवर्ग में हो। ''अरस्तू की मान्यता है कि श्रेष्ठता मध्यमान में पायी जाती है लेकिन इसके साथ शर्त है कि समाज में मध्यवर्ग काफी बड़ा है। अतः न तो धनी लोगों का शासन ही उचित है और न ही अत्यधिक निर्धन वर्ग के लोगों का। श्रेयस्कर राज्य इन दोनों के मध्य का है जिसे अरस्तू पॉलिटी के नाम से सम्बोधित करता है। पॉलिटी का शासन मध्यवर्ग पर आधारित है। उसके विचारानुसार 'पॉलिटी' का शासन संयत तथा मध्यममार्गी है। अतः यह व्यावहारिक भी है और श्रेष्ठ भी। संयत लोकतन्त्र को अरस्तू वर्गतन्त्र और भीड़तन्त्र का मध्यमान भी मानता हैं ऐसे गुणों से युक्त मध्यवर्ग पर आधारित 'पॉलिटी' को अरस्तू सामान्य रूप से व्यावहारिक श्रेष्ठ संविधान स्वीकार है।

3.9 अरस्तू के कुटुम्ब तथा सम्पत्ति सम्बन्धी विचार

अरस्तू मानता है कि कुटुम्ब एवं सम्पत्ति को राज्य की एकता के नाम पर समाप्त नहीं किया जा सकता, जैसा कि प्लेटों ने अपनी साम्यवाद की योजना में किया है। अरस्तू प्लेटों के कुटुम्ब और सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों की आलोचना करते हुए कहता है कि कुटुम्ब तथा निजी सम्पत्ति व्यक्ति के लिए परम आवश्यक है। अरस्तू के कुटुम्ब और सम्पत्ति विणयक विचारों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उसका वैचारिक दृष्टिकोण व्यक्तिवादी एवं मानवीय आवश्यकताओं को समझने वाला यथार्थवादी दृष्टिकोण है।

परिवार सम्बन्धी विचारः- अरस्तू परिवार को मनुष्य की नैसर्गिक संस्था मानता है जिसके द्वारा उसके जीवन की नितान्त प्रारम्भिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती है। परिवार में पति, पत्नी सन्तान तथा दास सम्मिलित है। परिवार का चौथा आवश्यक तत्व 'अर्जन' है। इन तत्वों के अभाव में परिवार की कल्पना की जा सकती है। यद्यपि कुटुम्ब व्यक्ति के भौतिक जीवन की आधारशिला है तथापि उसका प्रबन्ध एक नैतिक कला है तथा जिसका उद्देश्य परिवार के सदस्यों की नैतिक श्रेष्ठता को प्राप्त करना है। अरस्तू की मान्यता है कि यदि परिवार का साम्यवादीकरण करके उसे छिन्न-भिन्न किया जाता है तो उसके सदस्यों की नैतिक श्रेष्ठता' की पहली पाठशाला ही नष्ट हो जायेगी। इस आधार पर अरस्तू प्लेटो की आलोचना करता है कि उसके साम्यवाद की योजना परिवार को नष्ट करके व्यक्ति के जीवन की प्राथमिक नैतिक संस्था तथा उसका नैतिकरण करने वाली प्रथम संस्था को नष्ट कर देती हैं।

सम्पत्ति के साम्यवाद के विरूद्ध अरस्तू के विचारः- अरस्तू प्लेटो के सम्पत्ति के साम्यवाद का योजना का भी आलोचक है। अरस्तू सम्पत्ति के सार्वजनिक स्वामित्व व्यवस्था ही उपयुक्त है जिसमें सम्पत्ति पर व्यक्ति का निजी स्वामित्व होता है। अरस्तू की समपत्ति सम्बन्धी धारणा है कि वैयक्तिक रूप से उस पर ''स्वामित्व हो किन्तु उसका उपयोग सामूहिक हित'' के लिए हो। अरस्तू का मानना है कि जब सम्पत्ति पर निजी स्वामित्त होता है तब कलहों को आधार पर क्रम हो जाते हैं सम्पत्ति के कारण व्यक्ति में दानशीलता, मैत्री, आतिथ्य सेवा अथवा उदारता जैसे नैतिक गुणों का विकास होता है। जिसके पास निजी सम्पत्ति है वह व्यक्ति राज्य के साथ अपने हित को एक मानता है तथा सम्पत्तिहीन व्यक्ति राज्य के प्रति एकता के भाव नहीं रख सकता। निजी सम्पत्ति की भावना व्यक्तियों को अधिक उद्यम करने की प्रेरणा देती है जिसमें मनुष्य बालू रेत को भी सोने में बदल देता है। सम्पत्ति के सम्बन्ध में अरस्तू सबसे प्रबल तर्क यह है कि सम्पत्ति की संस्था युगों से चली आ रही हैं अतः युगों के संचित ज्ञान को ठोकर

मारकर उसका तिरस्कार करना बड़ी भूल है। इस प्रकार विविध तर्क देकर अरस्तू सम्पत्ति के निजी स्वामित्व का समर्थन करता है।

3.10 अरस्तू के विधि सम्बन्धी विचार

अरस्तू के अनुसार राज्य में विधि की सम्प्रभुता होनी चाहिए। उसकी मान्यता है कि निजी शासन, चाहे वह एक व्यक्ति को हो अथवा अनेक व्यक्तियों का, विधि के शासन समान श्रेष्ठ नहीं हो सकता। कानून का शासन पूर्व-निश्चित लिखित नियमों द्वारा संचालित होता हैं कानून के शासन में मनमानी तत्व का अभाव रहता है। अरस्तू कानून को ''वासना से अप्रभावित विवके'' मानता है और इस अधार पर यह प्रतिपादित करता है कि ''विधि का शासन किसी व्यक्ति के शासन की अपेक्षा श्रेयस्कर है।'' अतः अरस्तू का निष्कर्ष है कि कानून में ऐसा 'अवैयक्तिक तत्व' है जो किसी श्रेष्ठतम व्यक्ति के शासन में भी संभव है। विधि के शासन की अन्य विशेषताओं का वर्णन करते हुए अरस्तू बताता है कि कानून को संविधान के अनुकूल होना चाहिए। तभी कानून न्यायापूर्ण होता है कि अरस्तू सतत रूप से 'विधि शासन' की दृढ़ समर्थक है। अरस्तू के शब्दों में ''विधि का शासन किसी एक व्यक्ति के शासन की अपेक्षा वाछंनीय है, भले ही व्यक्तियों का शासन उचित लगता हो तब भी व्यक्तियों को विधि का संरक्षक अथवा विधियों का सेवक ही बनना चाहिए।''

अरस्तू विधिको विवके का ही दूसरा रूप मानता है। कानून स्वार्थो से युक्त विवेक की वाणी है। क्योंकि कानून विवेक-सम्मत होता है, अतः राज्य में विधि का शासन होना चाहिएं अरस्तू क विधि की सर्वोच्चता सम्बन्धी विचार प्लेटो के ब्लॉज में प्रतिपादित विचारों के समान ही है, किन्तु कानून की सम्प्रभुता को स्वीकार कर अरस्तू ने प्लेटो के रिपब्लिक की उस धारणा को स्पष्ठ रूप से खंडित किया है कि राज्य में ज्ञान का अथवा दार्शनिक राजा का शासन सर्वश्रेष्ठ होता हैं अरस्तू मूर्त व्यक्ति के शासन की अपेक्षा अमूर्त विधि के शासन

3.11अरस्तू की न्याय सम्बन्धी धारणा

अरस्तू की न्याय की धारणा में सामाजिक नैतिकता तथा कानूनी दायित्व के तत्वों का समावेशन है। न्याय व्याख्या करते हुए अरस्तू लिखता है कि 'न्याय सदगुण का व्यावहारिक प्रयोग है।'' इसका अर्थ यह है कि अरस्तू की दृष्टि में 'सदगुण और न्याय' पर्यायवाची है। उसके अनुसार जब सदगुण व्यक्ति के व्यवहार में प्रकट होता है, यही न्याय है।

न्याय के दो प्रकार-सामान्य और विशिष्ट न्यायः- अरस्तू ने न्याय के दो प्रकार बताये है- 'सामान्य न्याय' तथा 'विशिष्ट न्याय'। सामान्य न्याय से तात्पर्य सम्पूर्ण श्रेष्ठता से है। इस सम्पूर्ण श्रेष्ठता का प्रयोग व्यक्ति अपने पड़ोसी के साथ व्यवहार में करता है। पड़ौसियों के प्रति नैतिक व्यवहार तथा नैतिक सदगुण का आचरण ही सामान्य न्याय है। 'विशिष्ठ न्याय' सामान्य न्याय का ही अंश है। इसका सम्बन्ध श्रेष्ठता के विशिष्ट पक्ष से है, जिसके परिणाम स्वरूप व्यक्ति समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ समभाव से अथवा समता के साथ व्यवहार करता है।

''अरस्तू विशिष्ठ न्याय के कभी दो रूप मानता है। वितरणात्मक न्याय तथा परिशोधनात्मक न्याय।'' अरस्तू की न्याय की धारणा का वर्गीकरण इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

न्याय

सामान्य न्याय विशिष्ट न्याय

वितरणात्मक न्याय परिशोधनात्मक न्याय

वितरणात्मक न्याय

अरस्तू के राजनीतिक सिद्धान्त में वितरणात्मक न्याय की धारणा का विशेष महत्व है। वितरणात्मक न्याय वह व्यवस्था है जिसके द्वारा राज्य अपने सदस्यों के बीच सरकार के पदों सम्मानों तथा अन्य दूसरे प्रकारों के लाभों को वितरित करता है। वितरणात्मक न्याय पदों के वितरण का वह सिद्धान्त है जिसके द्वारा व्यक्ति को उसके द्वारा राज्य को दिये गये योगदान के अनुपाता में उसे पुरस्कार दिया जाता है, अधिक योगदान के अनुपात में अधिक पुरस्कार तथा कम योगदान के अनुपात में कम पुरस्कार। अरस्तू की धारणा है कि वितरणात्मक न्याय राज्य में असमानता को बढ़ावा नहीं देता अपितु जो योग्य है उन्हें अयोग्यों से असमान स्वीकार कर उनकी योग्यता के अनुपातों में पद तथा प्रदन्त करता है। अरस्तू की समानता की यही धारणा है कि राज्य के सभी संवैधानिक अधिकारधारी अपनी योग्यतानुसार ही राज्य के लाभों को प्राप्त कर सकें। अतः योग्यता के अनुपात में राज्य के पदों का लोगों में वितरण करना ही अरस्तू का 'वितरणात्मक न्याय' का सिद्धान्त है। वर्कर के अनुसार , ''विशिष्ट न्याय (वितरणात्मक न्याय) समान व्यक्तियों के समुदाय का ऐसा गुण है जो एक ओर अपने सदस्यों को उनके योगदान के अनुसार पद एवं अन्य पुरस्कार वितरित करता है।''

विशिष्ठ न्याय का दूसरा पक्ष सुधारात्मक न्याय है। सुधारात्मक न्याय राज्य की उस व्यवस्था को कहते है। जिसके द्वारा व्यक्तियों में पारस्पारिक लेन-देन के सम्बन्धों का नियमन किया जाता है। सुधारात्मक न्याय का दायरा 'राज्य और व्यक्ति' नहीं है, यह 'व्यक्ति और व्यक्ति' के बीच का दायरा है।

3.12 अरस्तू के क्रान्ति सम्बन्धी विचार

प्लेटो परिवर्तन को पतन और भ्रष्टाचार से जोड़ते थे, दूसरी ओर अरस्तू परिवर्तन का अरिवार्य और आदर्श की शिक्षा में गति मानते थे। प्लेटो के विपरित वे प्रगति को सम्पूर्णता की ओर विकास समझते थे लेकिन साथ ही अनावश्यक ओर निरतंर परिवर्तन के खिलाफ थे। अरस्तू का परिवर्तन सम्बन्धी विचार विज्ञान और प्रकृति के अध्ययन का नतीजा था।

क्रान्तियों के सामान्य कारणों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया-

(1) मनोवैज्ञानिक कारण (2) मस्तिष्क में उद्देश्य (3) राजनैतिक उथल-पुथल और आपसी टकराव को जन्म देने वाली परिस्थितियां।

मनोवैज्ञानिक कारण औलिगार्की में समानता और जनतंत्र में असमानता की इच्छा है। उद्देश्यों में मुनाफा सम्मान, घमण्ड, डर किसी रूप में बेहतरी घृणा, राज्य के किसी हिस्से में असंतुलित विकास चुनाव के जोड़-तोड़, उदासीनता विरोध का डर, राज्य के अवपयवों के बीच टकराव होते हैं। क्रान्तिकारी परिस्थितियों को जन्म देने वाले अवसर घमण्ड, मुनाफा और आदर के लिए इच्छा, श्रेष्ठता, डर घृणा और राज्य के इस या उस अवयव का असमान विकास है।

हर संविधान में विशेष कारण खोज निकाले गए। जनतन्त्र में कुछ लफ्फाज जनता को भड़काकर धनिकों पर हमला करते थे। इस कारण का निदान का दमन और शासकों में मन-मुटाव से अस्थिरता पैदा होती थी। कुलीनतन्त्र में सरकार समिति करने का अर्थ अस्थिरता का कारण था। विद्रोह तब पैदा होता है जब-

(1) आम जनता स्वयं को शासको के बराबर समझती है। (2) जब महान व्यक्तियों का शासकों द्वारा अपमान किया जाता है। (3) जब क्षमतावान लोगों को सम्मान से दूर रखा जाता है। (4) जब शासक वर्ग के अन्दर कुछ गरीब होते है और परिवर्तन का शिकार बनते है। गरीबों से उचित व्यवहार न होने पर वे विद्रोह करके कुलीनतन्त्र को जनतन्त्र में बदल देते है।

राजतन्त्र में क्रान्ति का निदान कानून के प्रति वफादारी की भावना भसा है। ओलिगार्की और कुलीनतन्त्रों में निदान नागरिक समाज और संवैधानिक अधिकारों वाले लोगों के साथ शासकों के अच्छे सम्बन्ध है। किसी को भी अन्य नागरिकों की तुलना में बहुत ऊँचा उठाना चाहिए क्योंकि धन के मुकाबले पदों में असमानता लोगो को क्रान्ति की ओर धकेलती है। सबको कुछ सम्मान दिया जाय। निरंकुश तानाशाह विभाजन और शासक की नीति के जरिए, धनी और गरीबों के बीच वर्गीय घृणा तेज करके तथा खुफियों का जाल बिछाकर अस्थिरता पर विजय पाते हैं। ऐसे शासक को धार्मिक दीख पड़ना चाहिए, गरीबों के रोजगार के लिए जन कार्य करने चाहिए, फिजूल खर्चों में कटौती करनी चाहिए और परम्पराओं का पालन करना चाहिए।

अरस्तू ने बताया कि क्रान्तियाँ और बगावत आमतौर पर सरकार की छवि के कारण होती हैं। सरकारी पदों का व्यक्तिगत फायदे के लिए दुरूपयोग नहीं किया जाना चाहिए। संवैधानिक स्थायित्व के लिए पदाधिकारियों में तीन गुण होने चाहिए, एक संविधान के प्रति वफादारी, दो असाधारण प्रशासनिक क्षमता, तीन चरित्र की एकाग्रता, अच्छाई और न्याय-प्रियता। उन्होंने सरकारी प्रचार में शिक्षा, कानून, न्याय और समानता इत्यादि पर जोर दिया।

3.13 अरस्तू का आदर्श राज्य

अरस्तू ने भी प्लेटो की भॉति अपने ग्रन्थ 'पॉलिटिक्स' के अन्तिम चरणों में 'राजनीतिक आदर्शों' तथा श्रेष्ठ एवं सुखी जीवन का विवेचन किया है। अरस्तू तीन प्रकार के शुभों' की कल्पना करता है- बाहन शुभ, शारीरिक शुभ तथा आत्म शुभ। अनुभव यह सिद्ध करता है कि इन हितो अथवा शुभों में आत्मा के शुभ की प्राथमिकता रहती है। साहस, विवेक एवं अन्य प्रकार के नैतिक गुण आत्मिक शुभ के अभिन्न तत्व हैं। इस आधार पर अरस्तू का निष्कर्ष है कि ''राज्यों तथा व्यक्तियों दोनों ही के लिए जीवन का सर्वश्रेष्ठ मार्ग शुभतापूर्ण जीवन है।'' अरस्तू के विचारानुसार आदर्श संविधान वह है जिसमें दार्शनिक वृत्ति तथा व्यावहारिक गुणों से सम्पन्न सभी प्रकार में लोगों को ऐसे अवसर मिलें जिससे कि वे अपने श्रेष्ठतव को प्राप्त कर सकें तथा सुखी जीवन जी सकें।

आदर्शराज्य के आवश्यक तत्व

1. जनसंख्याः- आदर्श राज्य के लिए अरस्तू इतनी जनसंख्या को आवश्यक मानता है जो कि आकार अथवा मात्रा में न हो और न ही कम। राज्य की आबादी इतनी पर्याप्त होनी चाहिए जिसमें कि राज्य के नागरिकता के कार्यो का निष्पादन भली प्रकार से हो सके। राज्य के सिविल कार्य यह निर्धारित करते हैं कि राज्य की आबादी कितनी होनी चाहिए। अधिक आबादी राज्य की महानता का परिचायक नहीं होती। अतः अरस्तू की सिविल कार्य को करने में एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप में पहचान सकें तथा राज्य को आत्मनिर्भर बने रहने में सहयोग दे सकें।

राज्य का भू-प्रदेशः- अरस्तू के अनुसार राज्य का भू-प्रदेश भी जनसंख्या के समान न हो तो बहुत कम हो और न ही अत्यधिक बड़ा। राज्य की भूमि इतनी हो जिस पर कि नागरिक अवकाश का जीवन बिता सकें नागरिकों के भरण-पोषण से सम्बन्धित इतनी फसल उस भूमि पर उत्पन्न हो, जिससे कि वे अपना जीवन आत्म निर्भरता, मित्राचार तथा उदारता के साथ जी सकें। भूमि के सर्वेक्षण के आधार पर राज्य की सुरक्षा का प्रबंध किया जा सकता है। नगर की आयोजना की जा सकती है तथा आर्थिक एवं सैनिक दृष्टि से तथा उसके आस-पास के इलाकों के साथ संबंधों का निर्धारण किया जा सकता है।

राज्य की सामाजिक संरचनाः-अरस्तू आदर्श राज्य के आवश्यक तत्वों में राज्य की समुचित सामाजिक संरचना को भी एक आवश्यक तत्व मानता है। वह राज्य की संरचना के दो प्रमुख आधार मानता है। 'समाकलन अंग' ; तथा उनके 'सहायक सदस्य' ; वह नागरिकों को 'समान अंग' के रूप में मानता है। दासो और अन्य सेवाओं को करने वालों कृषकों तथा औजार इत्यादि बनाने वालों को वह 'सहायक सदस्यों' के नाम से पुकारता है। नागरिक राज्यों के कार्यों में भाग लेते हुए श्रेष्ठ जीवन प्राप्त करते है। सहायक सदस्य उस श्रेष्ठ जीवन की सुविधओं और सेवाओं की व्यवस्था करते हैं। राज्य की संरचना के इन दोनों अंगों द्वारा सेवाओं को समाज के लिए प्रदान किया जाना आवश्यक है। ये सेवाएं इस प्रकार है- कृषि, कला एवं शिल्प, राज्य की सुरक्षा, भू-स्वामित्व, सार्वजनिक पूजा तथा नागरिक एवं राजनैतिक जीवन की सेवा। आदर्श राज्य की सामाजिक संरचना इतनी सक्षम हो कि जीवन की इन आवश्यकताओं की पूर्ति उसकी संस्थाओं द्वारा की जा सके। इन सेवाओं की पूर्ति के लिए अरस्तू ने यहां तक भी निश्चित किया है कि कौर सी सेवा किसके द्वारा निष्पादित की जायेगी।

4- आदर्श राज्य की शिक्षा व्यवस्थाः- प्लेटो की भॉति अरस्तू की भी यह मूल धारणा है कि शिक्षा वह उचित साधन है जिसके द्वारा नागरिकों को विवेकशील बनाया जाता है तथा उनके स्वभाव में सदगुणों के जीवन के आदर्शों के अनुसार ढ़ालने की व्यवस्था है। अरस्तू प्लेटो की भॉति नागरिकों तथा शासकों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा- योजना प्रस्तुत नहीं करता अपितु एक ही प्रकार की शिक्षा-प्रणाली की व्यवस्था करता है। उसकी यह धारणा है कि सभी व्यक्ति समाज में एक समान स्वतन्त्र नागरिक है। उसकी शिक्षा प्रणाली अवश्य ही आयु के आधार पार व्यक्तियों के भेद को स्वीकार करती है। उसकी मान्यता है कि बाल्यवस्था के लोगों के लिए तदनुकूल शिक्षा हो तथा प्रौढ़ो के लिए उनकी आयु के अनुसार शिक्षा हो। समाज के बड़े लो शासन के कार्यों से जुड़े रहते है किन्तु जो तरूण है वे शासनाधीन रहते हैं। आज के तरूण ही कल के शासक होगें। अतः उन्हें अपने स्वतन्त्र राज्य की आज्ञाओं का पालन करना सीखना आवश्यक है। संक्षेप में, शिक्षा का उद्देश्य 'उत्तम नागरिक' तथा 'उत्तम व्यक्ति' का निर्माण करना है। अरस्तू सभी नागरिकों के लिए एक समान शिक्षा योजना का स्थापना करना आवश्यक है। स्पष्ट है कि अरस्तू शिक्षा प्रणाली को राज्य के नियन्त्रण में रखने के पक्षपाति है। नागरिकों को जीवन उसके स्वयं के जीवन तक ही सीमित रहता है अपितु राज्य के अन्य सदस्यों से जुड़ा रहता है। इस सामाजिक पक्ष को ध्यान में रखते हुए अरस्तू स्पार्टा की राज्य द्वारा नियंत्रित शिक्षा-पद्धति का समर्थन अपने शिक्षा सिद्धान्त में करता है।

5- विधि के शासन की श्रेष्ठताः- अरस्तू की दृष्टि में व्यक्ति के शासन की अपेक्षा विधि का शासन सदैव श्रेष्ठ रहता है। विधि का शासन तथा समुचित व्यक्तिगत सम्पत्ति अरस्तू के आदर्श राज्य के आधार-स्तम्भ है। मध्यम वर्ग की श्रेष्ठता के साथ ही अरस्तू विधि के शासन की श्रेष्ठता को भी आदर्श राज्य का आवश्यक तत्व मानता है। अरस्तू प्लेटो की विधि से मुक्त दार्शनिक शासन की धारणा को दोषपूर्ण मानता है।

संक्षेप में, अरस्तू द्वारा प्रस्तुत आदर्श राज्य की यही रूप रेखा है। अरस्तू के आदर्श राज्य की धारणा का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि उसका चिन्तन केवल व्यवहारपरक ही नहीं, अपितु आदर्श तत्वों से भी मुक्त होता है। यही आदर्श तत्वों की समानता है जो प्लेटो और अरस्तू को, उनके विचारों में कई प्रश्नों पर असामानता होते हुए भी, उन्हें एक धरातल पर लाकर खड़ा कर देती है। दोनों ही विचारों को लक्ष्य यही कि ऐसे आदर्श राज्य की खोज की जाय जो व्यक्ति को श्रेष्ठ नैतिक जीवन की उपलब्धि करा सकें।

3.14 पॉलिटी (वैद्यानिक लोकतन्त्र)

अरस्तू की दृष्टि में विभिन्न प्रकार के सावधानों में पॉलिटी सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक संविधान है। पॉलिटी में मध्यम वर्ग के लोगों का बाहुल्य रहता है। अरस्तू के दर्शन में मध्य-मार्ग के प्रति गहरी आस्था है। अरस्तू की ऐसी मान्यता है कि वह राजनैतिक समाज सर्वश्रेष्ठ होता है जिनमें मध्यम वर्ग के नागरिकों का वर्चस्व होता है। वे राज्य सुशासित रहते है जिनमें मध्यम वर्ग विशाल मात्रा में पाया जाता है। अरस्तू का यह दृढ़ विश्वास है कि मध्यम वर्ग राज्य का मेरूदण्ड होता है। जिस राज्य की सम्प्रभु शान्ति मध्यम वर्ग में होती है, उस राज्य में स्थायित्व होता है। उपयुक्त आधारों पर अरस्तू इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि अन्य शासकों की अपेक्षा व्यावहारिकता की दृष्टि से पॉलिटी एक आदर्श शासनस व्यवस्था है क्योंकि इसमें मध्यम वर्ग की श्रेष्ठता रहती है।

अभ्यास प्रश्न

1. अरस्तू को किसने ''प्रथम राजनैतिक वैज्ञानिक कहा है''?

2. पॉलिटिक्स की रचियता कौन है ?

3. राजनीति शास्त्र के अध्ययन में तुलनात्मक पद्धति का जनक किसे कहा जाता है ?

4. ''स्त्री-पुरूष तथा स्वामी और दास के योग से जो समूह बनता है वही परिवार है। '' किसने कहा है?

3.15 सारांश

उपरोक्त अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि अरस्तू ने यूनानी राजनीति एवं राजनीतिक संस्थाओं का वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया था। अरस्तू ने यूनान के 158 राज्यों के संविधानों की आगमनात्मक पद्धति से तथ्यों को एकत्र कर उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। इसके साथ ही उसने राज्य की उत्पत्ति और उसके स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया है \जिसमे वह कहता है कि -राज्य एक ऐसा समुदाय या संघ है जिसका अपना एक विकास क्रम होता है परिवार मिलकर ग्रामों का निर्माण करते है और जब ग्राम के समुदाय बनते है तो राज्य की उत्पत्ति होती है। राज्य ''समरूप व्यक्तियों के श्रेष्ठ जीवन की प्राप्ति के लिए संस्था है।''

अरस्तू अपने समय में प्रचलित सामाजिक परम्पराओं से अपने को पूरी तरह से पृथक नहीं कर पाया और दासता सम्बन्धी विचारों को प्रस्तुत करता है। अरस्तू परिवार में पति-पत्नी, माता-पिता और सन्तान तथा स्वामी और दास मानता है। इस प्रकार अरस्तू दासतासंबंधी विचार में प्रगतिशील है क्योंकि वह उन्हें परिवार का अभिन्न अंग भी मानता है।

अरस्तू के नागरिकता सम्बन्धी विचारों को भी बड़े ही विस्तार से प्रस्तुत करता है जिसमें महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि नागरिकता निवास स्थान से यह तय नहीं होती थी क्योंकि स्थानीय बाहरी और दास नागरिको के साथ रहते हुए भी नागरिक नहीं थे। न ही नागरिकता सामाजिक अधिकारों में हिस्सेदारी से परिभाषित होती थी। नागरिक वह था जिसे विचार विमर्श या न्यायिक पदों में हिस्सेदारी हासिल थी और जो अपने राजनैतिक अधिकारों का प्रभावशाली प्रयोग कर सकता था।

जैसा कि हम स्पष्ट कर चुके है कि 158 संविधानो का अध्ययन कर अरस्तू ने सविधान के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट किये है जिसमें वह 'संविधान' को राज्य का निर्धारक तत्व मानता है। और वह कहता है कि संविधान का स्वरूप ही है जो राज्य के स्वरूप की पहचान कराता है।

अरस्तू की न्याय की धारणा में सामाजिक नैतिकता तथा कानूनी दायित्व के तत्वों का समावेशन है। न्याय व्याख्या करते हुए अरस्तू लिखता है कि 'न्याय सदगुण का व्यावहारिक प्रयोग है।'' इसका अर्थ यह है कि अरस्तू की दृष्टि में 'सदगुण और न्याय' पर्यायवाची है।

इसके अतिरिक्त अपने गुरू प्लेटो के विपरीत अरस्तू मानता है कि कुटुम्ब एवं सम्पत्ति को राज्य की एकता के नाम पर समाप्त नहीं किया जा सकता, जैसा कि प्लेटों ने अपनी साम्यवाद की योजना में किया है। अरस्तू प्लेटों के कुटुम्ब और सम्पत्ति सम्बन्धी विचारों की आलोचना करते हुए कहता है कि कुटुम्ब तथा निजी सम्पत्ति व्यक्ति के लिए परम आवश्यक है। अरस्तू के कुटुम्ब और सम्पत्ति विणयक विचारों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि उसका वैचारिक दृष्टिकोण व्यक्तिवादी एवं मानवीय आवश्यकताओं को समझने वाला यथार्थवादी दृष्टिकोण है।

अरस्तू प्लेटो के विपरीत राज्य में विधि की सम्प्रभुता होनी चाहिए। उसकी मान्यता है कि निजी शासन, चाहे वह एक व्यक्ति को हो अथवा अनेक व्यक्तियों का, विधि के शासन समान श्रेष्ठ नहीं हो सकता। कानून का शासन पूर्व-निश्चित लिखित नियमों द्वारा संचालित होता हैं कानून के शासन में मनमानी तत्व का अभाव रहता है |

इसके अतिरिक्त अरस्तू ने परिवर्तन की प्रवृत्तियों का भी अध्ययन किया और क्रांति के सन्दर्भ में अपने विचार विस्तार से व्यक्त किये है |

अंततः उसने आदर्श राज्य की धरना प्रस्तुत की है जिसमे उसने एक आदर्श राज्य के लिए आवश्यक तत्वों जैसे किस प्रकार की भौगोलिक संरचना हो .कितनी जनसंख्या हो और किस प्रकार की की संवैधानिक व्यस्था हो इस पर विस्तार से अपने विचार व्यक्त किये है |

3.16 शब्दावली

1. राजतन्त्र- ऐसी शासन-व्यवस्था जिनमें शासन की शक्ति या प्रभुसत्ता एक ही व्यक्ति, अर्थात राज या रानी के हाथों में रहती है।

2. पॉलिटी- ऐसी शासन-प्रणाली जिनमें शासन की शक्ति निर्धन एवं साधारण लोगों के हाथों में रहती है।

3. सम्प्रभु- किसी राज्य के अर्न्तगत वह व्यक्ति या निकाय जिसे देश के समस्त क्षेत्र और समस्त व्यक्तियों पर सर्वोच्च अधिकार प्राप्त हो।

3.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. मैम्सी 2. अरस्तू 3. अरस्तू 4. अरस्तू

3.18 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.डॉ.बी.एल. फाड़िया, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, साहित्य भवन पब्लिकेषन, आगरा।

2. डॉ. जे.सी. जौहरी, राजनीति विज्ञान, एस.बी.पी.डी. पब्लिकेशन, आगरा।

3. जे.पी.सूद, पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास (भाग प्राचीन एवं मध्यकालीन) के. नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ।

3.19 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. जीवन मेहता, राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, 1985 साहित्य भवन आगरा।

3.20 निबन्धात्मक प्रश्न

1.अरस्तू के सम्पत्ति और परिवार सम्बन्धि विचारों की व्याख्या कीजिए?

2. अरस्तू के राज्य तथा सरकार में क्या अंतर बताया है? अरस्तू के सरकार के वर्गीकरण का भी वर्णन कीजिए?

3. प्लेटो तथा अरस्तू के न्याय की कल्पना की तुलना कीजिए तथा अपने विचार भी बताईये?

4. अरस्तू के शिक्षा सम्बन्धि विचारों की व्याख्या कीजिए?

5. अरस्तू के न्याय सिद्धान्त की विवेचना कीजिए?

इकाई : 4 प्राचीन भारतीय चिन्तन , विशेषतायें

इकाई की संरचना

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 चिन्तन का आशय एवं महत्व
4.3.1 चिन्तन के विविध नाम
4.3.2 चिन्तन का महत्व
4.3.3 चिन्तन के स्त्रोत
4.3.3.1 देशी स्त्रोत
4.3.3.2 विदेशी स्त्रोत
4.3.3.3 पुरातत्व, अभिलेख, मुद्राएं, स्मारक, मूर्तियां, स्तूप
4.4 चिन्तन का विकास
4.4.1 विकास के चरण
4.4.2 भारतीय चिन्तन की विशेषतायें
4.5 सारांश
4.6 शब्दावली
4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची
4.9 सहायक/उपयोगी पाठ सामग्री
4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय चिन्तन का इतिहास अत्याधिक प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारम्भ होकर मुगल काल तक माना जाता है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि गुलामी के समय इस भ्रम को फैलाया गया कि प्राचीन भारतीय चिन्तन अति साधारण स्तर का है। कुछ विद्वानों ने इसे आदर्शवादी अव्यवहारिक माना। भारत के वेद पुराण उपनिषद प्राचीन भारतीय चिन्तन के उत्कर्ष उदाहरण है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र चिन्तन के आद्युनिक स्वरूप का आदर्श उदाहरण है। प्लेटो के समकालीन कौटिल्य का दर्शन व्यावहारिक है। भारतीय चिन्तन व्यावहारिक ही नहीं अत्याधिक उपयोगी है। भारतीय चिन्तन का मूल मानव है व मानव के चारों ओर घूमता है। पाश्चात्य चिन्तन में मानव 18वीं शताब्दी में केन्द्रबिन्दु बना। जबकि भारतीय चिन्तन में यह प्रारम्भ से ही है। भारतीय चिन्तन को विभिन्न नामों से पुकारा जाता है। कभी इसे राजधर्म, राजशास्त्र , दण्डनीति तथा नीतिशास्त्र के नाम से जाना जाता है। पंचतंत्र में इसे नृपतंत्र कहा जाता था।

प्राचीन भारतीय चिन्तन के अनेक स्रोत है इसमें मुख्य रूप से प्राचीन साहित्य , वेद पुराण , धर्मशास्त्रों , उपनिषदों, महाकाव्यों , जैन ग्रन्थों तथा बौद्ध जातकों को शमिल किया जाता हैं। इसके अलावा समय-समय पर विभिन्न रचनाओं जैसे अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, शुकनीति ने भी इसमें योगदान दिया है। इसमें ह्वेनसांग एवमं फाहयान का विवरण भी उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त पुरातन अवशेष गुफालेख, शिलालेख, स्तंभलेख, ताम्रलेख आदि को शामिल किया जाता है। प्राचीन भारतीय चिन्तन के स्रोत के रूप में मुद्राओं की भी महत्वपूर्ण भूमिका रहीं है।

प्राचीन भारतीय चिन्तन में धर्म एवं राजनीति को एक साथ जोड़कर देखा जाता है। इसमें आध्यात्मिकता पर बल है। भारतीय चिन्तन में राज को आवश्यक माना जाता है। इसमें राज का कार्यक्षेत्र अत्यंत व्यापक है। इसमें दण्ड की कठोर की व्यवस्था है। सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय चिन्तन का दृष्टिकोण व्यावहारिक हैं और राजा का कार्यक्षेत्र व्यापक है।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम प्राचीन भारतीय चिन्तन -

1. को समझ सकेंगे ।

2.के मुख्य स्रोतों के बारे में जान सकेंगे ।

3. की मुख्य विशेषताओं को जान सकेंगे ।

4. पर देशी प्रभाव तथा विदेशी प्रभाव को समझने में भी सहायता मिलेगी ।

5.और पाश्चात्य राजनैतिक चिन्तन के अन्तर को समझ सकेंगे

4.3 चिन्तन का आशय एवं महत्व

प्राचीन भारतीय चिन्तन का इतिहास अति प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारम्भ होकर मुगलकाल तक माना जाता है। आज से हजारों वर्ष पूर्व जब दुनिया में चिन्तन का विस्तार नहीं हो पाया था उस समय भी भारतीय राजनैतिक एवं सामाजिक चिन्तन सर्वोच्च शिखर पर था। यह गौरवशाली परम्परा वैदिक काल से आज तक बनी हुई है।

औपनिवेशिक काल में कतिपय पाश्चात्य विचारकों ने इस भ्रम को फैलाया कि भारत का प्राचीन चिन्तन अति साधारण है इसमें कुछ भी उल्लेख करने योग्य नहीं है। उनमें से कुछ विद्वानों ने इसे निरा आदर्शवाद, अव्यवहारिक रहस्यवाद से भरा हुआ बताया। इस भ्रम को मैक्स मूलर, डनिग जैसे पूर्वाग्रह से ग्रस्त विद्वानों ने आगे बढ़ाया । समय गुजरने के साथ नये तथ्य सामने आये और फैलाया गया भ्रम टूट गया। नये तथ्यों ने स्पष्ट किया कि प्राचीन भारतीय चिन्तन पाश्चात्य राजनैतिक चिन्तन से अत्यधिक प्राचीन एवं प्रासंगिक है। भारत में प्लेटो एवं अरस्तू से शताब्दियों पूर्व राजनैतिक का व्यापक विवरण मिलता है। भारत के वेद, पुराण, एवं उपनिषद प्राचीन भारतीय चिन्तन की उत्कृष्ट नमूने है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र चिन्तन के आधुनिक स्वरूप का उदाहरण है। अरस्तू के समकालीन कौटिल्य का सम्पूर्ण दर्शन व्यवहारिक है तथा यह सिद्ध कारता है कि भारत का चिन्तन कहीं भी पीछे नहीं है। यहां पर मैक्सी का कथन प्रासगिंक हो जाता है जब वह कहते है-''हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारत का राजनैतिक इतिहास यूरोप के राजनैतिक इतिहास से अधिक प्राचीन है और राजनैतिक विचारों की दृष्टि से निष्फल भी नहीं है।''एशियाटिक सोसायटी के उदय के साथ स्थिति में बदलाव प्रारम्भ हुआ। ब्रिटेन की बदली परिस्थितियों में भारतीयों की संस्कृति एवं इतिहास की जानकारी की आवश्यकता महसूस की गई। यहीं से भारतीय चिन्तन का नया स्वरूप दुनिया के सामने आया।

4.3.1 चिन्तन का महत्व

दुनिया में अनेक विद्वान राजनैतिक चिन्तन को अनुपयोगी एवं हानिपद्र मानते है। इसमें मुख्य रूप से बेकन, लेस्ली, स्टीफन, बर्क, डनिंगआदि प्रमुख हैं। स्टीफन तो कहता है कि -''वे देश भाग्यशाली है जिनके पास कोई राजनैतिक दर्शन नहीं है क्योंकि ऐसा तत्व चिन्तन निकट भविष्य में होने वाली क्रान्तिकारी उथलपुथल का सूचक होता है।'' डनिंग का स्पष्ट मत था कि -'' जब कोई राजनैतिक पद्धति राजनैतिक दर्शन का स्वरूप ग्रहण करने लगे तो समझ लेना चाहिए कि उसके विनाश की घड़ी आ गई है।''

उपरोक्त कथन चिन्तन को अनुपयोगी मानते है। वे इसे आदर्शवादी, काल्पनिक भ्रम पैदा करने वाला मानते है। वे तर्क देते है कि अच्छे विचारक प्रायः अच्छे शासक नहीं होते हैं। वे कहते हैं कि सैद्धान्तिक ज्ञान व्यवहारिक नहीं होता है तथा व्यवहारिक ज्ञान सिद्धान्त पर खरा नहीं उतरता है। प्लेटो इसका आदर्श उदाहरण है। वह अपने आदर्श राज्य को मूर्त रूप देने में पूर्णतः असफल रहा। इसका दूसरा दोष यह है कि अधिकांश विचार परिस्थिति जन्य होते हैं। अतः उनका सामान्यीकरण करते हुए सिद्धान्त नहीं बनाया जा सकता। राजनैतिक दर्शन में हाल्स, रूसो तथा मैकियावेली के मानव संबंधी विचार तत्कालीन समाज की देन थे। कतिपय यही कारण था कि तत्कालीन परिस्थितियों में उपजी निराशा, हताशा ने उनके विचार को मानव के प्रति नकारात्मक बना दिया था। उपरोक्त दोष के होते हुए भी चिन्तन का अध्ययन मानवोपयोगी है। इससे होने वाले लाभ निम्न है-

1.राज्य और उसका मूर्त रूप सरकार है। यह मानव से निर्मित है तथा मानव के इर्द-गिर्द ही घूमता है। अतः मानव के संबंध में विचार करना, विभिन्न प्रश्नों पर विचार करना सदैव से मानव तथा समाज के लिये लाभदायक रहा है।

2.राजनीतिक चिन्तन का मानव के साथ घनिष्ट संबंध रहा है। विद्वानों द्वारा समय-समय पर प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों ने मानव को बहुत लाभ पहुंचाया है। रूसो के विचारों ने 18 वीं शताब्दी में फ्रांसीसी क्रान्ति को जन्म दिया और इसी क्रान्ति से समानता, स्वतन्त्रता तथा भाईचारे का विचार सामने आया। मार्क्स ने 20वीं शताब्दी में ''बोल्शेविक क्रान्ति'' को जन्म दिया। इसी से साम्यवादी विचारधारा का उदय हुआ।

3.राजनीतिक चिन्तन से एक अलग प्रकार का लाभ यह होता है कि यह विभिन्न प्रकार की गई शब्दावलियों, सिद्धान्तों को जन्म देता है। इसमें प्रमुख्य रूप से राष्ट्रीयता, लोककल्याणकारी राज्य, व्यक्तिवाद, पंथनिरपेक्षता आदि प्रमुख है।

4.राजनीतिक चिन्तन के अध्ययन से एक अन्य लाभ यह होता है इससे हमें ऐतिहासिक घटनाओं को समझने और उसकी व्याख्या करने में सहायता मिलती है।

5.इससे वर्तमान घटनाओं को समझने में सहायता मिलती है। वर्तमान समस्याओं की जड़ सदैव इतिहास में रहती है। अतः उसका निवारण भी इतिहास से आता है। चिन्तन समस्या का निवारण ही नहीं करता वरन् भविष्य में आने वाली समस्याओं का हल एवं मार्गदर्शन प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि चिन्तन का अध्ययन प्रत्येक दृष्टि से लाभप्रद है। यह स्वभाविक प्रक्रिया है जो लम्बे समय से चली आ रही है।

4.3.2 चिन्तन के विविध नाम

राजनीतिक चिन्तन को प्राचीन समय में विभिन्न नामों से पुकारा जाता था। यह समयानुसार न केवल नाम वरन् अपनी लोकप्रियता को खोता एवं पाता रहा है। यहां पर प्रो0 अलतेकर का कथन प्रांसगिक हो जाता है जब वह कहते है-''राजधर्म, राजशास्त्र, दण्ड नीति, नीतिशास्त्र अर्थशास्त्र आदि नामों से प्राचीन भारत में राजनीति शास्त्र को संबोधित किया गया है।'' विभिन्न धार्मिक ग्रन्थों में इसके विविध नाम दिखायी पड़ते है जैसे विभिन्न स्मृतियों में इसे राजधर्म, महाभारत में इसे राजशास्त्र , दण्डनीति तथा अर्थशास्त्र कहा गया। पंचतत्र में इसे नृपतंत्र कहा गया। इसको दण्डनीति पुकारने का आधार भी बहुत स्पष्ट है। बहुत से विद्वान राजसत्ता का अंतिम आधार दण्ड को ही मानते है। वे मानते है कि राजनैतिक सत्ता यदि कानून तोड़ने वालों को दण्ड नहीं देगी तो अराजकता उत्पन्न हो जायेगी। अतः दण्ड द्वारा ही भय उत्पन्न कर व्यवस्था लायी जा सकती है। अतः राजनीतिक चिन्तन को दण्ड नीति का पुकारा गया।

कौटिल्य ने इस धारणा को अस्वीकार किया। उसकी मान्यता थी कि दण्ड से भय उत्पन्न होता है। वे कहते है कि कानून तोड़ने वालों को दण्डित करने से जनता स्वतः कानूनों का पालन करने की ओर बढ़ती है। मनु ने दण्ड देने वाली मानवीय सत्ता को राजा नहीं माना वरन् दण्ड को शासक माना। ऐसे में शासक को कर्तव्य तथा समाज को बताने वाले शास्त्र को दण्डनीति के नाम से जाना जाता है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र वास्तव में शासननीति का ही विवरण था।

नीतिशास्त्र शब्द में नीति का अर्थ सही मार्ग दिखाने से लिया जाता है। उचित अनुचित में अंतर बताने वाला शास्त्र नीतिशास्त्र के नाम से जाना जाता है। भर्तृहरि का प्रसिद्ध नीति शतक उस विशाल अर्थ में नीति की चर्चा करता है। कामदंक एवं शुक्र के शासन संबंधी ग्रन्थ नीति शास्त्र के नाम से जाना जाता है। वे इसे राज्य शास्त्र या दण्ड नीति के नाम से नहीं पुकारते हैं। कौटिल्य ने अपने शासन संबंधी ग्रन्थ को अर्थशास्त्र कहा। कौटिल्य की मान्यता थी कि 'अर्थ' शब्द से व्यक्ति का व्यवसाय स्पष्ट होता है। साथ ही वह भूमि भी इंगित होती है जिस पर रहकर व्यवसाय

किया जाता है। अतः उस भूमि को प्राप्त करना तथा उसको बनाये रखने का शास्त्र ही अर्थशास्त्र है। शुक्रनीति में स्पष्ट किया गया है कि अर्थशास्त्र का क्षेत्र ने केवल संपति प्राप्ति के उपायों की चर्चा करना है वरन् शासन शास्त्र के सिद्धान्तों को भी स्थापित करना है। क्रामन्दक के समय में जो नीति शब्द राज्य की नीति के संबंध में प्रयुक्त किया जाता था वहीं जब सामान्य आचरण के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा है। राजनीति तो इसका एक हिस्सा है। ऐसे में राज्य से संबंध रखने वाले नियमों तथा तथ्यों को आचरण के अन्य पहलूओं से अलग दिखाने के लिये नीति शब्द के साथ ''राज'' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। डा0 भण्डारकर के शब्दों में-'' जब नीति शब्द का प्रयोग सामान्य आचरण के नियमों के लिये किया जाने लगा तो यह आवश्यक हो गया कि उनको राजा के आचरण नियमों से अलग करने के लिये राजनीतिक शब्द का प्रयोग किया जाय।''

प्राचीन भारत में राजशास्त्र का व्यापक प्रभाव रहा है। महाभारत में स्पष्ट किया गया है जिस प्रकार हाथी के पैर में सबका पैर आ जाता है उसी प्रकार राजशास्त्र में सभी शास्त्र आ जाते है। यह संकुचित विषय न होकर व्यापक विषय था। इसमें आने वाले विषय को धर्म से अलग नहीं रखा गया था। इसमें सामाजिक व्यवस्था, धर्म और राजा की सत्ता आदि के साथ ग्रन्थ कई बातें सम्मिलित थी। इसमें जनकल्याणकारी कार्य भी शामिल थे।

4.3.3 चिन्तन के स्रोत

प्राचीन भारतीय चिन्तन के अनेक स्रोत है। इसमें मुख्य रूप से प्राचीन साहित्य जैसे वेद, पुराण, धर्म सूत्रों, धर्म शास्त्रों, उपनिषेदों, महाकव्यों, जैन ग्रन्थों तथा बौद्ध जातक शमिल हैं। इनके अतिरिक्त समय-समय पर विभिन्न विद्वानों की रचनाओं जैसे कौटिल्य का अर्थशास्त्र, कांमदकीय नीतिशास्त्र, शुक्र नीति आदि प्रमुख हैं। इसी समय अनेक शासकों के समय विदेशी विद्वानों ने उनके राज्य का न केवल भ्रमण किया वरन् व्यापक सामायिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनैतिक विश्लेषण अपने ग्रन्थों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया। इसमें फाह्यान एवं ह्वेनसांग का विवरण उल्लेखनीय है। कुछ संस्कृत के विद्वानों जैसे पाणिनी के व्याकरण, अष्टध्यायी, कालीदास के रघुवंश, विशाखदत्त के मुद्रा राक्षस से भी जानकारी मिलती है। यहां पर डा0 जयसवाल का कथन प्रासंगिक हो जाता है-'' हमें इस विषय का ज्ञान कराने वाले साधन हिन्दू साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में मिलते हैं। वैदिक संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थों और इस देश के शिलालेखों तथा सिक्कों में रक्षित लेखों में हमें इस विषय की बहुत सी बातें प्राप्त होती है। सौभाग्य से इस समय हिन्दू राजनीति शास्त्र के कुछ मूल ग्रन्थ भी उपलब्ध है।''

भारतीय चिन्तन के स्रोत को अध्ययन की सुविधा के लिये निम्न भागों में बांट सकते हैं-

1. देशी अथवा भारतीय स्रोत
2. विदेशी स्रोत

4.3.3.1 देशी स्रोत

देशी अथवा भारतीय स्रोत में अनैतिहासिक साहित्य एवं इतिहास परक साहित्य दोनों शामिल हैं। इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण वैदिक साहित्य हैं जिसमें मुख्य रूप से वेद उनकी संहितायें, ब्राहमण ग्रन्थ और सूत्र सम्मिलित है। वैदिक साहित्य के बाद महाकाव्यों जैसे रामायण, महाभारत का स्थान आता है। इसके अतिरिक्त अन्य धर्म के साहित्य जैसे बौद्ध साहित्य, जैन साहित्य आदि का भी उल्लेखनीय योगदान है। भारतीय चिन्तन की स्पष्ट झलक कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र में भी दिखाती है। भारतीय चिन्तन के भारतीय स्रोत निम्नलिखित है-

1.वेदः- भारतीय धार्मिक साहित्य के सबसे प्राचीन ग्रंथ वेद हैं। यह चार भागों में हैं जिनको ऋगवेद , सामवेद, यजुर्वेद तथा यर्थववेद आदि हैं। इनमें वेदों के माध्यम से शासन तथा राज्य की उत्पति के सिद्धान्तों का पता चलता

है। इसमें राजा के अधिकार, राजा-प्रजा संबंध तथा शासन नीतियों का विस्तृत मिलता है। वास्तव में वेद प्राचीनतम स्त्रोत है। इनसे तत्कालीन राजनीति तथा पद्धति का अच्छा ज्ञान होता है।

2.ब्राह्मण तथा उपनिषदः- वैदिक मंत्रों तथा संहिताओं की गटा टीकाओं को ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मण साहित्य में मुख्य रूप से तटेय, पंचविश, शतपथ, तैतरीय आदि महत्वपूर्ण हैं।

उपनिषेदों के द्वारा तत्कालीन समाज, शासन तन्त्र, राजा प्रजा संबंधों का पता चलता है। उपनिषेदों की संख्या बहुत है। इसमें मुख्य रूप से वृहदारण्यक, छान्दोग्य, श्वेताखतर, केन, कट, प्रश्न, मुण्डक आदि प्रमुख हैं। इनमें विम्बसार के पूर्व की राजनैतिक दशा का ज्ञान होता है।

3.महाकाव्यः-वैदिक साहित्य के बाद साहित्य के दो स्तम्भों रामायण था महाभारत की रचना होती है। प्राचीन भारतीय सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक दशा को सामने लाने का श्रेय इन ग्रन्थों को है। रामायण के रचियता वाल्मिकी ने भगवान राम के चरित्र वर्णन से सम्पूर्ण समाज का चित्र ही उकेर कर रख दिया है। महाभारत में शांति पर्व के राजधर्म पर्व के अध्यायों में राजा के कर्तव्य तथा राज्य के साथ संबंधों का वर्णन है। यह प्राचीन चिन्तन को मजबूत करते हैं।

4.पुराणः- महाकाव्यों के साथ पुराण अपने समय की ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करते है। ये महाकाव्यों के समकालीन हैं। इसमें आदिम काल से गुप्तकाल की समस्त सामग्री का उल्लेख है। विष्णु पुराण मौर्य वंश के विषय में, मत्स्य पुराण आंध्र वेश के विषय में व्याख्या करते हैं। वायुपुराण में गुप्तों के विषय में जानकारी उपलब्ध कराते हैं। वायु पुराण में ही सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था की उत्पति का वर्णन है। राजनैतिक दृष्टि से अग्नि पुराण का महत्व सर्वाधिक है जिसमें शासन का जनकल्याण का आधार बताया गया है। मार्कण्डेय पुराण में सामाजिक वर्ण व्यवस्था के नियमों के पालन तथा जनकल्याण पर बल दिया गया है।

5.स्मृतियाँ- ऐतिहासिक उपयोगिता के दृष्टिकोण से स्मृतियों का विशेष महत्व है। मनु, विष्णु, याज्ञवल्वय, नारद, बृहस्पति, पराशर, आदि की स्मृतियाँ महत्वपूर्ण हैं। ये धर्मशास्त्र के नाम से विख्यात हैं। इन स्मृतियों में साधारण वर्णाश्रम, धर्म, राजा के कर्तव्य, प्राचश्चित आदि का विस्तृत विवरण है।

6.जैन साहित्यः- जैन साहित्य प्राचीन चिन्तन को प्रमाणित करता है। मुख्य रूप से जैन साहित्य प्राकृत भाषा तथा संस्कृत भाषा दोनों में उपलब्ध है। जैन सूत्रों में इतिहास की अनेक उपयोगी सामग्री है। जैन साहित्य में ऐतिहासिक दृष्टि से आचार्य हेमचन्द्र लिखित ''परिशिष्ट पर्वन'' बहुत महत्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में महावीर के काल से मौर्यकाल का विस्तृत विवरण मिलता है। भद्रवाहु चरित नामक दूसरे ग्रन्थ में भद्रबाहु से लेर चन्द्रगुप्त मौर्य तक बहुत जानकारी मिलती है।

7.बौद्ध साहित्यः- बौद्ध धर्म में तीन प्रमुख ग्रन्थ है। जिन्हें त्रिपटक के नाम से जाना जाता है। इनमें संत पिटक, धम्म पिटक और विनय पिटक आदि है। इसमें बुद्ध के उपदेशों का संग्रह है। इससे तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। निकाय एवं जातक ग्रंथों में तत्कालीन एवं पूर्ववर्ती समाज का उल्लेख है। बौद्ध धर्म ग्रन्थ दिव्यावदान, ललिताविस्तार, महावस्तु, मंजुशी आदि संस्कृत हैं। इसके अतिरिक्त अश्वेघोष का बुद्ध चरित वसुवंधु का धर्म कोष, नागार्जुन का माहययिका सूत्र महत्वपूर्ण ग्रन्थ है।

8.लौकिक साहित्यः- लौकिक साहित्य तत्कालीन समाज का विभिन्न काल खण्ड में चित्रण करते हैं। इसमें कालीदास की रचनायें, पाणिनी की रचनायें, पतंजलि की रचनायें प्रमुख हैं। उक्त विद्वानों ने अपनी रचनाओं जैसे पाणिनी की अष्टध्यायी तथा पंतजलि की व्याकरण महाभाष्य के द्वारा तत्कालीन समाज का चित्र खींचा।

9.कौटिल्य का अर्थशास्त्रः- कौटिल्य का ”अर्थशास्त्र” भारत का ही नहीं वरन् विश्व के प्रमुख राजनैतिक ग्रन्थों में से एक था। इसे राजनीति शास्त्र का आधार माना जाता है। ”अर्थशास्त्र” में राजा को वेद तथा तत्वज्ञान आदि विषय का अध्ययन करने को कहा गया है। सलटोरो के शब्दों में - ‘‘प्राचीन भारत की राजनीतिक विचारधाराओं में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य कौटिल्य की विचारधारा है।’’

10.नीतिशास्त्रः- नीतिशास्त्रों में कांमदकीय नीतिशास्त्र तथा शुक्रनीति सार का महत्वपूर्ण योगदान है। कौटिल्य के बाद राज्य एवं शासन पर लिखे ग्रन्थों में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। कांमदनीय नीतिसार गुप्तकाल में 500ई0 के आसपास लिखा गया। शुक्रनीति भी तत्कालीन शासन व्यवस्था का वर्णन करता है। इसके समय में गणराज्यों का अंत हो चुका था अतः इसमें राजा का ही वर्णन है। शुक्र के अनुसार शासन का उद्देश्य जनता का सर्वांगीण विकास करना है।

11.अन्य ऐतिहासिक स्रोतः- अन्य ऐतिहासिक स्रोत में विभिन्न कालखण्डों में रचित विभिन्न रचनायें है। इसमें कल्हण रचित राजतंरगिणी प्रमुख है। इसमें प्राचीन काल से 12 वीं शताब्दी तक का कश्मीरी इतिहास का उल्लेख है। बाणभट्ट द्वारा रचित “हर्ष चरित“ में हर्ष के शासन के विभिन्न पहलूओं का वर्णन किया गया है। पद्मगुप्त परिमल का ‘‘नवसाहसाँकचरित’’ परमार वंश की जानकारी देता है। वाक्पतिराज के काव्यग्रन्थ ‘‘गौडवहों’’ से कन्नौज के राजा यशोवर्मन के शासन की जानकारी मिलती है। विल्हण रचित “विक्रमांक देव चरित्र“ ग्रन्थ से कल्याण के चालुक्य वंश के इतिहास का पता चलता है। पाँतजलि के “महाभाष्य“ और कालिदास के ‘मालविकाग्निमित्र’ शुगवंश के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। विशाखदत्त के “मुद्राराक्षस“ नाटक के द्वारा नंदवंश तथा मौर्यवंश का उल्लेख मिलता है। चन्दवरदाई की रचना ‘पृथ्वीराज रासो’ से तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक स्थिति की जानकारी मिलती है।

4.3.3.2 विदेशी स्रोत

भारतीय चिन्तन के अध्ययन का दूसरा महत्वपूर्ण स्रोत विदेशी स्रोत कहलाता है। इसमें मुख्य रूप से विदेशों विद्वानों की रचनाओं, टीकाओं से प्राप्त सूचनाओं को शमिल किया जाता है। इसमें मुख्य रूप से यूनानी एवं रोम के विचारकों को शामिल किया जाता है। यूनानी विचारकों को भी अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जाता हैः-

1.	सिकंदर के पूर्व के विचारक	-	स्काइलेक्स, हैरोडोटस, हीसियस
2.	सिकंदर के समकालीन	-	नियक्सि, ओनिसक्रेटिस
3.	सिकंदर के बाद	-	मेगस्थनीय

सिकंदर के पूर्व के यूनानी विचारकः- इसमें मुख्य रूप से स्काइलेक्स था जो एक यूनानी सैनिक था। उसने अपनी पुस्तक में भारतीय सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का वर्णन किया है। हेरोडोटस ने भी भारतीय व्यवस्था का वर्णन किया है। उसका विवरण मुख्यतः सीमावर्ती क्षेत्रों पर आधारित था।

सिकंदर के समकालीन विचारकः- सिकंदर के समकालीन विचारकों में अरिस्टोवुलस, निर्याकस, ओनिसक्रेटिस, एरियन आदि प्रमुख थे। ये वे विद्वान थे जो आक्रमण के समय सिकंदर के साथ भारत आये थे। वे भारतीय समाज के साथ नजदीक से जुड़े थे। कतिपय यही कारण था कि इनका विवरण अधिक सटीक और प्रमाणिक माना जाता है।

सिकंदर के बाद के विचारकः- इसमें मुख्य रूप से मेगस्थनीय, डायमेकस, टिखनी, डायोडोरस, प्लूटार्क आदि प्रमुख हैं। यूनानी विचारकों में सर्वाधिक प्रमाणिक विवरण मेगस्थनीय का माना जाता है। जिन्होंने अपनी रचना 'इण्डिका' के माध्यम से एक विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। एरियन, जस्टिन, डायोडोरस का विवरण मुख्यतः सिकंदर के अभियानों से संबंधित था।

इसके अतिरिक्त एक विदेशी रचना 'पेरीप्लस आफ दी एरीशियन सी' ने तत्कालीन व्यापार, विदेशों संबंधों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त टाल्मी का भूगोल, टिलनी का 'नैचुरल हिस्ट्री' तथा इंडकोरलुस्टस का 'क्रिश्चयन आफ दी यूनीवर्स' में भारत भौगोलिक सांस्कृतिक विस्तार का विवरण प्रदान करते हैं।

चीनी यात्रियों का विवरणः- चीनी यात्रियों द्वारा विभिन्न कालखण्डों मे दिया गया विवरण बहुत उपयोगी है। इन चीनी यात्रियों में फाह्रयान, हृवेनसांग तथ इटसिंग है। फाहृयान चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन के समय भारत आया था। उसने बौद्ध तीर्थी का भ्रमण किया तथा उसका विस्तृत विवरण दिया। हृवेनसांग हर्ष के समय भारत आया उसने समूचे भारत का भ्रमण किया। 7 वीं शताब्दी में इटसिंग ने भारत में शिक्षा के उच्च अध्ययन केन्द्र नालंदा विश्वविद्यालय , तक्षशिला विश्वविद्यालय का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। उनके सम्पूर्ण विवरण से तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा शैक्षिणक अवस्था का ज्ञान होता है।

मुस्लिम इतिहासकारों का विवरणः- भारत में इस्लामी आक्रमण के साथ मुस्लिम इतिहासकारों तथा यात्रियों के द्वारा भारतीय व्यवस्था का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। अल्वरूनी द्वारा रचित 'तहकीक एकहिन्द' से तत्कालीन राजपूत कालीन भूगोल, राजनीति, समाज, धर्म, रीति-रिवाज आदि का वर्णन मिलता है। अलमसऊदी की 'मजरूल जहाब' आदि ग्रन्थ भी तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का चित्रण करते है।

4.3.3.3 पुरातत्व, अभिलेख, मुद्राएं, स्मारक, मूर्तियां, स्तूप

पुरातन अवशेष ही अनेक उलझी पहेलियों को सुलझाते हैं। भारत के इतिहास में प्राचीन समय से लेकर आज तक अनेक रहस्यों से पर्दा हट रहा है। इसमें महत्वपूर्ण भूमिका पुरातन अवशेषों का रहता है। इन्हीं के अध्ययन से हमें सामवाहन वंश के आद के इतिहास का ज्ञान प्राप्त होता है। पुरातत्व में मुख्य रूप से प्राचीन अभिलेख, प्राचीन, मुद्रा, प्राचीन भवनों, स्मारकों आदि को शामिल किया जाता है। मार्शल, स्यूनर, आर0डी0 बनर्जी ने अनेक स्थानों पर खुदाई कर नये तथ्यों को उजागर किया। उनके प्रयासों से इतिहास का नया स्वरूप तथा लोगों के सोच की धारा ही बदल गई। डा0 आर0 डी0 बनर्जी ने 1921-22 में सिंध प्रांत में मोहनजोदड़ो तथा पंजाब में हड़प्पा की खुदाई करवाई। इन खुदाई से जो नये तथ्य सामने आये उनसे स्पष्ट हुआ कि भारतीय सभ्यता अत्यन्त प्राचीन है। इस दिशा में मार्शल का योगदान उल्लेखनीय है। गया, कालीवंगा, लोथल आदि की खुदाई ने नये रहस्यों पर से आवरण हटाया। पुरातत्व विद्वानों ने खुदाई में प्राप्त सामाग्रियों जैसे शव, मुद्रा, हड्डी, बर्तन, हथियार, औजार, श्रींगार सामग्रियों का अध्ययन कर इतिहास को नये तथ्यों से अवगत कराया। विभिन्न गुफाओं के अध्ययन से विभिन्न कालखण्डों की जानकारी मिलती है।

विभिन्न अभिलेखों जैसे गुफालेख, शिलालेख, स्तंभ लेख, ताम्र पत्र आदि को शामिल किया जाता है। ये अभिलेख विभिन्न भाषाओं में प्राप्त हुए है। इनके अध्ययन से राजनीति, सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था का ज्ञान होता है। इन अभिलेखों में अशोक के अभिलेखों को प्राचीनतम माना जाता है। उनके प्रमुख अभिलेखों में हाथी, गुफा अभिलेख, जूनागढ़ अभिलेख, गुप्तकालीन अभिलेख आदि हैं। समुद्रगुप्त के अभिलेखों में मुख्य रूप से प्रयाग का अभिलेख महत्वपूर्ण है। दक्षिण के चोल, पाण्डव, पल्लव राजाओं के अभिलेख महत्वपूर्ण है। ये सभी अभिलेख प्राचीन इतिहास का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते है।

मुद्राएँ- प्राचीन भारतीय इतिहास के ज्ञान का प्रमुख आधार मुद्राएं हैं। ईसा से पूर्व 200 से 300 ई0 तक के भारत के इतिहास की सम्पूर्ण जानकारी हमें मुद्राओं के माध्यम से प्राप्त होती है। अनेक प्राचीन शासकों जैसे पल्लव, शक, वैक्ट्रियन के अध्ययन का आधार मुद्रा हैं। मुद्राओं में गुप्तकालीन मुद्राओं का बहुत महत्व है। वे न केवल अत्याधिक कलात्मक है वरन् उसके निहितार्थ भी व्यापक हैं। ये राजा की वंशावली, तिथिक्रम तथा उत्तराधिकारी का बोध होता है। मुद्राओं के माध्यम से ही अनेक राज्यों का अस्तित्व सिद्ध होता है। शिव, मालव, अर्जुनायन, कुणादे आदि गणतन्त्रों का अस्तित्व इन मुद्राओं के माध्यम से सिद्ध होता है।

स्मारक

इसके अर्न्तगत विभिन्न भवन, मूर्तियाँ आदि सम्मिलित हैं। प्राचीन मंदिरों, विहारों, स्तूपों, मूर्तियों, भवनों आदि को शामिल किया जाता है। इनसे सामाजिक, धार्मिक जीवन की जानकारी मिलती है। लक्षशिला के टूटते भवनों में कुषाणवंश का विस्तृत विवरण मिलता है। पाटिलीपुत्र के भवनों से मार्य वंश का विस्तृत ज्ञान होता है। देवगढ़, कानपुर, झांसी आदि के अनेक भवनों में गुप्त वंश के सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का बोध होता है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय चिन्तन को प्रमाणित करने में अनेक तत्वों का योगदान रहा है। चिन्तन के स्रोत में देशी-विदेशी स्रोत तो को ही साथ ही विभिन्न पुरातन अवशेष, शिलालेखों, मुद्राओं ने न केवल तथ्य उजागर किये वरन् सम्पूर्ण चिन्तन को प्रभावित किया।

4.4 भारतीय चिन्तन का विकास

भारत में चिन्तन के विकास का प्रारम्भ भारत में आर्यो के आगमन से माना जाता है। काल खण्ड की दृष्टि से यह काल सोलह सौ से लेकर चौदह सौ वर्ष ईसा पूर्व तक है। इन आर्यो का समाज जैसे ऋग्वेद में अंकित था पितृप्रधान था। शासन राजतन्त्रात्मक था। राजा निर्वाचित एवं नियन्त्रित था। समय के साथ वह वंशानुगत एवं नियंत्रणमुक्त हो गया। वैदिक काल में सभा एवं समिति लोकप्रिय निकाय थे। वरिष्ठ एवं शक्तिशाली व्यक्तियों की परिषद ही राजा का चुनाव करती थी। वह राजा को समय-समय पर परामर्श भी देती थी।

धर्म एवं कर्मकाण्ड का प्रभाव समय के साथ बढ़ा। युद्ध में विजय तथा लाभ की लालस ने 'बलि' प्रथा को बढ़ावा दिया। पुरोहितों के कार्य, महत्व को बढ़ावा मिला। जनसंख्या बढ़ी तथा कार्यों के आधार पर 'विशेषीकरण' पर बल दिया गया। युद्धों की संभावना की अधिकता के कारण एक संगठित सेना की आवश्यकता महसूस की गई। युद्ध के विशेषज्ञों को क्षत्रिय कहा गया। अनेक कर्मकाण्डों, रिवाजों के लिये ब्राहमणें का महत्व बढ़ा। अत्याधिक उपजाऊ भूमि में कृषि का विस्तार हुआ और व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ावा मिला। इसके कारण समाज में एक प्रभावशाली व्यापारिक वर्ग का उदय हुआ। इसी समय कृषि उद्योग एवं अन्य कलाओं से जुड़ी नई जातियां बनने लगी। इसके अतिरिक्त गैर आर्य जो युद्ध में पराजित हो गये थे वे दास के रूप में स्थापित हो गये। इस प्रकार नई परिस्थितियों एवं विकास ने समाज को चार भागों में विभाजित कर दिया।

द्वितीय चरण में बड़े राज्य स्थापित हो गये। सामाजिक विकास के साथ राजनैतिक विकास होने लगा। राजा की सैनिक शक्ति एवं भौतिक शक्ति का विकास हुआ। राजा निर्वाचित के स्थान पर वंश आधारित हो गया। इसी समय राजा कानून का संरक्षक एवं सम्प्रभु बन गया। राजा की सत्ता को धार्मिक मान्यता प्रदान की गई।

विकास के तीसरे चरण में राजा धर्म के प्रमुत्व से बाहर आ गया। राजा अत्याधिक सशक्त हो गया और वह धर्म को ही प्रभावित करने लगा। यह प्रक्रिया बौद्ध धर्म, जैन धर्म के साथ प्रारम्भ हुई। ब्राहमणवाद पर कठोर प्रहार हुआ। इन

दोनों धर्मों ने राजा का समर्थन प्राप्त किया। राजा के समर्थन से न केवल इन दोनों धर्मों का तीव्र विस्तार हुआ वरन् ब्राहमणवाद का प्रभाव कम हुआ। यहीं से नये उदार विचारों का जन्म हुआ। नये विचारों को समाहित करते हुए नये कानून बनाये गये।

राजा नई परिस्थितियों में और अधिक मजबूत हो गया। वह नये धर्मों का प्रसार कर रहा था साथ ही कट्टर पुरातन व्यवस्था पीछे छूट रही थी। राजा निरन्तर मजबूत होता जा रहा था। इसी समय बड़ी राजशाही स्थापित होने लगी। बड़े सम्राटों का झुकाव भी अलग-अलग धर्मों की ओर होने लगा। जहां सम्राट चन्द्रगुप्त जैन धर्म का समर्थक था वहीं सम्राट अशोक बौद्ध धर्म का समर्थक था। सामाजिक समरसता, सौहार्द बनाये रखने तथा प्रतिक्रियावादी शक्तियों को नियन्त्रित करने के लिये राजा ने बल का प्रयोग किया। उसने स्वयं की आज्ञाओं, आदेशों को जारी कर धार्मिक क्षेत्र में भी दखल प्रारम्भ किया। मौर्य वंश के पतन के बाद भारतीय राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन आये। नये छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुए तथा नये राजा अस्तित्व में आये। शक एवं कुषाण राज्य स्थापित हुए। विदेशी शासकों ने प्रथम प्रहार सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था पर किया। ब्राहमणवादी व्यवस्था और कमजोर हुई। इसी समय दैवीय अधिकारों पर बल मिला। अनेक शक एवं कुषाण शासकों ने अपने को ईश्वर पुत्र घोषित कर दिया। यही से राजा का धर्म पर भी प्रभुत्व स्थापित हो गया। राजा धर्म प्रचारक, रक्षक तथा सर्वोच्च व्याख्याकार बन गया।

प्राचीन भारतीय राज्यों का स्वरूप संघात्मक था। इसके बावजूद महत्वपूर्ण मामलों में शक्तियों का केन्द्रीकरण था। सम्राट अपने राज्य में सर्वोच्च सत्ता एवं सम्प्रभु था। उसकी सर्वोच्चता भूमि एवं जल पर स्थापित थी। वह पवित्र कानून का संरक्षक था धर्म प्रवर्तक था। वह देवता समान था तथा न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था।

4.4.2 भारतीय चिन्तन की प्रमुख विशेषतायें

प्राचीन भारत में जो राजनैतिक व्यवस्था थी उसकी अपनी विशेषता थीं जो उसे पाश्चात्य चिन्तन से अलग करती है। ये विशेषतायें तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक कारणों से प्रभावित थी। प्राचीन भारतीय चिन्तन की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैः-

1.धर्म एवं राजनीति का सांमजस्यः- प्राचीन भारत में राजनीति तथा उसके सिद्धान्तों का विकास धर्म के एक सिद्धान्त के रूप में हुआ था। यही कारण है कि प्राचीन राजनीतिक चिन्तन में धर्म को राजनीति के साथ जोड़कर देखा गया। प्राचीन राजनीतिक चिन्तन में धर्म से राजनीति को जोड़कर देखा गया। राजा से भी धर्म के पालन की आशा की जाती है। वह हर प्रकार के धार्मिक परम्पराओं, रीतियों से बंधा हुआ है। राजा से आशा की जाती है कि वह शासन भी धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर करे। राजनीति में धर्म एवं नैतिकता सदैव समावेश रहा है। भारत में प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ ही राजनीति के मुख्य ग्रन्थ माने जाते है। इनमें वेद, उपनिषद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि प्रमुख हैं।

2.आध्यात्मिकता पर बलः- प्राचीन भारतीय राजनीति का झुकाव आध्यात्म की ओर अत्याधिक रहा है। भारत को आध्यात्मिक गुण भी कहा जाता है। जीवन के प्रत्येक पहलू का विचार आध्यात्म से प्रेरित है। यहां पर जीवन शैली ही आध्यात्मिक रही है। कतिपय यही कारण है कि यहां राजनीति का रंग भी आध्यात्मिक है। भारत में राजनीति में आत्मा का विकास एवं मानव के सर्वागींण विकास पर बल दिया गया है। भारतीय चिन्तन में माना गया कि जीवन का मूल उद्देश्य आत्मा का विकास करना है। जीवन इस उद्देश्य की प्राप्ति का साधन मात्र है।

3.राज्य आवश्यक संस्था हैः-प्राचीन भारतीय चिन्तन की यह प्रमुख विशेषता है कि राज्य को आवश्यक संस्था मानती है। जीवन के तीन लक्ष्यों धर्म, अर्थ और काम की राज्य के बिना प्राप्ति संभव नहीं है। अराजकतावादी राज्य को अनावश्यक और अनुपयोगी मानते हैं, व्यक्तिवादी राज्य को आवश्यक बुराई मानते हैं। इनके विपरीत भारतीय चिन्तन ने राज्य को अति आवश्यक माना जाता है। यह न केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन है वरन् आत्मा का विकास करने का भी माध्यम है।

4.राज्य के विस्तृत कार्य क्षेत्र पर बलः- भारतीय राजनीतिक चिन्तन आदर्शवादी तो है परन्तु इसमें कही भी व्यक्तिवाद की झलक नहीं मिलती है। भारतीय चिन्तन में राजा का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। राज्य न केवल व्यक्तियों की रक्षा करेगा वरन् उनकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। राज्य इसके बाद नैतिकता के मार्ग पर प्रेरित कर अंतिम लक्ष्य (आत्मा का विकास) को प्राप्ति के लिये वातावरण उपलब्ध करायेगा।

5.राजा की सर्वोच्च सत्ता पर बलः-भारतीय राजनीतिक चिन्तन में राज्य का स्थान सर्वोच्च है। राजा सर्वोच्च शक्तियों का प्रयोग करता है। वह किसी के प्रति जबावदेह नहीं है। अनेक विद्वानों ने राजा को दैवीय माना है। उसमें दैवीय गुणों का समावेश किया है। कौटिल्य ने राजा और राज्य के बीच कोई अंतर नहीं किया है। राजा को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। परन्तु उसे निरंकुश नहीं किया गया है।

6.दण्ड पर बलः- भारतीय राजनीतिक चिन्तन यह मानता है कि मानव में आसुरी शक्तियों की प्रधानता होती है। अतः उनको नियन्त्रित करने के लिये दण्ड की आवश्यकता होती है। भारतीय चिन्तन में कठोर दण्ड का प्रावधान है जिससे समाज संदेश जाय और अन्य लोग कानून तोड़ने से बचे। प्राचीन विद्वानों ने इसे दण्ड नीति के नाम से पुकारा है। मनु, कौटिल्य सभी ने दण्ड पर बल दिया।

7.व्यवहारवादी दृष्टिकोणः- भारतीय चिन्तन आदर्शवादी न होकर व्यवहारिक है। भारतीय चिन्तन में यूनानी विचारकों प्लेटो, अरस्तू की तरह कल्पना का अभाव है। ए0के0 सेन के शब्दों में - ''हिन्दू राजनीतिक चिन्तन उत्कृष्ठ वास्तविकताओं से भरा हुआ है। कुछ राजनीतिक अपवादों को छोड़कर भारतीय राजनीतिक विचारों का संबंध राज्य के सिद्धान्त एवं दर्शन से उतना नहीं जितना राज्य की समस्याओं से है।

8.विचारों की अपेक्षा संस्थाओं पर बलः- भारतीय प्राचीन विद्वानों ने अपनी रचनाओं का केन्द्र संस्थाओं को बनाया है। इन संस्थाओं का महत्व, संगठन तथा कार्य आदि का व्यापक वर्णन किया गया है। समस्त अध्ययन का केन्द्र बिन्दु मूल रूप से राजनीतिक संगठनों तथा उनके कार्यो को बनाया गया है।

9.सामाजिक व्यवस्था का प्रभावः- प्रत्येक देश की राजनीतिक व्यवस्था वहां की सामाजिक व्यवस्था की देन होती है। प्रत्येक व्यवस्था में राजनीतिक में हो रहा परिवर्तन सामाजिक व्यवस्था की देन होता है। भारत के चिन्तन में ऐसा देखा गया है कि यहां पर भी सामाजिक व्यवस्था का व्यापक प्रभाव राजनीतिक व्यवस्था पर है।

10.राजा के व्यापक कार्यो का वर्णनः- प्राचीन भारतीय चिन्तन में प्रायः विद्वानों ने राजा के कार्यो का व्यापक वर्णन किया है। इन रचनाओं का अधिकांश हिस्सा राजपद की योग्यता, महत्व एवं कार्यो के वर्णन में है। राजा का परम कर्तव्य क्या है? उसे किस प्रकार इसका पालन करना चाहिए? आदि प्रश्नों के उत्तर स्पष्ट रूप से अंकित है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में तत्कालीन राजनैतिक समस्याओं पर न केवल विचार हुआ वरन उसका समाधान भी प्रस्तुत किया गया। यह उस समय हो रहा था जब पश्चिम में व्यवस्थित अध्ययन भी प्रारम्भ नहीं हुआ था। भारतीय चिन्तन यर्थातवादी, संस्थावादी तथा अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति पर बल देता है।

मूल्यांकन

भारतीय राजनीतिक चिन्तन अत्यन्त प्राचीन है। कुछ विद्वानों इसे पांच हजार वर्ष से भी प्राचीन मानते हैं। यह दुनिया की प्राचीनतम सभ्यताओं में से एक है। यद्यपि कुछ पश्चिमी विद्वानों ने झूठ का एक ऐसा आवरण डाला जिसमें यह सिद्ध किया गया कि भारत में प्राचीन चिन्तन था ही नहीं। जो कुछ भी था वह पाश्चात्य चिन्तन के सामने ठहरता ही नहीं। नये शोधों, पुरातत्व विभाग की खोज ने यह सिद्ध कर दिया कि भारत में अति प्राचीन काल से ही राजनैतिक चिन्तन न केवल अस्तित्व में है वरन् उसका स्तर भी काफी अच्छा है।

राजनैतिक चिन्तन के द्वारा किसी भी समाज की राजनैतिक व्यवस्था का न केवल ज्ञान होता है वरन् उसमें सुधार की संभावना भी बनी रहती है। राजनैतिक चिन्तन से विश्व की घटनाओं को समझने की समझ उत्पन्न होती है। साथ ही अन्य देशों में उससे प्रेरणा लेकर मानव कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। उदाहरण के लिये रूसो के विचारों ने फ्रांस की क्रान्ति में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसके साथ ही चिन्तन से नई शब्दालियों , परिभाषाओं का भी ज्ञान होता है।

जहां तक राजनैतिक चिन्तन के स्रोत का प्रश्न है तो यह दो स्तरों पर पाया जाता है। इसका पहला स्रोत देशी है तथा दूसरा स्रोत विदेशी है। देशी स्रोत में भारतीय विद्वानों की रचनायें, ग्रन्थ, महाकाव्य आदि है। इसमें मुख्य रूप से वेद, पुराण, उपनिषद, रामायण, महाभारत तथा विभिन्न काल खण्डों में रचित विभिन्न रचनायें आती हैं। यह सभी भारतीय चिन्तन की दिशा को स्पष्ट करती है। इसके अतिरिक्त विदेशी स्रोत भी है। जिनमें विभिन्न विदेशी विद्वानों के द्वारा समय-समय पर लिखी गई रचनायें आती हैं। इसमें मुख्य रूप से यूनानी विचारकों, चीनी विचारकों की रचनाओं का योगदान है। इसके अतिरिक्त शिलालेख, मुद्राओं, स्तूप आदि पर लिखी गई रचनाओं का अपना योगदान है। भारतीय चिन्तन मूल रूप से यर्थात पर आधारित है। इसमें आध्यात्मिकता के तत्व दिखाई पड़ते है। भारतीय चिन्तन में राजनीति से धर्म को अलग नहीं देखा जाता है। इन दोनों को साथ ही स्वीकार किया जाता है। भारतीय चिन्तन में राजा तथा राज्य का स्थान सर्वोच्च है। राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापक स्वीकार किया गया है। इसमें सदैव संस्थाओं को महत्व प्रदान किया गया है। सम्पूर्ण भारतीय राजनीतिक चिन्तन न केवल प्राचीनतम है वरन् यह व्यवहारिक भी है। यह सामाजिक व्यवस्था का आइना सदृश्य दिखता है जो सामाजिक व्यवस्था के अनुरूप अपना स्वरूप भी बदलता हुआ दिखायी पड़ता है। इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय चिन्तन ने केवल प्राचीन वरन् अत्यन्त उच्च कोटि का है। यह तत्कालीन समाज से न केवल प्रभावित है वरन् आगे आने वाले समाज के लिये पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है।

स्व-मूल्यांकन हेतु प्रश्नः-

1. प्राचीन भारतीय चिन्तन उच्च कोटि का है। सत्य/असत्य
2. भारतीय राजनीतिक चिन्तन पाश्यात्य चिन्तन से प्राचीन है। सत्य/असत्य
3. प्लेटो और अरस्तू कहां के विचारक थे?
4. कौटिल्य की रचना का क्या नाम था?
5. फ्रांस की क्रान्ति पर सर्वाधिक प्रभाव किस विचारक का था?
6. राजनीतिक चिन्तन का ....के साथ घनिष्ठ संबंध होता है।
7. प्राचीन भारतीय चिन्तन के प्रमुख स्रोत क्या है?
8. प्राचीन भारतीय चिन्तन के विदेशी स्रोत कौन से है?

9. अश्वघोष की रचना का क्या नाम है?

10. पाणिनी की रचना का क्या नाम है?

4.5 सारांश

इस प्रकार से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिन्तन का इतिहास अत्याधिक प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारम्भ होकर भारत में इस्लामिक शासन तक माना जाता है। यद्यपि भारतीय चिन्तन के विषय में पाश्चात्य समीक्षको की दृष्टि सकारात्मक नहीं रही है। इसके बावजूद भारतीय चिन्तन न केवल यर्थाथवादी हैं वरन यह बहुत हद तक आधुनिक भी है। भारतीय चिन्तन के केन्द्र में मानव है। जबकि पाश्चात्य चिन्तन के केन्द्र में मानव नहीं है। इसके बावजूद मैक्समूलर , डनिंग जैसे पाश्चात्य समीक्षकों ने इसे अव्यावहारिक व अनुपयुक्त माना । उक्त आलोचनायें उपयुक्त नहीं दिखाई पड़ती है। भारतीय चिन्तन अनवरत मानव उपयोगी रहा है।

भारतीय चिन्तन के अनेक स्रोत रहें है। इसमें मुख्य रूप से प्राचीन रचनायें जैसे वेद,पुराण,धर्मसूत्र,उपनिषद, महाकाव्य आदि। इसके अतिरिक्त समय-समय पर विदेशी विद्वानों के विवरण ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इसके अतिरिक्त अलग-अलग कालखण्डों में आई विभिन्न रचनाओं जैसे अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, एवं शुक्रनीति ने भी इसमें योगदान दिया है। प्राचीन भारतीय चिन्तन शिलालेखों, स्तंभलेखों , गुफालेखों, एवमं ताम्रलेखों में भी परिलक्षित होता है। भारतीय चिन्तन धर्म एवमं एवं राजनीति को एक साथ जोड़कर देखता है। इसमें राजनीति की पवित्रता पर बल है। इसमें आध्यात्मिकता पर झुकाव है। इसके साथ ही भारतीय चिन्तन में राज्य को अपरिहार्य माना गया है। भारतीय चिन्तन में शासन एवं प्रशासन के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण रखा गया है। इसमें कठोर दण्ड की व्यवस्था दिखाई पड़ती है। भारतीय चिन्तन में राजा के कार्यक्षेत्र को व्यापक माना गया है। उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिन्तन एकपक्षीय पुरातनपंथी एवं अधूरा नहीं है वरन यह पूर्णत व्यावहारिक एवमं आधुनिक है।

4.6 शब्दावली

पाश्चात्य- पश्चिमी भूभाग अथवा पश्चिम के देश जैसे यूनान, इंग्लैण्ड, फ्रांस

औपनिवेशिक कालः- भारत में बिटिश शासन के समय को औपनिवेशिक काल कहा जाता है। पूर्वाग्रहः- पहले से निर्णय लेकर (तय करके) कार्य करना ही पूर्वाग्रह कहलाता है।

आदर्शवादः- अच्छी स्थिति , आदर्श स्थिति की कल्पना करना तथा जो लागू करने में मुश्किल हो आदर्शवाद के अन्तर्गत आता है।

4.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सत्य, 2. सत्य, 3. यूनान, 4. अर्थशास्त्र 5. रूसो 6. यर्थातवाद 7. वेद, पुराण, शिलालेख, स्तूप, ग्रन्थ,

8. स्काइलेक्स, मेगस्थनीज, हवेनसांग, फाहयान , 9. बुद्धचरित, 10. अष्टध्यायी

4.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. राव एम0वी0 कृष्णा, स्टडीज इन कौटिल्या
2. समस्त्रे आर0 , कौटिल्यस का अर्थशास्त्र
3. परमात्मा शरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं समस्यायें
4. वर्मा , वी0पी0, प्राचीन भारतीय चिन्तन

4.9 सहायक/उपयोगी पाठ सामग्री

1. वेनी प्रसाद, दि स्टेट इन एनसिएंट इण्डिया
2. श्यामलाल पाण्डेय, कौटिल्य की राज व्यवस्था

4.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक चिन्तन से क्या आशय है? भारतीय प्राचीन चिन्तन के प्रमुख स्त्रोत बताइए।
2. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रमुख विशेषतायें बताइये।
3. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन क्या है? यह किस प्रकार पाश्चात्य चिन्तन से भिन्न है, स्पष्ट कीजिये।
4. प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन के महत्व पर एक निबन्ध लिखिये।
5. राजनीतिक चिन्तन से आप क्या समझते है? इसके प्रमुख चरणों पर प्रकाश डालिये।
6. प्राचीन राजनीतिक चिन्तन के विकास पर निबन्ध लिखिये।

इकाई 5 : मनु

इकाई संरचना

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 सामान्य परिचय
5.3.1 राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचार
5.3.2 राजा संबंधी विचार
5.3.3 शासन संबंधी विचार
5.3.4 प्रादेशिक शासन संबंधी विचार
5.3.5 विधायिका संबंधी विचार
5.3.6 कानून, न्याय एवं दण्ड संबंधी विचार
5.3.7 कर व्यवस्था संबंधी विचार
5.3.8 विदेश नीति: मण्डल सिद्धान्त, षाड़गुण्य नीति
5.4 मनु एवं कौटिल्य: एक तुलना
5.5 मूल्यांकन
5.6 सारांश
5.7 शब्दावली
5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
5.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.11 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

इससे पहले की इकाई ४ में हमने प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन के बारे में अध्ययन किया है |जिसमें यह यह स्पष्ट होता है कि भारतीय चिन्तन का इतिहास अत्याधिक प्राचीन है। यह वैदिक काल से प्रारम्भ होकर भारत में इस्लामिक शासन तक माना जाता है। यद्यपि भारतीय चिन्तन के विषय में पाश्चात्य समीक्षको की दृष्टि सकारात्मक नहीं रही है। इसके बावजूद भारतीय चिन्तन न केवल यर्थाथवादी हैं वरन यह बहुत हद तक आधुनिक भी है।
इस इकाई में हम मनु के राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचार तथा राजा और उसके शासन के सम्बन्ध में जिसमें प्रादेशिक शासन का अध्ययन करेंगे |यही नहीं इसके आगे हम मनु के विधायिका संबंधी विचार,कानून, न्याय एवं दण्ड और कर व्यवस्था के सम्बन्ध में अध्ययन करते हुए विदेश नीतिका भी अध्ययन करेंगे |अंततः हम मनु एवं कौटिल्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे |

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम मनु के -

1.राज्य की उत्पत्ति संबंधी विचार का अध्ययन कर सकेंगे |

2. राजा और उसके शासन के सम्बन्ध में जिसमें प्रादेशिक शासन का अध्ययन करेंगे |

3.विधायिका संबंधी विचार,कानून, न्याय एवं दण्ड और कर व्यवस्था के सम्बन्ध में अध्ययन

4.विदेश नीति का भी अध्ययन करेंगे |

5.मनु एवं कौटिल्य का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे |

5.3 सामान्य परिचय

प्राचीन भारतीय चिन्तन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण चिन्तन मनु का माना जाता है। उन्होंने अपनी रचना ''मनुस्मृति'' में राजनीतिक चिन्तन प्रस्तुत किया है। विभिन्न विद्वान इस बात को स्वीकार करते हैं कि धर्म विषयक समस्त ज्ञान मनु के द्वारा प्रारम्भ किया गया। ''मनु स्मृति'' को हिंदू समाज की व्यवस्था की आधारशिला माना जाता है। प्राचीन धर्मशास्त्रों में मनु स्मृति का सर्वाधिक महत्व है।

''मनु स्मृति'' के रचना काल के सन्दर्भ में विद्वानों में मतैव्य नहीं है। महाभारत में भी कई स्थानों पर मनु का उल्लेख आता है। डा0 वी0सी0 सरकार ''मनुस्मृति'' को ईसा से 150 वर्ष पूर्व की रचना मानते हैं। मैक्स मूलर इसे चौथी शताब्दी के बाद की रचना मानते हैं। डा0 हण्टर इसे ईसा से 600 वर्ष पूर्व से अधिक प्राचीन नहीं मानते हैं। कुछ विद्वान इसे रामायण एवं महाभारत काल की रचना मानते हैं। फ्रांसीसी विद्वान रेनेगिनो मनु शब्द को ऐतिहासिकता से जोड़ने के पक्षधर नहीं हैं। उनका मानना है कि मनु की उत्पत्ति मूलधातु मन से हुई है जिसका अर्थ है चिन्तन, मनन और सार्वभौम बुद्धि तथा विचार। मन धातु से ही मनु तथा मानव की उत्पत्ति हुई है। रेनेगिनो का मत है कि जिस प्रकार वेद की रचना का काल निर्धारित नहीं है उसी प्रकार स्मृति की उत्पत्ति के संबंध में प्रयास भी निरर्थक है। स्मृतिया एक लम्बे काल तथा परम्परा का प्रतिनिधित्व होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि मनु स्मृति का ज्ञान मनु से नारद, नारद से मार्कण्डेय, मार्कण्डेय से समुति भार्गव, समुति भार्गव से भृगु ऋषि को प्राप्त हुआ। भृगु ऋषि के द्वारा ही मनुस्मृति का संकलन हुआ।

इसके रचना काल के संदर्भ में मतभेद अवश्य है परन्तु एक विधि ग्रन्थ, नियामक ग्रन्थ के रूप में इसकी मान्यता पर सर्वसम्मति है। भारत में गौतम एवं वृहस्पति ने इसको सर्वश्रेष्ठ बताया। जर्मन विद्वान ने तो एक स्थान पर पर लिखा है कि ''मनु स्मृति बाइबिल की अपेक्षा कहीं अधिक अनुपम उत्कृष्ट और बौद्धिक ग्रन्थ है।'' मैकेन्जी ब्राउन के शब्दों में '' यह हिन्दू कानून का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है।''

''मनु स्मृति'' की विषय वस्तुः- मनु स्मृति में कुल 12 अध्याय है। ''मनु स्मृति'' का अध्यायवार विवरण इस प्रकार है-

1.प्रथम अध्यायः- जगत की उत्पति, भू लोक, अंतरिक्ष ज्ञान, नदी, समुद्र उत्पति, चार वर्ग उत्पति, स्त्री पुरूष उत्पति आदि। कुल 111 से 119 श्लोक तथा संक्षिप्त स्मृति सूची पायी जाती है।

2.द्वितीय अध्यायः- धर्मोपदेश, श्रृति, स्मृति में कहे धर्म की प्रशंसा, सदाचार, यज्ञ, संस्कार , माता-पिता, चारों आश्रम का वर्णन है।

3.तृतीय अध्यायः- ब्रहाचर्य की महिमा, गृहस्थ कर्तव्य, यज्ञ की महिमा आदि का वर्णन है।

4.चर्तुथ अध्यायः- मनुष्य के नित्यकर्मो का वर्णन है, करने तथा न करने योग्य कार्यों का वर्णन।

5.पंचम अध्यायः- स्त्री संबंधी व्याख्या, अन्य शिक्षाओं का उल्लेख है।

6.षष्टम अध्यायः- वानप्रस्थ की अवस्था, वानप्रस्थ की महिमा, सन्यास आश्रम आदि का वर्णन।

7.सप्तम अध्यायः- राज व्यवस्था, प्रशासन के नियम, राज्य की उत्पति, दण्ड की उत्पति, कर तथा सेना संबंधी नियमों का उल्लेख है।

8.अष्टम अध्यायः- दण्ड के नियम, दण्ड से पूर्व छानबीन, अपराधों के लिये दिये जाने वाले दण्डों का विवरण है।

9.नवम्, दशम तथा ग्यारहवें अध्यायः- वैश्य, शूद्रों में धर्म का अनुष्ठान, प्रकार वर्ण संस्कारों की उत्पति आदि का वर्णन है।

10.बारहवें अध्यायः- मोक्ष प्राप्ति के साधन, विभिन्न कार्यों के गुण-दोष पाखण्ड, गुण-दोष आदि का वर्णन है।

5.3.1 राज्य की उत्पति विचार

''मनु स्मृति'' के सातवें अध्याय में राज्य संबंधी विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इसी में राज्य की उत्पति एवं साव्यवी सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं। मनु ने राज्य की उत्पति ईश्वर के द्वारा मानी है। इसमें कई जगह सामाजिक अनुंबध सिद्धान्त का भी आभास दिखता है।

मनु स्पष्ट करता है कि राज्य के पूर्व मानव की स्थिति, कष्टपूर्ण, असहनीय थी। इस कष्ट के निवारण के लिये ईश्वर इन्द्र, वायु, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्रमा, कुबेर, यम आदि ने सारभूत अंश से राजा का निर्माण किया । इन आठ उत्कृष्ट तत्वों से मिलकर राजा ने न केवल मानव दुखों को दूर किया वरन् उनके कल्याण को सुनिश्चित किया। इन आठ तत्वों से बना राजा विश्व रक्षक, पोषक, समृद्धिकारक होता है। निश्चित रूप से मनु राज्य की उत्पति के दैवीय सिद्धान्त का पोषक है परन्तु उसके इस सिद्धान्त में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त की झलक भी दिखती है। राजा सर्वोच्च है, वह ही सभी के कल्याण का माध्यम है। ''मनुस्मृति'' में राजा का यह दायित्व है कि वह इस भूमि पर सभी दिशाओं में शंति और व्यवस्था कायम रखे।

मनु का दैवीय उत्पति का सिद्धान्त तथा पाश्चात्य दैवीय उत्पति के सिद्धान्त में अंतरः- प्रायः मनु के दैवीय उत्पति के सिद्धान्त की तुलना पाश्चात्य दैवीय उत्पति के सिद्धान्त से की जाती है। इन दोनों में काफी अंतर दिखता है। पाश्चात्य विद्वानों ने दैवीय उत्पति के सिद्धान्त के द्वारा राजा को निरंकुश सत्ता प्रदान की है।

मनु राजा को निरंकुश सत्ता का पक्षधर नहीं है। मनु ने राजा को धर्म, नैतिकता के अधीन रखा है। उसने इस बात पर बल दिया है कि राजा सदा प्रजा का पालन करे तथा उसकी रक्षा करे। राजा को देव का अंश बताया गया परन्तु इसमें उसके गुणों पर योग्यता पर बल दिया गया है न कि उसके अधिकार, शक्तियों एवं मनमानी पर है। यहां पर मोरबानी का कथन प्रासंगिक लगता है कि - ''राजा को समझना चाहिए कि वह धर्म के नियमों के अधीन है। कोई भी राजा धर्म के विरूद्ध व्यवहार नहीं कर सकता है। धर्म राजाओं एवं मनुष्यों पर एक समान ही शासन करता है। इसके अतिरिक्त राजा राजनीतिक प्रभु जनता के भी अधीन है। वह अपनी शक्तियों के प्रयोग में जनता की आज्ञा पालन की क्षमता से सीमित है।

सालेटोर के शब्दों में-'' मनु ने निःसंदेह यह कहा है कि जनता राजा को गद्दी से उतार सकती है और उसे मार भी सकती है। यदि एवं अपनी मूर्खता से जनता को सताता है।''

मनु ने स्पष्ट किया है कि राजा सभी नियमों एवं कानूनों से बंधा है। वह विशिष्ट है परन्तु साधारण मनुष्यों की तरह दण्ड भोगता है। उसका कहना है कि यदि किसी अपराध में दण्ड एक पण है तो राजा के भंग करने पर उसे सौ पण दण्ड दिया जाना चाहिए क्योंकि राजा अधिक विद्वान एवं योग्य है। इसके अतिरिक्त राजा का प्रशिक्षण, दिनचर्या उसे निरंकुशता की ओर नहीं जाने देते हैं।

इस प्रकार से स्पष्ट हो जाता है कि दैवीय उत्पति सिद्धान्त अपनाये जाने के बावजूद भी मनु का राजा निरंकुश, स्वेच्छाचारी तथा अत्याचारी नहीं है। उसके ऊपर कानून, नैतिकता एवं मर्यादा का नियन्त्रण है।

5.3.2 राजा संबंधी विचार

मनु ने राजा को अनेक राजाओं के सारभूत अंश से निर्मित बताया है। राजा ईश्वर से उत्पन्न है अतः उसका अपमान नहीं हो सकता है। राजा से द्वेष करने का अर्थ है कि स्वयं को विनाश की ओर ले जाना। ''मनु स्मृति'' में तो यहां तक लिखा है कि राजा में अनेक देवता प्रवेश करते हैं। अतः वह स्वयं एक देवता बन जाता है। ''मनु स्मृति'' के अनुसार-''ऐसा राजा इन्द्र अथवा विद्युत के समान एश्वर्यकर्त्ता, पवन के समान सबके प्राणावत, प्रिय तथा हृदय की बात जानने वाला, यम के समान पक्षपात रहित न्यायधीश, सूर्य के समान न्याय, धर्म तथा विद्या का प्रकाश, अग्नि के समान दुष्टों को भस्म करने वाला, वरूण के समान दुष्टों को अनेक प्रकार से बांधने वाला, चन्द्र के समान श्रेष्ठ पुरूषों को आनन्द देने वाला तथा कुबेर के समान कोष भरने वाला होना चाहिए।''

मनु ने राजा के गुणों एवं कर्तव्यों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। वह कहता है कि राजा को प्रजा तथा ब्राह्मणों के प्रति विशेष रूप से संवेदनशील रहना चाहिए। राजा को अपने इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए। उसे काम, क्रोध आदि से मुक्त रहना चाहिए। ''मनु स्मृति'' में स्पष्ट किया गया है कि उसे शिकार, जुआ, दिवाशयन, परनिन्दा, परस्त्री प्रेम, मद्यपान, नाच-गाना, चुगलखोरी, ईर्ष्या, परछिद्रान्वेषण, कटुवचन,धन का अपहरण आदि से बचना चाहिए। मनु स्मृति में राजा के लिये मुख्य निर्देश निम्न हैं-

1.वह शस्त्र धन, धान्य, सेना, जल आदि से परिपूर्ण पर्वतीय दुर्ग में हर प्रकार से सुरक्षित निवास करे ताकि वह शत्रुओं से बच सके।

2.राजा स्वजातीय और सर्वगुण सम्पन्न स्त्री से विवाह करे।

3.राजा समय-समय पर यज्ञ का आयोजन करे और ब्राह्मणों को दान करे।

4.प्रजा से कर वसूली ईमानदार एवं योग्य कर्मचारियों के द्वारा किया जाना चाहिए। प्रजा के साथ राजा का संबंध पिता-पुत्र की तरह होना चाहिए।

5.राजा को युद्ध के लिये तैयार रहना चाहिए। युद्ध में मृत्यु से उसे स्वर्ग की प्राप्ति होगी।

6.विभिन्न राजकीय कार्यों के लिये विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति की जाय।

7.राजा को विस्तारवादी नीति को अपनाना चाहिए।

8.अपने सैन्य बल एवं बहादुरी का सदैव प्रदर्शन करना चाहिए।

9.गोपनीय बातों का गोपनीय बनाकर रखना चाहिए। शत्रुओं की योजनाओं को समझने के लिये मजबूत गुप्तचर व्यवस्था रखनी चाहिए।

10.अपने मंत्रियों को सदैव विश्वास में रखना चाहिए।

11.राजा सदैव सर्तक रहे। अविश्वसनीय पर बिल्कुल विश्वास न करे और विश्वसनीय पर पैनी निगाह रखे।

12.राजा को राज्य की रक्षा तथा शत्रु के विनाश के लिये तत्पर रहना चाहिए।

13.राजा को अपने कर्मचारियों, अधिकारियों के आचरण की जांच करते रहना चाहिए। गलत पाने पर उनको पदच्युत कर देना चाहिए।

14.राजा को मृदुभाषी होना चाहिए।

मनु ने राजा की दिनचर्या का भी वर्णन किया है। उसने सम्पूर्ण दिन को तीन भागों में बांटकर प्रत्येक के लिये अलग-अलग कार्य निर्धारित किये हैं। राजा को स्नान एवं ध्यान के बाद ही न्याय का कार्य करना चाहिए। राजकार्यों के संबंध मे अपने मंत्रियों के साथ तथा विदेश मामलों में अपने गुप्तचरों एवं राजदूतों के साथ परामर्श नियमित रूप से करना चाहिए। ''मनु स्मृति'' में राजा के गतिशील जीवन की चर्चा की गई है। इसमें राजा को सदैव सजग और सावधान रहने की आशा की जाती है।

युद्ध एवं संकट के समय राजा के कार्यः- मनु स्मृति में युद्ध के समय राजा के कर्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है। इसमें स्पष्ट किया गया है कि युद्ध के समय राजा को भयभीत नहीं होना चाहिए और पूरी तैयारी और मनोबल के साथ शत्रु का संहार करना चाहिए। यह राजा का धर्म है कि वह शत्रु का संहार कर मातृभूमि की रक्षा करें। ''मनु स्मृति'' में स्पष्ट किया गया है कि शांति के समय प्रजा के धान्य का छठा-आठवां भाग प्राप्त करे परन्तु युद्ध के समय वह चौथा भाग भी प्राप्त कर सकता है। आपातकाल में राजा द्वारा अतिरिक्त कर लेना कोई पाप नहीं है।

5.3.3 शासन संबंधी विचार

मनु के अनुसार शासन का मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम की प्राप्ति में सहायक होना है। अतः राजा को अपने सहयोगियों के माध्यम से (मंत्रियों) इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। मनु स्मृति में स्पष्ट किया गया है कि राजा को सदैव लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए, जो प्राप्त हो गया है उसे सुरक्षित रखने का प्रयास करना चाहिए। राजकोष को भरने का सदैव प्रयास करना चाहिए। समाज के कमजोर एवं सुपात्र लोगों को दान करना चाहिए। राजा को प्रजा के साथ पुत्रवत वर्ताव करना चाहिए तथा राष्ट्रहित में कठोर भी हो जाना चाहिए। राजा को न्यायी, सिद्धान्तप्रिय तथा मातृभूमि से प्रेम करने वाला होना चाहिए।

राजा को राजकार्य में सहायता देने के लिए मंत्रीयों की व्यवस्था है। ''मनु स्मृति'' में ''मंत्री'' शब्द का प्रयोग नहीं है परन्तु सचिव शब्द का प्रयोग कई बार मिलता है। मनु स्मृति में कहा गया है कि अकेले आदमी से सरल काम भी मुश्किल हो जाता है। अतः शासन के जटिल कार्यों के लिये मंत्री नियुक्त किये जाने चाहिए। वे विद्वान, कर्तव्यपरायण, शास्त्रज्ञाता, कुलीन तथा अनुभवी होने चाहिए।

वह शासन कार्य में एकांत में तथा अलग-अलग तथा आवश्यकतानुसार संयुक्त मत्रंणा करनी चाहिए। मंत्रियों को उनकी योग्यतानुसार कार्य सौंपना चाहिए। यहां पर मनु स्पष्ट करता है -''सूर, दक्ष और कुलीन सदस्य को वित्त विभाग, शुचि आचरण से युक्त व्यक्ति को रत्न एवं खनिज विभाग, सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता मनोवैज्ञानिक, अन्तःकरण से शुद्ध तथा चतुर कुलीन व्यक्ति को संधि विग्रह विभाग का अधिष्ठाता बनाया जाना चाहिए। मंत्रिपरिषद के अमात्य नामक व्यक्ति का दण्ड विभाग, सेना विभाग तथा राजा को राष्ट्र एवं कोष अपने अधीन रखना चाहिए। इनमें से वह ब्राह्मणों को विशेष महत्व देने पर बल देता है। उसका मत है कि -'' इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है वह ब्राह्मण ही है। ब्राह्मण ब्रह्मा का ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र है।'' मनु की मान्यता है कि मत्रंणा अत्यन्त गोपनीय होनी चाहिए। वह इसके लिए मध्याह्न अथवा आधी रात को इसके लिये उपयुक्त मानता है। ''मनु स्मृति'' से यह भी पता चलता है कि उस समय मंत्रीयों का राजा के प्रति उत्तरदायित्व, मत्रंणा की गोपनीयता मिलकर निर्णय लेने की भावना तथा मंत्रीयों में विभागों के बंटवारे की व्यवस्था विकसित हो गई थी। प्रशासनिक कार्यों के संचालन के लिये वह योग्य, अनुभवी तथा ईमानदार कर्मचारी की नियुक्ति का पक्षधर है। भ्रष्ट अधिकारियों पर पैनी निगाह रखते हुए उनके विरूद्ध कठोर कार्यवाही करने चाहिए। कर्मचारियों एवं महत्वपूर्ण पदाधिकारियों पर नजर रखने के लिये गुप्तचर व्यवस्था को प्रभावी बनाया जाना चाहिए। राजदूत के संबंध में मनु ने स्पष्ट किया है कि निर्भीक प्रकृति

के, सुवक्ता,देश काल पहचानने वाले, हृदय एवं मनोभाव को पहचानने वाले, विविध लिपियों के ज्ञाता तथा विश्वासपात्र को राजदूत बनाया जाना चाहिए।

5.3.4 प्रादेशिक प्रशासन संबंधी विचार

मनु ने प्रशसनिक व्यवस्था संबंधी निर्देश अपनी पुस्तक ''मनु स्मृति'' में दिये है। मनु का स्पष्ट मत है कि राजा दो, तीन, पांच और सौ गांवों के बीच अपना राज स्थान स्थापित करें तथा यहां शन्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिये योग्य कर्मचारी नियुक्त करे। ''मनु स्मृति'' में राज्य को क्षेत्रीय आधार पर पुर तथा राष्ट्र को विभाजित किया गया है। पुर या दुर्ग से आशय राजधानी से है जो चारों ओर से सुरक्षित सुविधाओं से पूर्ण तथा स्वस्थ भू-भाग में बसाई जानी चाहिए। शासन को व्यवस्थित रूप से संचालित करने के लिये राष्ट्र को छोटी-बड़ी बस्तियों में विभाजित करना चाहिए। ''मनु स्मृति'' मे स्पष्ट रूप से एक ग्राम, दस ग्राम, सौ ग्राम तथा एक हजार ग्रामों की अलग-अलग संगठनों की व्यवथा है। ग्राम शासन की सबसे छोटी इकाई है इसके अधिकारी को ग्रामिक कहा जाता है। मनु के अनुसार ग्रामिक का मुख्य कार्य शन्ति और व्यवस्था बनाये रखना है। इसको ही राजस्व एकत्र कर 10 ग्रामों के अधिकारी के पास भेजना है। 10 ग्रामों के अधिकारी को दशग्रामपति कहा जाता है। बीस ग्राम के अधिकारी को विशंती, सौ ग्रामों के अधिकारी को शती, तथा एक हजार ग्रामों के पति को सहस्त्रपति कहा गया है। इन सभी अधिकारियों के कार्यो के निरीक्षण उच्च अधिकारी करता है। प्रत्येक अधिकारी के वेतन का भी उल्लेख मनु स्मृति में मिलता है। ग्रामों के अतिरिक्त नगरों के प्रशासन की भी व्यवस्था की गई है। नगर अधिकारी को स्वार्थ चिन्तक नाम दिया गया है।

5.3.5 विधायिका (परिषद)

मनु ने कार्यपालिका के साथ ही विधायिका अथवा परिषद का उल्लेख किया है। परिषद का अर्थ विधायिका से लिया जाता है। मनु स्मृति में स्पष्ट किया गया है कि परिषद में तीन से दस तक सदस्य होने चाहिए। इन सदस्यों में से तीन वेदों के जानकार होने चाहिए। वेदों की जानकारी के साथ राष्ट्रीय नीतियों को क्रियान्वित करने की क्षमता भी होनी चाहिए। यहां पर मोरवानी का कथन महत्वपूर्ण है- ''परिषद ऐसे विद्वान व्यक्तियों से मिलकर बननी चाहिए जिन्होने वेदों, टीकाओं का अध्ययन किया हो जो अपने तर्को के संबंध में प्रमाण देने में सक्षम हो।''

मनु स्मृति में कुल, जाति, श्रेणी और जनपद नामक जनता की संघीय संस्था का भी उल्लेख किया। इसमें यह भी बताया गया है कि इन संस्थाओं द्वारा बनाये गये नियमों को वह स्वीकृति प्रदान करे।

5.3.6 कानून-न्याय एवं दण्ड व्यवस्था

मनु स्मृति में सदैव राजा के न्यायपूर्ण आचरण पर बल दिया गया है। न्याय ही दण्ड का आधार है। मनु का यह मानना था कि दण्ड के भय के कारण ही लोग स्थिर रहते है। मनु का कहना है कि राजा का यह कर्तव्य है कि वह देश, काल, अपराध की गुणता आदि पर विचार करके ही अपराधियों को दण्ड देना चाहिए। मनु का मानना है कि राजा दण्ड के भय से ही शासन करता है। यदि राजा अपराधियों को दण्ड न दे तो बलवान लोग दुर्बलों को वैसे ही पकाने लगेगें जैसे मछलियों को लोहे की छड़ में छेदकर पकाया जाता है। राजा का यह परम कर्तव्य है कि वह राज्य में न्यायोचित दण्ड की व्यवस्था करें। राजा को सदैव तत्पर रहते हुए कुल, जाति, गण और जनपद में जो भी अपने धर्म से विचलित हो तो राजा उन्हें यथोचित दण्ड की व्यवस्था करता है। मनु ने दण्ड के चार प्रकार बताये है-

1. घिग्दण्ड
2. वाग्दण्ड

3. धनदण्ड

4. वधदण्ड

मनु ने दण्ड की महत्ता पर बहुत अधिक बल दिया है। उसकी मान्यता है कि दण्ड के अभाव में राज्य एक क्षण भी नहीं चल सकता है। मनु दण्ड को सामाजिक जीवन का आधार मानता है। वह दण्ड के महत्व को निम्न तर्को के द्वारा सिद्ध करता है-

1.दण्ड सभी मनुष्यों का रक्षक होता है। यही कारण है कि सभी उसका पालन करते है।

2.यह सर्वोच्च एवं सर्वशक्तिमान होता है।

3.दण्ड की सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की रक्षा एवं देखभाल करता है।

4.दण्ड राज्य की संपति की रक्षा तथा वृद्धि के लिये अनिवार्य है।

दण्ड के संबंध में मनु स्पष्ट करता है कि यह सर्वोच्च एवं सर्वशक्तिमान तत्व है। अतः दण्ड देने वाला व्यक्ति राज्य में सर्वोच्च होता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में व्यक्त दण्ड संबंधी विचार को ही सम्प्रभुता का आधार कहा जाता है।

कानून अथवा विधि संबंधी विचार

मनु ने कानून निर्माणके लिये परिषद अथवा विधायिका का उल्लेख किया है। परिषद के सन्दर्भ में उसका स्पष्ट मत है कि इसका निर्धारण बौद्धिक क्षमता से होना चाहिए न कि संख्या के आधार पर। उसने स्पष्ट किया है कि इसके दस सदस्यों में तीन वेद के ज्ञाता, एक निर्वक्ता, एक भीमांसाकर, एक निसक्त, एक धर्म शास्त्र का कहने वाला तथा तीन व्यक्ति मुख्य व्यवसायों के होने चाहिए। मनु यह भी स्पष्ट करता है कि यदि ऐसे दस व्यक्ति न मिले तो योग्य वेदों के जानकार तीन व्यक्ति ही काफी है।

न्याय संबंधी विचार

मनु स्मृति में न्याय व्यवस्था का विस्तृत विवेचन किया जाता है। मनु के अनुसार सामान्यतः दो प्रकार के विवाद होते हैं - हिंसा के कारण उत्पन्न विवाद तथा धन संबंधी विवाद। मनु का मानना है कि राजा को स्वंय विवादों का समाधान करना चाहिए। यदि वह स्वंय न कर पाये तो योग्य ब्राह्मण को नियुक्त किया जाना चाहिए। राजा द्वारा नियुक्त ब्राह्मण भी ऐसे तीन अन्य व्यक्तियों के साथ न्यायालय में न्याय करना चाहिए। मनु अपेक्षा करता है कि सभी विवादों का निर्णय पूर्ण निष्पक्षता से करना चाहिए। यदि सत्य असत्य से पराजित होती है तो उसके सदस्य भी पाप से नष्ट हो जाते है। मनु की स्पष्ट मान्यता थी कि न्यायधीश वेदों का जानकार ब्राह्मण व्यक्ति को ही होना चाहिए। शूद्रों को यह महत्वपूर्ण दायित्व नहीं देना चाहिए। न्यायधीशों को शारीरिक भाषा, मुख संकेत तथा मनोविज्ञान समझने की क्षमता रखनी चाहिए। जहां पर निर्णय हो उस स्थान का सभा कहा जाता है। सभा के न्यायधीश को सत्य की रक्षा के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ होना चाहिए। सत्यता की जांच करने के लिये लिखित युक्ति तथा साक्षी आदि का परीक्षण करना चाहिए। मनु ने प्रमाणों को भी दो भागों में बांटा है-

1. मानुष प्रमाण

2. दिव्य प्रमाण

मानुष प्रमाणः- मनु ने मानुष प्रमाण को तीन भागों में बांटा है। ये मुख्य रूप से लिखित, युक्ति तथा साक्षी होते है। मनु आगे स्पष्ट करते है कि लिखित प्रमाणों को सर्वाधिक महत्व होता है। इसमें भी यह देखना चाहिए कि बलपूर्वक

तो कोई लिखित प्रमाण तैयार नहीं कराया गया है। मनु की स्पष्ट मान्यता थी कि झूठ बोलने वाले, सेवक, शत्रु, सन्यासी, कोढ़ी के ऊपर विश्वास नहीं करना चाहिए। साक्ष्य से पूर्व शपथ का विधान रखना चाहिए। मिथ्या साक्ष्य देने वालों को कठोर दण्ड देना चाहिए। स्त्री के लिये स्त्री साक्षी को स्वीकार करना चाहिए। गवाह के रूप में ब्राह्मण गवाह को विशेष महत्व देना चाहिए। युक्ति प्रमाण के संबंध में मनु कहता है कि यदि किसी व्यक्ति की किसी चीज को कोई 10 वर्ष से अधिक समय से भोग कर रहा है तो वह वस्तु उसी की हो जायेगी। इस संबंध में यह जरूर कहता है कि संबंधित मामला बालक तथा पागल का नहीं होना चाहिए।

दिव्य प्रमाणः- दिव्य प्रमाण में शपथ लेने, जल में डूबना, जलती अग्नि को ग्रहण करना आदि सम्मिलित किये गये है। यह प्रमाण तभी प्रासंगिक होते है जब मानुष प्रमाण विफल हो जाते है। मनु में न्यायिक पुनरावलोकन के तत्व भी मिलते है। वह यह स्पष्ट करते है कि यदि राजा को लगे कि न्याय गलत हो गया है तो वह विवाद का पुनः अवलोकन कर सकता है।

5.3.7 कर व्यवस्था संबंधी विचार

करारोपण के संबंध में भी मनुस्मृति में व्यापक व्यवस्था की गई है। मनु भी प्रजा के साथ पुत्रवत संबंध रखने का हिमायती था। उसकी मान्यता थी कि प्रजा से थोड़ा-2 कर ही लेना चाहिए। वह स्पष्ट करता है कि कर न लेने से राजकोष खाली होता है और राज्य कमजोर होता है वही अत्याधिक, दमनकारी कर नीति से प्रजा की जड़ तथा विश्वास घटता है। कर का निर्धारण सदैव न्यायपूर्ण होना चाहिए। वह कहता है कि कर लगाने का उद्देश्य विलासिता नहीं वरन् जनकल्याण होना चाहिए।

मनु स्मृति में कर की मात्रा का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। मनु के अनुसार पशु एवं स्वर्ण का 50 वां भाग, धान्य का छठां भाग, आठवा और बारहवां भाग लेना चाहिए। उसकी मान्यता थी कि अत्याधिक वृद्ध, लंगड़े तथा अंधों से कर नहीं लेना चाहिए। वह स्पष्ट करता है कि कारीगरों, श्रमिकों, बोझा ढोने वालों से एक महीने में एक दिन का काम लेना चाहिए। प्रजा से कर के रूप में ली जाने वाली सामग्री को उसने बलि कहा। व्यापारियों से लिया जाने वाला कर शुल्क कहलाया। किसी व्यक्ति से लिया गया आर्थिक दण्ड अथवा जुर्माना दण्ड कहलाया। उसने इसके अतिरिक्त संतरण कर, पशुकर, आयकर का भी उल्लेख किया है।

5.3.8 विदेश नीति संबंधी विचार

मनु ने विदेश नीति संबंधी दो प्रमुख सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। ये प्रमुख सिद्धान्त निम्न है-

1.मण्डल सिद्धान्तः- मनु के अनुसार राजा को महत्वाकांक्षी होना चाहिए। उसे सदैव अपनी सीमाओं के विस्तार के संबंध में सोचना चाहिए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये राजा को सदैव मण्डल सिद्धान्त के अनुसार आचरण करना चाहिए। मनु के मण्डल सिद्धान्त का केन्द्र बिन्दु ''विजीगीषु राजा'' होता है।

मनु ने राज्य मण्डल की चार मूल प्रकृतियां बतायी है। जो राजा विजिगीषु राजा की सीमा के पास रहता हो, विजिगीषु तथा उसके विरोधियों में संधि होने पर अनुग्रह करने में तथा विरोध होने पर दण्डित करने में समर्थ हो वह राजा मध्यम है। जो विजिगीषु तथा मध्यम राजाओं के मध्य एकमत होने पर अनुग्रह करने तथा विरोध करने पर निग्रह करने में समर्थ हो तो वह राजा उदासीन है। शत्रु राजा तीन प्रकार के होते है- सहज शत्रु, कृत्रिम शत्रु , राज्य की भूमि के पार्श्ववर्ती शत्रु।

मनु स्पष्ट करता है कि विजिगीषु राजा का चाहिए कि वह शत्रु राजाओं से अलग-अलग या मिलकर साम, दाम, दण्ड, भेद से उनको अपने वश में करे। राजा को सदैव यह प्रयास करना चाहिए कि वह शत्रुओं की कमियों को पता कर अपनी तैयारी करे। साथ ही वह सम्पूर्ण तैयारी को गोपनीय बनाकर रखने पर बल देता है।

2.षाड़गुण्य नीतिः- मनु की यह मान्यता है कि राजा को छः नीतियों का पालन करते हुए न केवल अपने राज्य की रक्षा करनी चाहिए वरन् सीमाओं का विस्तार भी करना चाहिएं वह साम, दाम, दण्ड, भेद के द्वारा राष्ट्रहित में वृद्धि पर बल देता है। इसके लिये उसे निम्न छः नीतियों को अपनाना चाहिए-

1. संधि
2. विग्रह
3. यान
4. आसन
5. द्वैधीभाव
6. सश्रंय

इन छः नीतियों का पालन मौके, परिस्थितियों के अनुसार करना चाहिए। राजा को ऐसे सभी उपक्रमों का प्रयोग करना चाहिए जिससे शत्रु मध्यम तथा उदासीन राजाओं की संख्या न बढ़ सके। इनकी संख्या बढ़ने से मित्र के शत्रु होने तथा पराधीन होने की संभावना बढ़ जाती है।

मनु की मान्यता है कि शंतिकाल में राजा को राजदूत के माध्यम से संबंध संचालन एवं मित्रता को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। राजदूत के ऊपर ही दो राज्यों के बीच अच्छे संबंध बनाने की जिम्मेदारी होती है। अतः राजदूत की नियुक्ति में योग्यता, शास्त्रों का ज्ञान, वाकपटुता तथा देश प्रेम जैसे गुणों पर ध्यान देना चाहिए। मनु के शब्दों में - ''राजा को साम, दाम, दण्ड, भेद का नीति का प्रयोग करके अपने राज्य का विस्तार करना चाहिए। इस कार्य के लिये युद्ध को अंतिम विकल्प के रूप में प्रयोग में लाना चाहिए।

मनु का षाड़गुण्य नीति का प्रावधान आपातकाल के लिये किया गया है। सामान्य काल में राजा से अपेक्षा है कि वह कूटनीति के द्वारा हित संवर्धन करे। मनु ने यह भी स्पष्ट किया है कि विजेता राजा द्वारा पराजित राजा के साथ मानवीय व्यवहार करना चाहिए। विजेता राजा के द्वारा पराजित लोगों के रीति-रिवाज, मर्यादाओं, परम्पराओं का सम्मान किया जाना चाहिए। किसी योग्य व्यक्ति को वहां का राजा नियुक्त कर देना चाहिए। उससे संधि कर उसको मित्र बना लेना चाहिए।

5.4 मनु और कौटिल्य के बीच तुलना

मनु और कौटिल्य प्राचीन भारत के प्रमुख राजनीतिक विचारक थे। उनके विचारों में अनेक बिन्दुओं पर समानता तथा अनेक बिन्दुओं पर असमानता दिखायी पड़ती है। दोनों ही विद्वान प्राचीन भारतीय परम्पराओं रीतियों एवं वर्णाश्रम व्यवस्था को स्वीकार करते हैं। दोनों ही ब्राह्मणों को ऊंचा स्थान एवं कम सजा का प्रावधान की व्यवस्था करते है। कौटिल्य सृष्टि के सृजन के सम्बन्ध में स्पष्ट मत नहीं रखता परन्तु मनु का मत है कि ब्राह्मणों का जन्म ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रियों की उत्पति उनकी भुजाओं से, वैश्यों की उत्पति उनके पेट से हुई है। दोनों मानव

जीवन का मुख्य उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष मानते है। दोनों ही दण्ड नीति को स्वीकार करते है। मनु के अनुसार दण्ड ही राजा है। राज्य की उत्पति के संबंध में दोनों के विचार समान है। मनु दैवीय उत्पति के सिद्धान्त को तो मानता है परन्तु उसमें समझौते की झलक मिलती है। कौटिल्य भी उत्पति के संबंध में समझौतावादी सिद्धान्त स्वीकार करता है। दोनों ही सावयवी सिद्धान्त (Organic Theory), को स्वीकार करते हुए राज्य रूपी शरीर के सात अंश बताये है। इनमें स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र प्रमुख हैं। दोनों ही राजतन्त्र को श्रेष्ठ शासन माना है। वे राज्य को सर्व सत्ताधारी बताते है। दोनों की राज्य का समान लक्ष्य मानते हैं। दोनों ने प्रशासन में मंत्रियों की भूमिका को स्वीकार किया है। मंत्रियों की योग्यता के संबंध में दोनों के विचार समान है। कौटिल्य ने राजनीतिक व्यवस्था पर अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में व्यापक व्याख्या की परन्तु मनु ने इतनी व्यापक व्याख्या नहीं की। दोनों ने दण्ड व्यवस्था में ब्राह्मणों को कम दण्ड देने की वकालत की है। कर व्यवस्था पर दोनों के विचार समान है। वे कर जन कल्याण के लिये लगाने पर बल देते थे। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों अथवा विदेश नीति के संचालन में दोनों ही षाड़गुण्य नीति तथा मण्डल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

5.5 मूल्यांकन

मनु को प्रथम मानव माना जाता है। उनका ग्रन्थ ''मनुस्मृति'' हिन्दू धर्मशास्त्र की सर्वाधिक प्राचीन रचना मानी जाती है। उन्होंने राज्य, शासन, दण्ड, न्याय, परराष्ट्र नीति पर महत्वपूर्ण विचार दिये। उनका आदर्श राजा प्लेटो के दार्शनिक राजा से अधिक महत्वपूर्ण है। मनु ने राजतंत्र का समर्थन किया परन्तु उसका राजा निरंकुश नहीं है। मनु ने सम्प्रभुता, राजधर्म, प्रशासनिक व्यवस्था, कर व्यवस्था पर महत्वपूर्ण विचार दिये है। राजा पर नियन्त्रण तथा जनकल्याणकारी विचार एक लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना करता है। वह मानवतावादी है। उनके विचारों केन्द्र में मानव है। सामाजिक व्यवस्था को लेकर भी बहुत उत्कृष्ट विचार दिये। वे धर्म, वर्ण व्यवस्था, आश्रम पर महत्वपूर्ण विचार रखते है। वे सभी के विकास एवं कल्याण पर बल देते थे।

मनु के शासन संबंधी विचार बहुत महत्वपूर्ण है। वे अराजकता को समाप्त करने तथा व्यवस्था स्थापित करने पर बल दिया। उन्होनें दण्ड एवं न्यायव्यवस्था पर अत्याधिक बल दिया। उनका राज के कार्यों के संबंध में दृष्टिकोण जनकल्याणकारी है। उनका राजा एक आदर्श राजा है। इसके बावजूद वह व्यवहारिक भी है। वह धूर्त एवं निरंकुश नहीं है। मनु द्वारा प्रतिपादित मण्डल सिद्धान्त तथा षाड़गुण्य नीति आज के समय में भी प्रांसगिक है। आज दुनिया के देश विदेश नीति का आधार इन्हीं सिद्धान्तों को बनाते हैं। संधि, विग्रह, यान, युद्ध संबंधी विचार मनु की अमूल्य देन है जो कि उन्हें राजनीति शास्त्रों में अमर कर देता है।

अभ्यास प्रश्न -

1. मनु की रचना का क्या नाम था?
2. मनु द्वारा प्रतिपादित राज्य की उत्पति का सिद्धान्त क्या है?
3. मनु किस प्रकार की शासन प्रणाली का समर्थक था?
4. मनु वर्ण व्यवस्था का समर्थक था। सत्य/असत्य
5. मनु द्वारा प्रतिपादित षाड़गुण्य नीति तथा मण्डल सिद्धान्त किस से सम्बन्धित है?

5.6 सारांश

मनु प्राचीन भारतीय चिन्तन के मुख्य विचारक है। उन्होंने अपनी कृति ''मनु स्मृति'' में राजनीतिक विचार प्रस्तुत किये। मनु ने राज्य की उत्पति के सम्बन्ध में दैवीय उत्पति के सिद्धान्त को अपनाया। उनका दैवीय उत्पति का सिद्धान्त में समझौतावादी तत्व मिलते हैं। मनु ने राजतन्त्र का समर्थन किया परन्तु उनका शासक नियन्त्रणविहीन न होकर संयमित है। उसे आशा की जाती है कि वह कानूनों का पालन करे तथा रीतियों एंव परम्पराओं से संयमित है। राज्य के संबंध में मनु राज्य रूपी शरीर की बात करता है। वह राज्य के सात अंगों का साप्तांग सिद्धान्त देता है। मनु ने इन अंगों में राजा को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है। प्रशासन को मनु ने कई भागों में बांटा है। मनु दण्ड एवं न्याय की व्यवस्था का भी वर्णन करता है। उसका दण्ड संबंधी सिद्धान्त बहुत व्यवहारिक एवं यर्थातवादी है। न्याय संबंधी विचार बहुत व्यापक है जिसमें न्याय के विभिन्न पहलूओं का व्यापक वर्णन किया गया है। मनु ने विदेश नीति के संचालन में मण्डल सिद्धान्त एवं षाड़गुण्य नीति को दिया है। इसमें विभिन्न परिस्थितियों में राजा द्वारा अलग-अलग नीतियां अपनाने पर बल दिया गया है। यह विदेश नीति के निर्धारण का एक व्यवहारिक सिद्धान्त है। यह बदलते विश्व परिदृश्य में बदलती नीति द्वारा राष्ट्रहित के संवर्धन का एक यर्थातवादी समाधान है जो आज के भूमण्डलीकरण के दौर में भी प्रासंगिक है। मनु द्वारा प्रस्तुत उपरोक्त सिद्धान्त बहुत प्रांसगिक है जो मनु को अमर बना देती है।

5.7 शब्दावली

सावयवी सिद्धान्तः- इस सिद्धान्त में राज्य एक जीवधारी मानते हुए उसके विभिन्न अंगों की कल्पना की जाती है।

दैवीय उत्पतिः- इसके अर्न्तगत राज्य की उत्पति ईश्वर के द्वारा मानी जाती है। इसमें यह स्वीकार किया जाता है कि राज्य को ईश्वर ने बनाया है।

5.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. मनु स्मृति , 2. दैवीय उत्पति का सिद्धान्त, 3.प्रजातन्त्र, 4. सत्य, 5.विदेश नीति के संचालन से

5.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. राव एम0वी0 कृष्णा, स्टडीज इन कौटिल्या

2. समस्त्रे आर0, कौटिल्यस का अर्थशास्त्र

3. परमात्मा शरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं समस्यायें

4. वर्मा, वी0पी0, प्राचीन भारतीय चिन्तन

5.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. वेनी प्रसाद, दि स्टेट इन एनसिएंट इण्डिया
2. श्यामलाल पाण्डेय, कौटिल्य की राज व्यवस्था

5.11 निबधात्मक प्रश्नः-

1. मनु के राजनैतिक विचारों पर एक निबन्ध लिखिये।
2. मनु के विदेश नीति संबंधी विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।
3. मनु के राजनैतिक विचारों का वर्तमान में प्रासगिकता स्पष्ट करते हुए एक निबंध लिखिये।
4. मनु के विचारों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये।

इकाई -6 : कौटिल्य

इकाई की संरचना

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 राज्य की उत्पत्ति
6.3.1 राज्य के कार्य एवं स्वरूप
6.3.*3* राजा संबंधी विचार
6.3.4 साप्तांग सिद्धान्त
6.3.4.1 विभिन्न अंगों का तुलनात्मक महत्व
6.3.5 मंत्री परिषद अथवा अमात्य संबंधी विचार
6.4 प्रशासनिक व्यवस्था
6.5 कानून एवं न्याय संबंधी विचार
6.6 दण्ड एवं गुप्तचर संबंधी विचार
6.7 विदेश नीति संबंधी विचार
6.8 मण्डल सिद्धान्त
6.9 षाड.गुण्य नीति
6.11 कौटिल्य एवं मैकयावेली
6.12 कौटिलय एवं यूनानी विचारक
6.13 सारांश
6.14 शब्दावली
6.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.16 संदर्भ ग्रन्थ सूची
6.17 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री
6.18 निबंधात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय राजनीतिक विचारकों में कौटिल्य का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। साधारण ब्राहमण परिवार में जन्म के बावजूद अपनी योग्यता,मेधा,क्षमता तथा साहस से न केवल अपना मुकाम स्थापित किया वरन् अपनी संगठन क्षमता, कूटनीति, शौर्य से नंदवंश का नाश किया। उन्होंने अपनी दूरदृष्टि से नंदवंश के अत्याचार से भारतीय जनमानस को मुक्त कराया साथ ही चन्द्रगुप्त मौर्य को स्थापित करते हुए भारतीय राजनीतिक एकीकरण के द्वारा एक सशक्त राजनीतिक सत्ता की स्थापना की।

विद्वानों का मत था कि कौटिल्य का जन्म 400 ई0 पूर्व तक्षशिला के एक गरीब परिवार में हुआ था। उनको कई नामों से पुकारा जाता था जिसमें विष्णुगुप्त, चाणक्य, कौटिल्य प्रमुख थें। कौटिल्य ने नालंदा विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण की। शिक्षा समाप्त होने के साथ वह वहीं प्राध्यापक हो गये। समा्रट महानंद द्वारा सभा में किये गये अपमान ने उसे न केवल झकझोर दिया वरन् उसे सक्रिय राजनीति में धकेल दिया। नन्द बंश के नाश होने के बाद मौर्य वंश की स्थापना हुई। सिकन्दर के जाने के बाद कौटिल्य ने पंजाब के राजाओं से मैत्री कर यूनानियों को देश से निकाल दिया।

भारतीय राजनीतिक दर्शन में कौटिल्य का महत्वपूर्ण स्थान है। कौटिल्य ने अपनी कृति ‘‘अर्थशास्त्र’’ के द्वारा शासन संचालन , राजा के अधिकार , कर्तव्य का व्यापक चित्रण किया है। उसने प्रजा हित के लिये राजा को कठोर परिश्रम एवं कड़े नियम बनाने की वकालत की। वह प्राचीन भारत का संभवतः पहला विद्वान था जिसने राजनीतिक सिद्धान्तों का वर्णन किया। कौटिल्य के द्वारा प्रस्तुत साप्तांग सिद्धान्त ,मण्डल सिद्धान्त तथा षाडगुण्य सिद्धान्त राजनीति शास्त्र को उसकी अमूल्य देन है। उन्होंने अपने ग्रन्थ ‘‘अर्थ शास्त्र’’ में इन सिद्धान्तों का वर्णन किया है। उनके ग्रन्थ में प्रन्द्रह अधिकरण एक सौ अस्सी प्रकरण , एक सौ पचास अध्याय तथा छः हजार श्लोक है। इसमें राजनीति के अतिरिक्त , दर्शन,शिक्षाशास्त्रों, नीति शास्त्र, सैन्य शास्त्र, रसायन शास्त्र , इंजीनियरिंग आदि का वर्णन किया गया है।

6.2 उद्देश्य

इकाई के उद्देश्यः- इकाई के निम्न उद्देश्य है-

1.प्राचीन भारतीय चिन्तन के गौरव से विद्यार्थियों को परीचित कराना।

2.इसके द्वारा हम कौटिल्य के विभिन्न सिद्धान्तों को जानने का प्रयास करेंगें।

3.कौटिल्य के विचारों के माध्यम से भारत के राजनीतिक एकीकरण में उनके योगदान को जानने का प्रयास करेंगें।

4.कौटिल्य के विचारों के अध्ययन से आदर्श राजा के कार्य, उसके अधिकार तथा उस पर स्थापित नियन्त्रण को समझने का प्रयास करेंगे।

5.कौटिल्य के अध्ययन के द्वारा राजनीति के व्यवहारवादी पक्ष (यर्थातवाद) को जानने का प्रयास करेगें।

6.3 राज्य की उत्पत्ति

कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सामाजिक समझौते के सिद्धान्त से मिलते - जुलते विचार दिये है। उनका मानना है कि राज्य से पूर्व समाज में अराजकता, मत्स्य न्याय अथवा जिसकी लाठी उसकी भैंस की तरह की स्थिति थी। इस स्थिति में सभी परेशान थे। अपने जीवन, संपति की रक्षा के लिए लोगों ने मनु को अपना राजा बनाया। शांति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए लोगों ने उपज का 1/6 भाग कर के रूप में देने लगे। व्यापार में 1/10 भाग तथा सोने से होने वाले आय का भी कुछ भाग प्राप्त करने लगे।

कौटिल्य अपनी पुस्तक ‘‘ अर्थशास्त्र ’’ में स्पष्ट करता है कि राजा जनकल्याण में कार्य करेगा तथा लोग कोष में अपना अंश तभी करेंगे जब उनकी सुरक्षा, कल्याण आदि राजा द्वारा सुनिश्चित किया जायेगा। इस प्रकार कौटिल्य ने राज्य की उत्पत्ति में जन स्वीकृति का विचार दिया है।

कौटिल्य का राज्य की उत्पत्ति का विचार समझौतावादी विचाराकों हाव्स, लाक तथा रूसों से मेल खाता है। उनका मानव भी स्वार्थी, झगड़ालू है जो अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये दूसरे को नुकसान पहुँचाने में नहीं हिकचता है। मानव जीवन पर आये संकट, ने सभी को मिलकर व्यवस्था सुनिश्चित करने पर विवश किया।

कौटिल्य ने राजा पर जन कल्याण का अंकुश लगाया है। उसने आशा की है कि जन स्वीकृति से अस्तित्व में आया राजा अपने को बनाये रखने के लिये सदैव प्रयासरत रहता है। कौटिल्य ने ‘‘राजकोष’’ पर जनता का नियन्त्रण माना है। उसकी स्पष्ट मान्यता थी कि बिना जन स्वीकृति के नया कर नहीं लगाया जा सकता है। वह राजा को पूर्ण आजादी नहीं देता वरन् उस पर जनस्वीकृति का बंधन लगाता है।

6.3.1 राज्य के कार्य एवं स्वरूप

कौटिल्य राज्य के स्वरूप के संबंध में साव्ययी रूप में विचार रखते है। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि राज्य सात अंगों जैसे स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र से मिलकर बना है। उसकी मान्यता है कि यह आवश्यक अंग है। कौटिल्य के साव्ययी विचारों से पूर्व की भारतीय चिन्तन में इसकी झलक मिलती है। ऋग्वेद में जहां इसकी झलक मिलती है वहीं यर्जुवेद में कहा गया है कि विराट पुरूष की पीठ राष्ट्र है और उसकी उदर पीठ, जांघ तथा घुटने आदि उसकी प्रजा है।

कौटिल्य द्वारा प्रस्तुत सावयवी सिद्धान्त पूर्णतः स्पष्ट और मौलिक है। इसका उद्भव ऋग्वेद के पुरूष उक्ति में मिलता है। कौटिल्य ने अपने सात अंगों में राजा को सर्वाधिक महत्व दिया है। राजा के बाद मंत्री या अमात्य है जो उसे परामर्श देते है। उनकी सहायता से ही राज्य का संचालन संभव हो पाता है। दुर्ग राज्य की सुरक्षा का कवच है। जनपद अथवा भू-भाग राज्य के अस्तित्व का भैतिक आधार है। जन कल्याण के लिए भरा हुआ कोष आवश्यक है। इसके अतिरिक्त दण्ड भी राज्य का आवश्यक अंग है क्योंकि बिना भय के कानून का पालन सुनिश्चित कराना असंभव है। कौटिल्य इसमें मित्र को भी स्थान देता है। आधुनिक समय में जनसंख्या, निश्चित भू-भाग , सरकार तथा सम्प्रभुता को राज्य का अंग माना जाता है परन्तु कौटिल्य ने इसे साथ मानते हुए इसमें कोष, दुर्ग मित्र को जोड़ा है।

कौटिल्य ने राज्य को पुलिस राज्य नहीं माना है। वह राज्य के व्यापक कार्यो की वकालत करता है। उसका मानना है कि राज्य को व्यक्ति के पूर्ण विकास में सहायता करना चाहिए। उसकी मान्यता थी कि इस परम् उद्देश्य को पाने के लिये राज्य को सभी यत्न करने चाहिए। राज्य के द्वारा नागरिकों में देशभक्ति और कर्तव्य परायणता भरने के प्रयास करने चाहिए। उसका मानना था कि राज्य द्वारा जन कल्याण के सभी कार्य करने चाहिए। कौटिल्य नागरिक

सुरक्षा, जनकल्याण को आवश्यक मानता था। वह विदेशी राष्ट्रों पर पैनी नजर रखने की भी वकालत करता था। कौटिल्य के अनुसार राज्य के प्रमुख कार्य निम्न है-

1. राज्य की सुरक्षा करना।
2. शांति और व्यवस्था बनाये रखना।
3. प्रजा की वाह्य और आंतरिक संकटों से रक्षा करना।
4. देश की सीमाओं का विस्तार करना।
5. कृषि को उन्नत करने का सदैव प्रयत्न करना।
6. पशुओं का संरक्षण और संवर्द्धन करने का प्रयत्न करना।
7. व्यापार को बढ़ावा देना।
8. वनों का विस्तार तथा कल-कारखानों का प्रसार करना।
9. सामाजिक, शैक्षणिक कार्यो को करना।

राजा एवं सेना संबंधी कार्यः- कौटिल्य राज्य के सात अंगों में राजा को सर्वोच्च्च स्थान प्रदान करता है। वह शासन की धुरी के समान है। वह शासन को प्रभावी बनाने तथा जनकल्याण को सुनिश्चत करने का माध्यम है।

राजा के गुणः- कौटिल्य ने राजा के आवश्यक गुणों का विस्तृत विवरण दिया है। उसके अनुसार राजा को कुलीन, स्वस्थ, शास्त्र का अनुसरण करने वाला होना चाहिए। उसे अभिगामी गुणों, प्रज्ञा गुणों, उत्साह गुणों तथा आत्म सयंम गुणों से युक्त होना चाहिए। अभिगामी गुणों अर्न्तगत राजा की कुलीनता, धैर्य, दूरदर्शीता, सत्यवादिता, आदि आती है। इसके अर्न्तगत राजा से यह आशा की जाती है कि वह उचित , सत्य तथा शास्त्रों के अनुरूप चीजों को ग्रहण करेगा। उत्साह गुण में राजा में निर्भीकता, तेजी एवं दक्षता से कार्य करने की आशा रखी जाती है। आत्म संयत गुणों में राजा से संयमी, बलवान, मृदुभाषी तथा उदार होने की आशा की जाती है।

कौटिल्य का मत है कि शिक्षा एवं कठोर अभ्यास से इन गुणों का विकास किया जा सकता है। कौटिल्य का कहना था-'' जिस प्रकार घुन लगी लकड़ी शीघ्र नष्ट हो जाती है उसी प्रकार अशिक्षित राजकुल भी बिना किसी युद्ध के अतिशीघ्र नष्ट हो जाता है।''

कौटिल्य ने शिक्षा पर बहुत महत्व दिया है। उन्होंने शिक्षा की व्यापक योजना प्रस्तुत की है। उनके अनुसार मुण्डन संस्कार के बाद वर्णमाला और अंकमाला का अभ्यास कराया जाय। उपनयन के बाद उसे त्रयी, वार्त, दण्ड नीति का ज्ञान कराया जाए। वर्ता के अध्ययन से राजा की आर्थिक समस्याओं को समझने की क्षमता विकसित होती है। दण्ड नीति में योग्य राजा अपने राज्य मे शांति और व्यवस्था लागू कर जनकल्याण सुनिश्चत करता है। आन्वीक्षकी विद्या राजा की बुद्धि को तीव्र करती है। यह लोक उपकार करती है। इसे राजा सुख-दुख में स्थिर रहता है और विचलित नहीं होता है।

राजा की दिनचर्याः-कौटिल्य के चिन्तन में राजा का प्रमुख स्थान है। राजा को सदैव सजग, सर्तक रहना चाहिए। राजकर्म को ठीक प्रकार से करने के लिए वह दिन-रात को आठ भागों में बांट देता है। वह प्रत्येक भाग को डेढ़ घंटे का होगा। वह दिन के प्रथम भाग में राजा के द्वारा रक्षा तथा पिछले दिनों के आय-व्यय को देखने पर बल देता है। दूसरे भाग में वह जनता, नागरिकों से मिले तथा उनका कल्याण सुनिश्चित करने पर बल देता है। तीसरे भाग को

स्नान, भोजन तथा स्वध्याय के लिए सुरक्षित करता है। चौथे भाग में कर विभाग का निरीक्षण पर बल देता है। पांचवा भाग मंत्रीपरिषद से परामर्श करने के लिए सुरक्षित है। सातवें भाग में स्वेच्छा से वह कोई कार्य कर सकता है। आठवां भाग हाथी, घोड़े, सेना के निरीक्षण के लिये आरक्षित है।

इसी प्रकार रात्रि को आठ भागों में विभाजित किया गया है। रात्रि के पहले भाग में गुप्तचरों को देखे। दूसरे भाग में स्नान, भोजन स्वध्याय तथा तीसरे भाग में संगीत सुनने के लिए निश्चित करता है। चौथा , पांचवा भाग शयन के लिए निश्चित है। छठे भाग में जागकर दिन में संपादित किये जाने वाले कार्य पर विचार करें। सातवें भाग में गुप्तमंत्रणा करें तथा गुप्तचरों को यथा स्थान भेजें। आठवें भाग में आचार्य , पुरोहित आदि से आाशीर्वाद ग्रहण करें। इसी समय वैद्य, रसोइया, ज्योतिष से परामर्श करें। इन सबसे निवृत होने के बाद दान दक्षिणा देने के बाद वह दरबार में प्रवेश करें। कौटिल्य वंशानुगत राजतंत्र का समर्थक था। वह राजा के बाद ज्येष्ठ पुत्र को राजगद्दी सौंपने का पक्षधर था। यहां पर कौटिल्य योग्य उत्तराधिकारी का पक्षधर था। उसकी मान्यता थी कि यदि योग्य उत्तराधिकारी न हो तो प्रधानमंत्री के द्वारा योग्य राजकन्या को उत्तराधिकारी बनाना चाहिए।

राजा के प्रमुख कार्यः- कौटिल्य ने राजा के निम्नलिखित प्रमुख कार्य बताये हैः-

1. प्रजा का कल्याण के लिए प्रयास करना।
2. धर्म का पालन तथा रक्षा करना।
3. शांति और व्यवस्था बनाये रखना।
4. प्रशासनिक कार्यों हेतु योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति करना।
5. विधि निर्माण करना।
6. न्यायिक कार्य करना।
7. दण्ड की व्यवस्था करना।
8. आर्थिक एवं वाणिज्यिक कार्यों की निगरानी करना।
9. राजकोष की अभिवृद्धि के उपाय करना।
10. युद्ध के लिए सदैव तैयार रहना।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कौटिल्य राजा को व्यापक शक्तियां प्रदान करता है परन्तु वह सामाजिक, धार्मिक नियमों से बंधा हुआ है। प्रो0 अल्तेकर का स्पष्ट मत है कि ‘‘कौटिल्य का राजा बहुत लौकिक, सामाजिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक बंधनों से मर्यादित है।’’

6.3 राज्य की उत्पत्ति

6.3.1 राज्य के कार्य एवं स्वरूप

6.3.*3* राजा संबंधी विचार

6.3.4 साप्तांग सिद्धान्त

प्राचीन समय से भारतीय चिन्तन में राज्य के साव्यय रूप का उल्लेख मिलता है। इस सिद्धान्त में राज्य की कल्पना एक जीवित शरीर की तरह की जाती है। इस सिद्धान्त में यह माना जाता है कि जिस प्रकार मानव शरीर विभिन्न अंगों से मिलकर बना है उसी प्रकार राज्य रूपी शरीर भी विभिन्न अंगों से मिलकर बना है। भारत के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में राज्य की कल्पना विराट पुरूष की तरह की गई है। कौटिल्य प्राचीन भारत का पहला विद्वान था जिसने राज्य के संबंध में इतने स्पष्ट विचार रखे है। कौटिल्य ने राज्य संबंधी अपने विचार में राज्य को सात अंगों का मिश्रण बताया। उनकी मान्यता थी कि राज्य रूपी शरीर सात अंगों से मिलकर बना है। कतिपय यही कारण है कि कौटिल्य का राज्य के सात अंगों का सिद्धान्त साप्तांग सिद्धान्त कहलाया। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक ''अर्थशास्त्र'' के छठे अधिकरण के पहले अध्याय में राज्य के सात अंगों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार सात अंग निम्न हैः-

1. स्वामी अथवा राजा 2. अमात्य 3. जनपद 4. दुर्ग 5. कोष 6. दंड

7. मित्र

1.स्वामी अथवा राजाः- कौटिल्य के सात अंगों के सिद्धान्त में स्वामी अथवा राजा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान है। कौटिल्य की स्पष्ट मान्यता थी कि राज्य की सफलता राजा पर निर्भर करती है। कौटिल्य को भारत में प्राचीन समय में पाये जाने वाले गणतन्त्रों का पर्याप्त ज्ञान था परन्तु वह योग्य कल्याणकारी राजा का प्रबल समर्थक था। कतिपय यही कारण था कि उसने राजा की योग्यता, गुणों तथा नीतियों का व्यापक उल्लेख अर्थशास्त्र में किया है। बी0पी0 सिंह का स्पष्ट मत है कि ''कौटिल्य की शासन प्रणाली में राजा शासन की धुरी है और शासन संचालन में सक्रिय रूप से भाग लेने और शासन को गति प्रदान करने में राजा का एकमात्र स्थान है।''

कौटिल्य राजा में आदर्श रूप देखता है। उसका राजा सर्वगुण सम्पन्न एक आदर्श व्यक्ति है। कौटिल्य के राजा संबंधी विचार प्लेटो के आदर्श राजा या दार्शनिक शासक (Philosopher King) के समान है। वह स्पष्ट करता है कि राजा ढ़ृड़ निश्चयी, विचारशील, सत्यवादी , वृद्धों के प्रति सम्मान का भाव रखने वाला, विवेकपूर्ण,दूरदर्शी उत्साही तथा युद्ध में चतुर होना चाहिए। उसमें कठिन समय में साहस न छोड़ने तथा समस्या को पकड़ने की क्षमता होनी चाहिए। वह राजा में राजकोष की वृद्धि की क्षमता रखने की क्षमता होना आवश्यक मानता है।

कौटिल्य राजा में आध्यात्मिक एवं नैतिक गुण को भी आवश्यक मानता है। उसका मानना है कि कुछ गुण स्वभाव से होते है परन्तु कुछ गुण अभ्यास, अध्ययन से विकसित किये जा सकते है। कतिपय यहीं कारण है कि वह राजा की शिक्षा पर बहुत बल देता है। उसकी स्पष्ट मान्यता थी कि '' जिस प्रकार घुन लगी लकड़ी जल्द नष्ट हो जाती है उसी प्रकार अशिक्षित राजकुल बिना किसी युद्ध के नष्ट हो जाते है।'' कौटिल्य के अनुसार राजा को दण्ड नीति, राज्य शासन, सैनिक शिक्षा, मानव शास्त्र, इतिहास, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का जानकार होना चाहिए। राजा को अपनी इन्द्रियों पर सदैव अंकुश रखना चाहिए। कौटिल्य के सात अंगों के सिद्धान्त में राजा का स्थान सर्वोच्च है। राजा राज्य रूपी शरीर में मस्तिष्क के समान है। जिस प्रकार मस्तिष्क के अक्षमता का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर के अंगों पर पड़ता है उसी प्रकार अयोग्य राजा से सम्पूर्ण राज्य ही अस्वस्थ्य हो जाता है।

2.अमात्य या मंत्री:- सामान्यतः अमात्य का अर्थ मंत्री से लिया जाता है। कौटिल्य अमात्य के अन्तर्गत मंत्री एवं प्रशासनिक अधिकारियों दोनों से रखता है। कौटिल्य का मत था कि जिस प्रकार एक पहिये की गाड़ी नहीं चल

सकती उसी प्रकार एक व्यक्ति सम्पूर्ण प्रशासन नहीं चला सकता है। राजा को प्रशासन में सहयोगियों से परामर्श लेना चाहिए।

कौटिल्य के अनुसार सभी कार्यों की सफलता अमात्यों पर निर्भर करती है। कृषि आदि कार्यों की सफलता राजवंश अन्तपाल आपत्तियों का प्रतिवाद , उपनिवेशों की स्थापना, अपराधियों को दण्ड तथा राज करो का निग्रह सम्पूर्ण कार्य अमात्यों द्वारा

सम्पन्न होते है। कौटिल्य का स्पष्ट मत था कि योग्य, अनुभवी व्यक्ति को बिना किसी पक्षपात के अमात्य बनाना चाहिए। कौटिल्य का मत है कि उनकी चरित्र परीक्षा के बाद नियुक्ति होना चाहिए। अमात्यों को उनकी क्षमता के अनुसार कार्य सौंपे जाने चाहिए।

3.जनपदः- जनपद कौटिल्य के राज्य रूपी शरीर का तीसरा अंग है। कौटिल्य का जनपद से अर्थ उस भू-भाग में निवास करने वाले नागरिकों अथवा निवासियों से है। उसका मानना था कि जनपद के अभाव में राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

कौटिल्य का स्पष्ट मत था कि दूसरे प्रदेशों से लोगों को आमंत्रित कर नये जनपद स्थापित किये जाय। प्रत्येक जनपद में कम से कम 100 घर तथा अधिक से अधिक 500 घर वाले गांव बसाये जाय जिसमें किसान एवं शूद्र अधिक हो। एक गांव दूसरे से दो कोस से अधिक दूर न हो।

जनपद के संगठन के संबंध में कौटिल्य स्पष्ट करता है कि ''आठ सौ गांवों के बीच स्थानीय , चार सौ गांवों के बीच द्रोणमुख , दो सौ गांवों के बीच खार्वटिक तथा दस गांवों के समूह के रूप में संग्रहण की स्थापना की जाय। इस प्रकार प्रशासनिक दृष्टि से जनपद , स्थानीय, द्रोणमुख, खार्वटिक , संग्रहण और गांव में बंटा होगा। कौटिल्य राज्य के छोटे आकार में विश्वास करता था।

कौटिल्य जनपद निर्माण की पूरी योजना देता है जिसमें प्रारम्भ में तथा सीमान्त में किले बने हो जिसमें अन्न व पानी प्रचुरता से हो। आपात काल में बन एवं पर्वत में जा रक्षा की जा सके। जनपद के पास शत्रु राजा के विरोधियों की संख्या अधिक होनी चाहिए। शत्रु राज्य कमजोर होना चाहिए। उसके पास घने जंगल हो जो कीमती लकड़ी, हिंसक पशुओं से भरे हो। इसके अन्दर नदी , तालाब हो तथा इसकी जलवायु अच्छी हो। निवासियों में नीच वर्ग की आबादी अधिक हो तथा मेहनती लोगों की अधिकता हो। ऐसा जनपद सम्पन्न जनपद होगा।

कौटिल्य ने जनपद के निवासियों के संदर्भ में स्पष्ट किया है कि वह निष्ठावान , स्वाभिमानी और सम्पन्न होनी चाहिए। वह सरल हदय वाली, राजा के करो को स्वेच्छा से चुकाने वाली होनी चाहिए। प्रजा के अन्दर स्व-अनुशासन तथा कर्तव्य परायणता होनी चाहिए।

4.दुर्गः- कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में दो तरह के दुर्ग का वर्णन किया हैः-

1. दुर्ग विधान
2. दुर्ग निवेश

दुर्ग विधान का कौटिल्य का आशय मुख्य दुर्ग से है। इसमें वह मुख्य दुर्ग के निर्माण पर बल देता है।

दुर्ग निवेश से उसका आशय दुर्ग के अन्दर के भवनों तथा राज्यों के अन्दर महत्वपूर्ण स्थानों पर निर्मित भवनों से है।

दुर्ग राज्य की रक्षात्मक आक्रामक शक्ति दोनों का प्रतीक है। प्रत्येक राज्य की सुरक्षा के लिए मजबूत किला आवश्यक होता है। किले में सेना की मोर्चाबंदी , आक्रमण के लिए गुप्त निकास द्वार , गोला बारूद , भोजन का बंदोबस्त होना चाहिए।

कौटिल्य ने दुर्ग को चार श्रेणियों में बांटा हैः-

1.औदक दुर्गः- वह दुर्ग जो चारों ओर से पानी तथा तालाब से घिरा होता है वह औदक दुर्ग कहलाता है।

2.पर्वत दुर्गः- बड़ी चट्टानों से निर्मित , पर्वतों पर स्थित दुर्ग पर्वत दुर्ग कहलाता है।

3.धान्वन दुर्गः- ये ऐसे दुर्ग होते हैं जो ऐसे मरूस्थलीय जगहों पर बने होते है जहां न तो पानी होता और न ही पहुचंना आसान होता है।

4.वन दुर्गः- घने जंगलों में बना दुर्ग जहां का रास्ता बेहद दुर्गम हो उसे वन दुर्ग की संज्ञा दी।

कौटिल्य की मान्यता थी कि औदक और पर्वत दुर्ग संकट के समय राज्य की तथा उसके नागरिकों की रक्षा में सहायक होते हैं, जबकि धान्बन दुर्ग एवं वन दुर्ग संकट के समय राजा की सुरक्षा के लिए आवश्यक एवं अति उपयोगी होते हैं।

5.कोष-

राज्य में राजा को अनेक काम करने होते हैं। प्रत्येक कार्य के लिए धन की आवश्यकता होती है। अतः प्रत्येक राज्य में कोष अत्याधिक महत्वपूर्ण होता है। अतः राजा का यह कर्तव्य है कि वह कोष की वृद्धि के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। कौटिल्य का स्पष्ट मत है कि धर्म, अर्थ, काम में अर्थ प्रधान है। सेना, भूमि , समृद्धि आदि सभी में कोष की आवश्यकता होती है।

कौटिल्य की स्पष्ट मान्यता थी कि प्रत्येक राज्य को युद्ध के लिए सदैव तत्पर रहना आवश्यक है। युद्ध हो या न हो परन्तु राज्य को तैयार रहना चाहिए। इन सभी कार्यो के लिए यह आवश्यक है कि राज्य के पास पर्याप्त कोष हो। कोष से सेना एवं दुर्ग दोनों की रक्षा होती है।

कौटिल्य का स्पष्ट मत था कि राजा को कोष को प्रचुर करने के लिए प्रयास करना चाहिए। उसे प्रजा से प्राप्त अनाज का छठा भाग, व्यापार से दसवां, पशुओं के व्यापार से प्राप्त पचासंवा भाग सदैव राजा के द्वारा राजकोष में जमा किया जाए। कौटिल्य स्पष्ट करता है कि -‘‘ राजा प्रजा से इस तरह संग्रह करे जैसे माली बगिया से पके-पके फल लेता है। प्रजा यदि कर देने में असमर्थ है तो उसे कच्चे फल की तरह ग्रहण न किया जाय क्योंकि अशक्त प्रजा से कर संग्रह उसमें असंतोष अथवा विद्रोह करने का कारण होता है।

6.दण्ड अथवा सेनाः - प्राचीन भारत के सभी चिन्तकों ने दण्ड को बहुत महत्व दिया है। कौटिल्य ने दण्ड का प्रयोग सेना के संदर्भ में किया है। सेना राज्य की सुरक्षा की प्रतीक है। कौटिल्य का मत है कि जिस राजा के पास अच्छा सैन्य बल होता है उसके मित्र तो बनते है साथ ही उसके शत्रु भी मित्र बन जाते है। कौटिल्य सेना में क्षत्रियों को अधिकाधिक शामिल करने की बात करता है। उसकी मान्यता है कि आवश्यकता पड़ने पर अन्य जातियों को भी शामिल किया जा सकता है।

कौटिल्य की मान्यता थी कि सैनिकों को स्वाभिमानी होना चाहिए। राजा को उनकी बेहतर सेवा के लिये , बेहतर वेतन तथा सुविधा के लिए तैयार रहना चाहिए। कौटिल्य ने सेना में हस्ति सेना, अश्व सेना , रथ सेना तथा पैदल सेना का उल्लेख किया है। कौटिल्य इसमें हस्ति सेना को सर्वाधिक महत्व देता है। दण्ड समान रूप से सभी पर

लागू होता है अतः सभी पर समान रूप से लागू करने के लए भी सेना अथवा शक्ति की आवश्यकता होती है। दण्ड अथवा भय के अभाव में सर्वत्र अराजकता उत्पन्न हो जायेगी। कौटिल्य का मत है कि राजा को आपात काल के लिये सदैव तैयार रहना चाहिए। आपातकाल के समय मित्रों की सहायता से मुकाबला किया जाना चाहिए। ‘‘कौटिल्य ने मित्रों पर विशेष बल दिया है। उसका मानना है कि मित्र वंश परम्परागत , विश्वासी, स्थायी एवं हितैषी होने चाहिए।

6.3.4.1विभिन्न अंगों का तुलनात्मक महत्व

कौटिल्य ने राज्य के सात अंग बताये है। कौटिल्य का स्पष्ट मत है कि राज्य का निर्माण इन सात अंगों से मिलकर हुआ है। अतः प्रत्येक अंग की मजबूती से राज्य शक्तिशाली होगा। वह प्रत्येक अंग को महत्वपूर्ण मानता है। इनमें परस्पर सहयोग से राज्य का संचालन सुचारू हो सकता है। राज्य के सात अंगों के संदर्भ में मनु, भीष्म,शुक्र का मत है कि स्वामी, जनपद,दुर्ग, कोष, दंड और मित्र आदि महत्व की दृष्टि से क्रमानुसार है। कौटिल्य भी सापेक्षिक महत्व की दृष्टि से स्वामी को सर्वाच्च, सर्वशक्तिशाली और महत्वपूर्ण मानता है। वह सम्पूर्ण शासन की आधारशिला मानता है। इसके विपरीत आचार्य भारद्वाज ने इस मत की उपेक्षा करते हुए स्वामी की तुलना में अमात्य को ज्यादा महत्वपूर्ण माना है। कौटिल्य ने अपनी रचना में स्वामी को अधिक महत्वपूर्ण माना है। उसने सम्पूर्ण प्रशासन के केन्द्र में स्वामी को रखा है। उसका मानना है कि एक अयोग्य अमात्य को हटाया जा सकता है। उसके स्थान पर राजा नया अमात्य नियुक्त कर सकता है। वह सम्पूर्ण प्रशासन की आधारशिला राजा को मानता है। कौटिल्य अपने साप्तांग सिद्धान्त के द्वारा राजनीति शास्त्र को अधिक लौकिक स्वरूप प्रदान करता है।

6.3.5 मंत्री परिषद अथवा अमात्य संबंधी विचार

कौटिल्य ने अपनी रचना ‘‘अर्थशास्त्र‘‘ में राजा के लिये मंत्रीपरिषद की आवश्यकता पर बल दिया। उनकी मान्यता थी कि राजा एक रथ है जैसे रथ एक पहिये से नहीं चल सकता, उसी प्रकार मन्त्रियों की सहायता के बिना अकेला राजा राज्य का संचालन नहीं कर सकता। अतः राजा के लिये यह आवश्यक है कि वह योग्य अमात्यों का चुनाव करें। कौटिल्य प्रत्येक कार्य के संचालन पर सद्भावना पर विशेष ध्यान देता है।

महाभारत में स्पष्ट किया गया है कि जिस प्रकार पशु बादलों पर, बाहम्ण वेदों पर , पत्नी पति पर निर्भर करती है , उसी प्रकार राजा भी मंत्रीपरिषद पर निर्भर करता है। मनु ने भी मंत्रीपरिषद की अनिवार्यता पर बल दिया है। कौटिल्य ने भी मंत्रीपरिषद की अनिवार्यता पर बल दिया।

मंत्रीपरिषद का निर्माणः- मंत्रीपरिषद के गठन में कौटिल्य का सर्वाधिक जोर अमात्यों का योग्यता पर है। इसके लिये उसने अत्यंत कठोन नियम एवं मापदण्ड तय किये हैं। उसका मानना है कि क्षमतावान, योग्य और बिना दाग का व्यक्ति को मंत्रीपरिषद में स्थान दिया जान चाहिए। बेनी प्रसाद के शब्दों में ‘‘कौटिल्य के अनुसार निष्कलंक , व्यक्तिगत जीवन, बौद्विक चातुर्य, उचित निर्णय , कर्तव्य की उच्च्व भावना, लोकप्रियता मंत्रीपरिषद के लिये आवश्यक योग्यतायें होने चाहिए।

मंत्रीपरिषद में मन्त्रियों की संख्या कितनी होगी उसका आकार क्या होगा इस पर कौटिल्य स्पष्ट राय नहीं रखते। मनु ने अमात्यों की संख्या 12, वृहस्पति ने सोलह, शुक्राचार्य ने बीस मन्त्रियों की संख्या सुझायी है। कौटिल्य इस संख्या के संदर्भ में मौन है। वे कार्य के अनुपात तथा योग्यता के आधार पर संख्या निश्चित करने पर बल देता है।

अमात्यों की नियुक्तिः- इस संबंध में उसने सबसे पहले विभिन्न आचार्यो के पर प्रकट किये । कौटिल्य ने आचार्य भारद्वाजक, विशालरक्ष, पराशर, वाटव्याधि और बाहुदंतीपुत्र के विचारों का विश्लेषण किया । कौटिल्य की मान्यता थी कि विद्या, साहस, गुण, दोष, काल और पात्र का विचार करके ही अमात्यों की नियुक्त करें।

कौटिल्य की मान्यता थी कि अर्थशास्त्र के विद्वान, बुद्धिमान, स्मरणशक्ति सम्पन्न, चतुर, उत्साही, प्रभावशील, सहिष्णु, पवित्र, स्वामीभक्त, सुशील, समर्थ, स्वस्थ, धैर्यवान और द्वेषवृत्ति रहित पुरूष ही प्रधानमंत्री के योग्य है।

अमात्यों के आचरण की परीक्षाः- कौटिल्य ने अमात्यों के आचरण की समीक्षा पर विशेष बल दिया। कौटिल्य का मत है कि धर्म, अर्थ, काम तथा भय के आधार पर अमात्यों के आचरण का परीक्षण करना चाहिए। उक्त चारों कसौटियों पर सफल होने के बाद ही अमात्य को मंत्रीपरिषद में नियुक्त करना चाहिए।

मत्रंणा एवं गोपनीयताः- कौटिल्य ने गोपनीय मत्रंणा पर विशेष बल दिया। उसकी मान्यता थी कि मत्रंणा का गोपनीय न होना राजा एवं मंत्रीपरिषद के लिये घातक होता है। जिस प्रकार कछुआ अपने कवच को समेटे होता है और केवल आवश्यकता होने पर उन्हें बाहर करता है। उसी प्रकार भी मंत्रणा गोपनीय होनी चाहिए। मंत्री की सुरक्षा के लिये यह आवश्यक है कि मंत्रणा का स्थान अत्यंत सुरक्षित हो। राजा एवं अन्य मंत्री इतने संयमित और विचारमान हो कि किसी भी चेष्ठा से भी गोपनीयता भंग न हो। मंत्रणा का स्थान ऐसा होना चाहिए जहां पक्षी भी झांक न सके तथा आवाज बाहर न जाये। कौटिल्य का मत था कि मंत्रणा सदैव तीन-चार लोंगो के साथ की जानी चाहिए। एक ही व्यक्ति से बार-बार मंत्रणा करने से कई बाद संदेह एवं कठिन प्रश्न का सही हल नहीं निकल पाता है। इसमें कई बार संबंधित मंत्री प्रतिद्वन्द्वी के रूप में कार्य करने लगता है। कौटिल्य तीन से चार मंत्री का पक्षधर है। इससे अधिक मंत्री होने पर प्रायः सुरक्षा एवं अनिर्णय की समस्या उत्पन्न होती है।

मंत्रीपरिषद के कार्यः- कौटिल्य के अनुसार मंत्रीपरिषद के निम्न कार्य हैः-

1.राजा को परामर्श देना।

2.संकट के समय राजा की रक्षा करना।

3.राजा को भ्रष्ट, अनैतिक कार्यो से बचाना।

4.राजा के गुप्त भेदों को किसी के समक्ष उजागर न करें।

5.राजा की मृत्यु का समाचार भी बहार नहीं जाना चाहिए।

राजा एवं मंत्रीपरिषद का संबंधः- राजा एवं मंत्रीपरिषद के संबंधों के विषय में कौटिल्य का विचार है कि राजा सामान्यतः मंत्रीपरिषद के बहुमत के आधार पर कार्य करें। इसके साथ ही यदि परामर्श उचित न हो तो वह स्वविवेक से निर्णय ले सकता है। कौटिल्य ने आगे यह भी स्पष्ट किया है कि अयोग्य, अर्कमण्य, विलासी राजा होने पर उस पर मंत्रीपरिषद का नियन्त्रण आवश्यक है। भारत के प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है। ‘दिव्यावदान’ में इस बात का उल्लेख मिलता है जब बौद्ध धर्म के प्रति अति श्रद्धालु राजा अशोक ने बौद्ध संघों को अंधाधुध दान देना शुरू कर दिया और राजकोष खाली होने लगा तो मंत्रियों ने युवराज के साथ मिलकर महान अशोक को ऐसा करने से रोका था। कौटिल्य ने स्वयं मौर्य साम्राज्य के महामंत्री के रूप में जिस प्रकार कार्य किया उसमें भी महामंत्री एवं मंत्रीपरिषद की भूमिका का महत्व स्पष्ट होता है।

6.4 प्रशासनिक व्यवस्था

राजा एवं मंत्रिपरिषद के अतिरिक्त प्रशासनिक व्यवस्था के व्यवहारिक संचालन के संबंध में कौटिल्य ने स्पष्ट विचार रखे है। कौटिल्य 'प्रजा प्रेमी' राज्य की कल्पना करता है। जिसमें शासन का मुख्य उद्देश्य जन कल्याण करना है। यही कारण है कि बड़े कार्यों के संचालन के लिये अनेक प्रशासनिक सहयोगियों की आवश्यकता पर बल देता है। वह राजा को सम्पूर्ण प्रशासन का प्रधान मानता है परन्तु प्रशासन हेतु अठारह (18) अन्य प्रशासनिक अधिकारियों का वर्णन करता है। कौटिल्य ने उन्हें अठारह तीर्थों की संज्ञा दी है। ये अठारह तीर्थ इस प्रकार हैः-

1.मंत्रीः- राज्य प्रशासन में राजा के बाद मंत्री का प्रमुख स्थान होता है। मंत्री राजा का विश्वस्त व्यक्ति होता है। वह राजा को परामर्श देता है।

2.पुरोहितः- राज्य प्रशासन में मंत्री के बाद पुरोहित का स्थान होता है। पुरोहित राजा को धर्म एवं नीति के संबंध में संकेत देता है।

3.सेनापतिः- सेनापति की राज्य के प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वह सेना का प्रधान होता है। वह सेना का गठन करता है तथा संकट के समय में सेना का संचालन करता है।

4.दौवारिकः- दौवारिक राजमहल में रक्षकों का प्रधान होता है। उसी के द्वारा राजा के पास कोई प्रार्थना पत्र पहुंचता है।

5.अंतर्वेशिकः- अंतर्वेशिक राजा का अंतपुर में प्रधान अंगरक्षक होता है। राजा की बीमारी की अवस्था में वह राजा की दिनचर्या से संबंधित कार्यों का संपादन करता है।

6.प्रशास्ताः- प्रशास्ता एक पदाधिकारी होता है जो सेना को नियन्त्रण में रखता है। वह शंति और व्यवस्था के लिये जिम्मेदार होता है।

7.युवराजः- युवराज राजा का ज्येष्ठ पुत्र और राज्य का उत्तराधिकारी होता है।

8.समाहतीः- कौटिल्य की प्रशासनिक व्यवस्था में समाहती को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उसका स्थान वित्तमंत्री के समान है। उसका मुख्य कार्य वार्षिक बजट प्रस्तुत करना होता है। वह सम्पूर्ण आय-व्यय का लेखा-जोखा रखता है। वह राज्य के आय को बढ़ाने के लिये कर लगाने तथा उसकी वसूली की व्यवस्था करता है।

9.सन्निधाताः- सन्निधाता राज्य का एक उच्च पदाधिकारी होता है। वह राजकोष का अध्यक्ष होता है। उसका मुख्य कार्य राजकोष का भलिभांति संग्रह और पर्यवेक्षण करना है।

10.प्रदेष्टा आयुक्तः- प्रदेष्टा आयुक्त एक उच्च पदाधिकारी होता है। वह कार्यपालिका तथा न्यायिक दोनों कार्यों का संपादन करता है। उसका मुख्य कार्य अपराधों का दमन करना तथा जो राज कर नहीं देते उनसे कर वसूल करना या दंड देना होता है।

11.नायकः- यह सेना का संचालक होता है। वह एक सैनिक पदाधिकारी होता है।

12.पौर व्यावहारिकः- पौर व्यावहारिक नगर का न्यायिक पदाधिकारी होता है।

13.कर्मातिकः- कर्मातिक खान उद्योगों का अधिकारी होता है। वह राज्य के कल कारखाने एवं उद्योगों की देख-रेख करता है।

14.मंत्रिपरिषद का अध्यक्षः- मंत्रीपरिषद का अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता हैं इसके अलावा कौटिल्य ने अन्य विभागाध्यक्षों का उल्लेख किया है जो प्रशासन के दृष्टि से आवश्यक होते हैं। इसमें पोतवाध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष आदि प्रमुख हैं।

15.दंडपालः- यह सेना एवं पुलिस का मुख्य अधिकारी होता है।

16.दुर्गपालः- यह दुर्ग का प्रभारी होता है। यह राज्य के समस्त दुर्गों की देखभाल करता है।

17.अंतपाल या सीमारक्षकः- यह मुख्य अधिकारी होता है जो सीमावर्ती प्रदेशों की रक्षा करता है।

18.आटविकः- आटविक वन संपति की रक्षा करता है।

प्रशासनिक विभागाध्यक्ष

कौटिल्य ने प्रशासन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसने विभिन्न विभागों के अध्यक्षों का वर्णन इस प्रकार किया हैः-

1.कोषाध्यक्षः- कोषाध्यक्ष राजकोष का स्वामी होता है। वह कोष को सम्पन्न रखता है। वह विभिन्न विशेषज्ञों की अनुमति से कोष में विभिन्न रत्नों, आभूषणों को भी रखता है।

2.सीताध्यक्षः- राज्य में कृषि से प्राप्त अनाज के रूप कर के संग्रहण का जिम्मेदार होता है। यह इन अनाजों का भंडारण करता है। यह कृषि का जानकार भी होता है।

3.पठ्याध्यक्षः- पठ्याध्यक्ष एक महत्वपूर्ण अधिकारी होता है। यह राज्य में क्रय विक्रय वाली वस्तुओं की व्यवस्था करता है।

4.आयुधागाराध्यक्षः- आयुधगार का अध्यक्ष युद्ध एवं अस्त्र शस्त्र संबंधी चीजों की व्यवस्था करता है।

5.पोतवाध्यक्षः- पोतवाध्यक्ष के पास महत्वपूर्ण जिम्मेदारी होती है। वह समस्त नापतौल की व्यवस्था का जिम्मेदार होता है।

6.शुल्काध्यक्षः- यह वह पदाधिकारी होता है जो राज्य की समस्त शुल्क या चुंगी की व्यवस्था पर नियन्त्रण रखता है।

7.सूत्राध्यक्षः-यह वह पदाधिकारी होता है जो सूत संबधी समस्त व्यवसाय का निर्धारण करता है। यह सूत,रस्सी आदि की निगरानी करता है।

8.सुराध्यक्षः- यह आबकारी विभाग का प्रमुख होता है। यह समस्त मादक पदार्थों जैसे भांग, गांजा, शराब आदि पर नियन्त्रण रखता है।

9.सूनाध्यक्षः- सूनाध्यक्ष के पास वधशाला की जिम्मेदारी होती है। यह पशुओं, मछलियों, पक्षिओं तथा जंगली जानवरों की निगरानी करता है।

10.मुद्राध्यक्षः- यह मुद्रा के निर्माण , संचालन के प्रति जिम्मेदार होता है। इसका दायित्व अत्याधिक महत्वपूर्ण होता है।

11.रथाध्यक्षः- यह रथ सेना का प्रभारी होता है। यह राज्य की सुरक्षा के लिये प्रभावी रथ सेना के निर्माण के लिये जिम्मेदार होता है।

12.अश्वाध्यक्षः- यह घोड़ों की रक्षा के लिये कार्य करता है। वह राज्य में अनेक स्थानों पर घुड़सालों का निर्माण करवाता है।

13.गजशाला अध्यक्षः- यह हाथियों के सम्पूर्ण प्रबंधन के लिये उत्तरदायी होता है। वह उनकी सुरक्षा , उनके आहार का भी प्रबंध करता है।

14.गणिकाध्यक्षः- इसका कार्य राज्य में गणिकाओं (वेश्याओं) की निगरानी करना होता है।

15.नौकाध्यक्षः- नौकाध्यक्ष नौकाओं के निर्माण, नौका मार्गों पर उनके निर्बाध संचालन के लिये जिम्मेदार होता है।

16.गोध्यक्षः- यह गोवंश की रक्षा तथा उनके विकास के लिये जिम्मेदार होता है।

17.सुवर्णाध्यक्षः- यह राज्य के अन्दर सोने चांदी के कार्य करने के लिये स्थान बनवाने तथा उनकी निगरानी का कार्य करता है।

18.कोष्ठगाराध्यक्षः- कोष्ठगाराध्यक्ष राज्य में अनाजों के भंडार की व्यवस्था करता है।

19.कुप्याध्यक्षः- यह वह पदाधिकारी होता है जो जंगल में उपलब्ध वनस्पितियों एवं अन्य सामग्रियों की रक्षा करता है।

स्थानीय शासन

कौटिल्य ने प्रशासन के सबसे निचले हिस्से पर अर्थात स्थानीय शासन का भी उल्लेख किया है। वह राजा के द्वारा गो, स्थानिक और नगराध्यक्ष आदि अधिकारियों की नियुक्ति का समर्थन करता है। उसके द्वारा वर्णित प्रमुख स्थानीय प्रशासन के अधिकारी निम्न हैः-

1.गोपः- यह स्थानीय शासन का प्रमुख पदाधिकारी था। वह पांच से दस ग्रामों का जिम्मेदार था। इन ग्रामों की सम्पूर्ण जिम्मेदारी गोप की होती है।

2.स्थानिकः- यह गोप के ऊपर स्थापित एक महत्वपूर्ण पदाधिकारी था। जिले के समस्त गोप उसके अधीन थे।

3.नगराध्यक्षः- प्रत्येक नगर का अध्यक्ष नगराध्यक्ष कहलाता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य ने प्रशासन की व्यापक एवं सुचारू व्यवस्था की थी। उसने प्रशासन के प्रत्येक पहलू पर न केवल ध्यान दिया वरन उसके लिये अलग विभाग एवं पदाधिकारी नियुक्त किया। कौटिल्य ने प्रशासन को अनेक भागों में बांटा। कौटिल्य की सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था में स्थानीय प्रशासन को भी स्थान दिया गया है। वह सत्ता के केन्द्रियकरण के स्थान पर विकेन्द्रियकरण का समर्थक था।

6.5 कानून एवं न्याय संबंधी विचार

कौटिल्य ने कानूनों के सख्ती से पालन पर बल दिया। कौटिल्य का कानून अनुभववाद और आध्यात्मवाद पर आधारित है। उसके कानून का आधार धर्म है। उसकी मान्यता थी कि जो राज्य कानून का पालन तथा न्याय सुनिश्चित नहीं कर पाते वह शीघ्र नष्ट हो जाते है। उसकी मान्यता थी कि राज्य का उद्देश्य प्रजा के जीवन एवं संपत्ति की रक्षा करना है। असमाजिक तत्वों तथा अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करना है। वह कानून

एवं दण्ड को सगी बहनों की तरह मानता है जो राज्य को स्थायित्व और नागरिक जीवन में सुधार का संचार करता है।

कानून का उद्देश्यः- कानून का उद्देश्य व्यक्ति और समाज का कल्याण करना है। यह व्यक्ति और समाज दोनों के सभी पहलुओं का समाधान कल्याणकारी रूप में करता है।

कानून की परिभाषाः- कौटिल्य के अनुसार कानून शाही आदेश है जो स्वीकृति के द्वारा लागू किया जाता है। कानून सभी शाही आदेशों का प्रतिरूप है। उउन्होंने राजा को वरूण के समान माना है। वह सर्वोच्च एवं सर्वश्रेष्ठ न्यायधीश की भूमिका भी अदा करता है।

कानून के स्त्रोतः- कौटिल्य ने कानून के चार स्त्रोत बताये हैः-

1. धार्मिक उपदेश

2. व्यवहारिक अथवा साथियों का व्यवहार

3. समाज के रीति रिवाज और परम्परा

4. राजकीय आदेश

कौटिल्य ने उपरोक्त के सदंर्भ में एक स्थान पर लिखा है कि ‘‘धर्म व्यवहार, चरित्र राजाज्ञा ये विवाद के निर्णायक साधन होने के कारण राष्ट्र के चार पैर माने जाते हैं।

कानून का वर्गीकरणः- कौटिल्य ने कानून का व्यापक वर्गीकरण किया है। उन्होनें इसको निम्न भागों में बांटा हैः-

1.विवाह संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने अपनी पुस्तक ‘‘अर्थशास्त्र‘‘ में विवाह पर व्यापक विमर्श किया है। इसमें उन्होनें धर्म विवाह, स्त्री का पुर्न विवाह , पति-पत्नी द्वेष , पर पुरूष अनुसरण और पुर्न विवाह पर व्यापक चर्चा कर इनके नियम और कानून का वर्णन किया है।

2.दाय अथवा उत्तराधिकार विषयक कानूनः- कौटिल्य ने अपनी पुस्तक ‘‘अर्थशास्त्र‘‘ में उत्तराधिकार का सामान्य नियम पैतृक क्रम से विशेषाधिकार, पुत्रक्रम से विशेषाधिकार का वर्णन किया है। उसकी मान्यता है कि माता-पिता या पिता के जीवित रहते लड़के संपत्ति के उत्तराधिकारी नहीं होते। पिता के न रहने पर वह संपति का बटवारा कर सकते है। संयुक्त परिवारों में रहने वाले पुत्रों तथा पौत्र चौथी पीढ़ी तक अविभाजित पैतृक संपति के बराबर के हकदार है जिसका कोई उत्तराधिकारी न हो उसे राज्य ले लेवे। उसकी मान्यता है कि पलित, पलित की संतान , मूर्ख, अंधा कोढ़ी उत्तराधिकार के अधिकारी नहीं होगें।

3.अचल संपति संबंधी कानूनः- इसके अर्न्तगत कौटिल्य ने संपति के बेचने, सीमा विवाद , कर की छूट, गांवों का बंदोबस्त, सामूहिक कार्यों में शामिल न होने का मुआवजा आदि का वर्णन इसके अर्न्तगत किया गया है। इसमें कर की छूट , रास्ते को रोकना, गांवों का बंदोबस्त भी शामिल है।

4.ऋण संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में ऋण , ब्याज के नियम , एक व्यक्ति पर अनेक व्यक्ति के कर्जा संबंधी कानूनों का वर्णन किया है। वह ब्याज के संदर्भ में कहता है कि 100 पण पर सवा पण ब्याज लेना चाहिए। ऋण देने वालों तथा लेने वालों के चरित्र की निगरानी होनी चाहिए। अन्न संबंधी ब्याज फसल के आधे से अधिक नहीं होनी चाहिए।

5.धरोहर संबंधी कानूनः- इसके अर्न्तगत धरोहर , गिरवी, उधार की वस्तु को लौटाने गिनकर रखी गई धरोहर आदि के संबंध में व्यापक चर्चा की गई है।

6.दास और श्रमिक संबंधी कानूनः-कौटिल्य ने अपनी पुस्तक "अर्थशास्त्र" में दास , श्रमिक और नौकरों के वेतन पर भी प्रकाश डाला है। उन्होंने यूनानी विचारकों की तरह दास प्रथा को स्वीकार किया है। वह निम्न जातियों तथा अनार्यो को दास बनाने पर बल देता है। विशेष स्थिति में यदि उच्च कुल का व्यक्ति दास बन गया हो तो उसे मुक्त कर देना चाहिए। कौटिल्य का मत है कि यदि दासी से संतान उत्पन्न हो जाए तो उसे दासता से मुक्त कर दिया जाना चाहिए।

7.साझेदारी विषयक कानूनः- कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि ठेके पर मजदूरी करने वाले मजदूर प्राप्त मजदूरी को आपस में बांट लें। व्यापारी को माल खरीदने से बेचने तक हुए खर्चे को जोड़ने के बाद बेचने से प्राप्त धन से हुए लाभ को साझीदार से बांट लेना चाहिए।

8.क्रय-विक्रय संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने क्रय-विक्रय संबंधी नियमों का विस्तृत उल्लेख अपनी पुस्तक में किया है। उन्होने स्पष्ट किया है कि क्रय-विक्रय करने वाले व्यापारियों का बयान ; एक दिन में , किसानों का क्रय-विक्रय तीन दिन तथा दूध वालों का बयाना 5 दिन में वापस किया जा सकता है।

9.स्व-स्वामी संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने स्व-स्वामी संबंधी कानूनों का भी उल्लेख किया है। उसका मत है कि यदि कोई व्यक्ति किसी संपति को उपभोग कर रहा है तो उस पर उसी का स्वामित्व माना जाना चाहिए। वह आगे और अधिक स्पष्ट करता है और कहता है कि यदि कोई व्यक्ति दस वर्ष तक किसी संपति पर अपना अधिकार खो देता है तो उस पर उसका दावा नहीं रह जाता है।

10.निंदा संबंधी कानूनः- कौटिल्य ने निंदा संबंधी अथवा विवाद के संबंध में स्पष्ट किया है कि किसी को धमकाना, निदां करना , वाक्यारूष्य नामक अपराध के अन्तर्गत है।

11.जुआ संबंधी कानूनः- जुआ पर पैनी नजर रखने का समर्थक था। उसका यह मानना था कि धूताध्यक्ष को अपनी निगरानी में नियत स्थान पर जुआ खलने की व्यवस्था करनी चाहिए। इसका उल्लंघन करने वालों को दण्ड की व्यवस्था की है।

न्याय संबंधी विचार

प्राचीन भारतीय चिन्तकों के अनुरूप कौटिल्य भी स्वधर्म के पालन पर बहुत जोर देता है। उसकी मान्यता थी कि स्वधर्म पालन से न केवल स्वतः व्यवस्था बनती है वरन् लोक परलोक दोनों सुधरता है। इसके बावजूद जो नागरिक कानून का उल्लघंन करते है। उनको दंडित करने की भी व्यवस्था वह करता है। उसकी मान्यता थी कि न्याय कि बिना प्रजा धर्म, अर्थ, कात और मोक्ष्ज्ञ से वंचित हो जाता है। अतः न्याय के द्वारा ही प्रजा के उक्त परम् लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। यही कारण है कि कौटिल्य ने न्याय पर बहुत अधिक जोर दिया है। कतिपय यही कारण है कि कौटिल्य न्याय को राज्य का प्राण मानता है।

न्यायधीश की नियुक्तिः- कौटिल्य ने अपने राजनीतिक दर्शन का आधार राजा को माना है। उनकी मान्यता एक योग्य, कर्तव्यपरायण तथा जनकल्याणकारी राजा की है। इसके बावजूद न्याय व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिये वह न्यायधीशों की नियुक्ति का पक्षधर था। उसकी मान्यता थी कि उच्चतर न्यायालय में तीन धर्मस्थ न्यायधीश तथा तीन अमार्त्य होने चाहिए जो एक साथ बैठकर विवादों का निपटारा कर सके। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति राजा के द्वारा की जायेगी।

न्यायपालिका का संगठनः-कौटिल्य ने अपनी पुस्तक "अर्थशास्त्र" में चार स्थानों पर न्यायपालिका के गठन का सुझाव दिया।उसके द्वारा की गई न्यायपालिका की व्यवस्था इस प्रकार हैः-

1.जनपद संधि न्यायालयः- यह वह न्यायालय था जो दो राज्यों या गांवों की सीमा पर स्थापित किया जाता था। यही कारण है कि इसे संधि न्यायालय भी कहा जाता है।

2.संग्रहण न्यायालयः- कौटिल्य की न्यायपालिका की मुख्य इकाई थी। इसमें 10 गांवों के केन्द्र में स्थापित न्यायलय को संग्रहण न्यायालय कहा गया।

3.द्रोणमुख न्यायालयः- यह कौटिल्य की न्याय व्यवस्था की एक अन्य महत्वपूर्ण इकाई थी। इसका क्षेत्र और अधिक व्यापक था। इसे चार सौ गांवों के केन्द्र में स्थापित किया गया। इसका कर्मक्षेत्र संग्रहण न्यायालय से व्यापक था।

4.स्थानीय न्यायालयः- स्थानीय न्यायालय द्रोणमुख न्यायालय की अगली कड़ी था। इसका कार्यक्षेत्र द्रोणमुख न्यायालय से भी व्यापक था। इसमें आठ सौ गांवों का समाहित कराया गया। यह आठ सौ गांवों के केन्द्र में स्थापित एक न्यायालय था।

न्यायपालिका का वर्गीकरण (प्रकारः-कौटिल्य ने विवाद के स्वरूप के आधार पर न्यायालयों को दो भागों में बांटा --

1. दीवानी अथवा धर्मस्थलीय या व्यवहार न्यायालय
2. फौजदारी अथवा कष्टक शोधन न्यायालय

दीवानी अथवा धर्मस्थलीय या व्यवहार न्यायालयः- धर्मस्थलीय न्यायालय वह न्यायालय है जो नागरिकों के परस्पर व्यवहार से उत्पन्न होने वाले विवादों का निपटारा करते है। इस तरह के विवादों को कौटिल्य ने व्यवहार की संज्ञा दी है। इसमें मुख्य रूप से सम्पति , संविदा, उत्तराधिकार, विवाह , ऋण , धरोहर, साझेदारी आदि संबंधित विवाद आते है।

फौजदारी अथवा कष्टकशोधन न्यायालयः- कौटिल्य के अनुसार कष्टकशोधन न्यायालय वह न्यायालय है जिनका उद्देश्य राज्य के कष्टक अथवा शत्रुओं को राज्य से दूर रखना है। इसका मुख्य लक्ष्य राजा अथवा राज्य के विरूद्ध किये जाने वाले अपराधों पर विचार करना है। इसके अर्न्तगत मुख्य रूप से प्रजा के प्रतिदिन के सम्पर्क के धोबी,जुलाहे, रंगरेज, सुनार, वैद्य, नट आदि के द्वारा प्रजा के शोषण आदि के मामले आते है। इसमें कर्मचारियों के द्वारा प्रजा के उत्पीड़न के मामले भी आते है। कौटिल्य ने इन सभी अपराधों को कष्टक की श्रेणी में रखा है। इन अपराधों का पता लगाने के लिये गुप्तचरों की व्यवस्था पर बल दिया।

कौटिल्य की सम्पूर्ण न्यायव्यवस्था आधुनिक है। वह न्याय की निष्पक्षता पर बहुत बल देता था। वह न्याय व्यवस्था के विकेन्द्रिकरण का हिमायती था। उसने उच्चतर न्यायालय में तीन धर्मस्थ न्यायधीश तथा तीन अमात्यों पर बल दिया तथा निर्णय सर्वसम्मति या बहुमत से करने पर बल दिया जो कि आज के समय (ज्यूरी) बहु सदस्यीय न्यायिक पीठ के रूप में विद्यमान है। उन्होंने न्याय व्यवस्था को निष्पक्ष बनाने के लिये सम्पूर्ण प्रक्रिया, गवाही के लिखे जाने पर बल दिया। उसकी मान्यता थी कि न्याय प्रदान करने की व्यवस्था में लिंग तथा वर्ग के आधार पर भेदभाव नहीं करना चाहिए। उसने न्यायधीशों पर भी निगरानी पर बल दिया है। यह कार्य गुप्तचर विभाग को दिया गया। यदि न्यायधीश नियमों की अनदेखी करता है तो उसे दण्डित किया जाना चाहिए।

दण्ड एवं गुप्तचर व्यवस्थाः-कौटिल्य ने न्याय व्यवस्था के साथ दण्ड व्यवस्था का भी वर्णन किया है। कौटिल्य ने दण्ड के औचित्य एवं दण्ड के प्रकार का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। कौटिल्य का दण्ड संबंधी विचार बहुत तार्किक एवं यर्थातवादी है। उसकी मान्यता है कि काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, हर्ष आदि छः शत्रु न जाने कब मनुष्य को उत्तेजित कर दे तथा मनुष्य को अधर्म, दुराचरण की ओर ले जाते है। ऐसी स्थिति में अराजकता उत्पन्न हो जायेगी। चारों ओर 'मत्स्य न्याय' की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी, जिसमें बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है। इस स्थिति से बचने के लिये कौटिल्य ने एक प्रभावी दण्ड व्यवस्था की कल्पना की जिसमें कानून तोड़ने तथा अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले को त्वरित रूप से दण्डित करने की बात की गई।

दण्ड का स्वरूपः- कौटिल्य की मान्यता थी कि समाज में धर्म बना रहे तथा समाज में लोककल्याण स्थापित हो इसी उद्देश्य के लिये दण्ड का प्रयोग किया जाना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार राजा ही दण्ड देने का अधिकारी होता है अतः उसका दण्ड सुधारात्मक होना चाहिए। उसके द्वारा प्रतिशोधात्मक दण्ड नहीं देना चाहिए। दण्ड सुधार के लिये कल्याण के लिये होना चाहिए।

6.6 दण्ड एवं गुप्तचर संबंधी विचार

१.कौटिल्य दण्ड के निर्धारण में समानता के सिद्धान्त को नहीं मानता है। उसका मानना है कि महिलाओं और बच्चों को कम दण्ड मिलना चाहिए। उसने वर्ण व्यवस्था के आधार पर भी भेद किया है। उसका मानना है कि ब्राहमणों को भी कम दण्ड मिलना चाहिए। कौटिल्य का मानना था कि दण्ड का निर्धारण अपराध, अपराध की परिस्थितियों, वर्ण, लिंग के आधार पर करना चाहिए।

दण्ड के प्रकार:- कौटिल्य ने तीन प्रकार के दण्ड बताये हैः-

1.शारीरिक दण्डः- शारीरिक दण्ड में वह कोड़े मारना, अंग छेदन, हाथ-पैर बांधकर उल्टा लटकाना, ब्राहमण अथवा उच्च जातियों के माथे पर चिन्ह अंकित करने को शामिल करता है। उसने पाप काने वाले पुरूष को अन्य दण्ड भी बताये है। इसमें मुख्य रूप से बेंत मारना, थप्पड़ मारना, बांए हाथ को बांये पैर से तथा दांये हाथ को दांये पैर से पीछे बांधना। दोनों हाथ आपस में बांधकर लटका देना, नाखुन में सुई चुभाना, घी पिलाकर धूप या आग के पास बैठाना। जाड़े की रात में गीले विस्तर पर सुलाना। वह कहता है कि माता-पिता को गाली देने वाले की जिह्वा काट लेनी चाहिए। राजा अथवा राज्य के भेद खोलने वाले को भी यदि दण्ड दिया जाना चाहिए।

प्राणदण्डः- कौटिल्य ने विभिन्न अपराधों के लिये प्राणदण्ड का भी प्रावधान किया है। यदि झगड़े में किसी की मृत्यु हो गई हो तो दूसरे को प्राणदण्ड दे दिया जाए। बलात्कार करने तथा जीभ काटने वाले , सेंध लगाकर चोरी करने, हाथी, घोड़े तथा रथ को नुकसान पहुंचाने वाले को भी मृत्यु दण्ड दिया जाना चाहिए। माता-पिता ,पुत्र भाई, आचार्य के हत्यारे को भी यही दण्ड दिया जाना चाहिए। अपने पति, पुत्र, गुरू को विष देने वाली स्त्री को गाय से कुचलवा कर मारा जाये। ब्राहमणी के साथ व्याभिचार करने वाले शूद्र को जिंदा जला दिया जाए। रानी के साथ व्याभिचार करने वाले को जीवित भून दिया जाय।

2. **आर्थिक दण्ड**:- कौटिल्य ने आर्थिक दण्ड को तीन भागों में बांटा हैः-

1. प्रथम साहस दण्ड

2. मध्यम साहस दण्ड

3. उत्तम साहस दण्ड

प्रथम साहस दण्डः- प्रथम साहस दण्ड में 48 से 96 पण तक का जुर्माना लगाने की व्यवस्था की गई है।

मध्यम साहस दण्ड:- मध्यम साहस दण्ड को दो सौ से पांच सौ पण तक की जुर्माने की व्यवस्था की गई है।

उत्तम साहस दण्डः- इसमें पांच सौ से 1 हजार पण तक के जुर्माने की व्यवस्था की गई है।

कारागार अथवा जेलः- कौटिल्य ने अपराधियों के लिये जेल की व्यवस्था की है। उसकी मान्यता है कि यदि कोई ब्राहमण राज्य के विरूद्ध षणयंत्र करे तो उसे आजीवन कैद में डाल देना चाहिए। कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि न्यायधीशों तथा समाहार्ता से सजा जाये लोगों को कारागृह में रखना चाहिए। कारागृह में स्त्री पुरूष के लिये अलग-अलग स्थान होना चाहिए। कारागार की पर्याप्त सुरक्षा होनी चाहिए।

कौटिल्य ने शुभ अवसरों पर कैदियों को मुक्त करने की व्यवस्था की। वह कौटिल्य का मानवीय दृष्टिकोण था। उसने आगे स्पष्ट किया है कि विजय पर राजकुमार के राज्याभिषेक के समय, राजपुत्र के जन्मोत्सव पर कैदियों को मुक्त कर देना चाहिए।

राज्य अधिकारियों के लिए दण्डः- कौटिल्य का मत था कि प्रत्येक राज्य अधिकारियों को अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। यदि कोई अधिकारी नियमित आय का कम दिखाता है तो वह राजधर्म का अपहरण करता है। उसकी अक्षमता, अयोग्यता से यदि यह कमी होती है तो उसे उसी क्रम में दण्डित करना चाहिए। यदि कोई अधिकरी राजकोष में अधिक धन जमा कराता है तो उसकी भी जांच करा कर उसको दण्डित करना चाहिए क्योंकि उसकी वसूली प्रजा को प्रताड़ित कर हुई होगी। यदि अधिकारी ने धन का गबन करते हुए जमा नहीं किया है तो उसे कठोर दण्ड मिलना चाहिए।

वेश्यावृत्ति के लिये दण्डः- कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि यदि कोई पुरूष कामना रहित महिला से शारीरिक संबंध बनाता है तो उसे उत्तम साहस दण्ड देना चाहिए। राजा की सेवा में नियुक्त गणिका को प्रताड़ित करने वाले व्यक्ति को बहत्तर हजार पण दण्ड देना चाहिए। राजा की आज्ञा पर कोई वैश्या यदि किसी विशिष्ट व्यक्ति के पास जाने से इंकार कर दे तो उसे 1 हजार कोड़े लगवाये जाने चाहिए। पूरी रात का शुल्क ले बहाना बनाने पर शुल्क का आठ गुना दण्ड लिया जाना चाहिए।

२.गुप्तचर व्यवस्था

कौटिल्य ने गुप्तचर को प्रशासन को महत्वपूर्ण हिस्सा माना था। उसकी मान्यता थी कि बगैर प्रभावी गुप्तचर व्यवस्था के एक सुरक्षित, प्रगतिशील राज्य का निर्माण नहीं किया जा सकता है। भारत में प्राचीन काल से ही गुप्तचर व्यवस्था पर अत्याधिक बल रहा है। रामायण तथा महाभारत में गुप्तचर व्यवस्था का वर्णन मिलता है। कौटिल्य ने सर्वप्रथम गुप्तचर व्यवस्था को स्थापित किया। उसने गुप्तचरों के प्रकार, कार्य तथा भूमिका का विस्तृत वर्णन किया। उसने दो प्रकार के गुप्तचर बताये:-

1. स्थायी गुप्तचर

2. भ्रमणशील गुप्तचर

स्थायी गुप्तचर:-कौटिल्य ने स्थाई गुप्तचरों को पांच भागों में बांटा हैः-

कापरिक गुप्तचरः- दूसरों के रहस्य को जानने वाला एवं दबंग किस्म का गुप्तचर होता है। यह सामान्यतः विद्यार्थी की वेशभूषा में रहता है।

उदास्थित गुप्तचरः- यह सन्यासी रूप में रहने वाला बुद्धिमान तथा सदाचारी व्यक्ति होता है।

गृहपलिक गुप्तचरः- गरीब किसान के वेश में रहने वाला एक बुद्धिमान व्यक्ति होता है।

वैदेहक:- गरीब व्यापारी के वेश में बुद्धिमान गुप्तचर को वैदेहक कहा जाता है।

तापस गुप्तचरः- जीविका के लिये सिर के बाल साफ कराये अथवा जहां रखे राजा का कार्य करने वाला व्यक्ति तापस गुप्तचर कहलाता है। ये सामान्यतः विद्यार्थियों के साथ नगर के पास आश्रम बना कर रहते है।

भ्रमणशील गुप्तचर:- ये एक स्थान से दूसरे स्थान जाकर कार्य करते है अतः इन्हें भ्रमणशील अथवा संचार गुप्तचर कहते है।

इसके प्रमुख प्रकार निम्न हैः-

सत्री गुप्तचरः- ये राजा के संबंधी नहीं होते परन्तु इनका पालन राजा के लिये आवश्यक होता है। ये वशीकरण, धर्मशास्त्र, नाचने गाने, ज्योतिष में अति पारंगत होते है।

तीक्ष्ण गुप्तचरः- ये वे गुप्तचर होते है जो धन के लिये बड़े जोखिम उठा लेते है। वे हाथी, बाघ, सांप आदि से भिड़ जाते है। इन्हें तीक्ष्ण गुप्तचर कहते है।

रसद गुप्तचरः- अपने निकट संबंधियों से संबंध न रखने वाला, कठोर एवं क्रूर स्वभाव के व्यक्ति को रसद (विष देने वाला) गुप्तचर कहा जाता है।

परिव्राजिका गुप्तचरः-धन की इच्छुक ऐसी स्त्री जो अमात्यों के घर जाती हो, दबंग हो, बाहमणी हो तथा रनिवास में सम्मान हो, को परिव्राजिका गुप्तचर कहा जाता है।

उभयवेतन भोगी गुप्तचरः- यह दोहरा वेतन पाने वाले , दूसरे राज्यों की गतिविधियों का पता लगाने वाले गुप्तचर होते है। ये दूसरे राज्य में जा नौकरी करते है और दोहरा वेतन लेते है।

विषकन्याः- यह वह स्त्री थी जो विष का सेवन कर पाली जाती थी। इसे राज्य हित में शत्रु के पास भेजा जाता था जहां वह अपने सौन्दर्य, यौवन, हावभाव से शत्रु को भोग के लिये तैयार कर लेती थी। यही शत्रु के विनाश का कारण बनता था।

गुप्तचरों के कार्यः- कौटिल्य ने गुप्तचरों के प्रमुख कार्य निम्न बताये हैः-

1.गुप्तचर को उच्चाधिकारियों तथा अन्य अधिकारियों के आचरण का पता लगाकर राजा को सूचित करना चाहिए।

2.यदि कोई कर्मचारी विद्रोही प्रवृति का है तो उसकी सूचना तत्काल राजा को देनी चाहिए।

3.ऐसे षड़यत्रों की सूचना राजा को देना जो राजा के विरूद्ध प्रजा द्वारा रचे गये हो।

4.जनता के मनोभावों को पढ़ना तथा अंसतोष के कारणों को राजा के समक्ष प्रस्तुत करना।

कौटिल्य के शब्दों में-''राज्य में कर्मचारियों एवं प्रजा की शत्रुता जानने के लिए गुप्तचरों की नियुक्ति की जाए। राजा धन एवं मान द्वारा गुप्तचरों को संतुष्ट रखे।''उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कौटिल्य ने गुप्तचर व्यवस्था का विश्लेषण बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से किया है।

6.8 मण्डल सिद्धान्त

कौटिल्य ने अपनी पुस्तक में मण्डल सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन किया है। कौटिल्य ने पड़ोसी राज्यों से संबंध संचालन को मंडल सिद्धान्त के नाम से तथा अन्य विदेशी राज्यों के साथ संबंध संचालन को षाडगुण्य नीति के नाम से अभिव्यक्त किया। कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त प्राचीन भारतीय ग्रन्थों पर आधारित है। यह राम राज्य में प्रचलित ''दिग्विजय सिद्धान्त'' पर आधारित है।

अर्थः- मण्डल का अर्थ ''राज्यों का वृत्त'' होता है। यह एक प्रकार की रणनीति है जिसमें विषय की आकांक्षा रखने वाला राज्य अपने चारों ओर के अन्य राज्यों को मण्डल मानता है।

मण्डल सिद्धान्त एक बारह राज्यों के वृत्तों पर आधारित है। इसके अन्तर्गत मण्डल का केन्द्र ऐसा राज्य होता है जो पड़ोसी राज्य को जीतकर अपने में मिलाने का प्रत्यत्नशील रहता है। इसे वह विजिगीषु राजा कहता है। मंडल में बारह राज्य होते है- विजिगीषु, अरि, मित्र, मित्रमित्र, अरि मित्रमित्र, पार्ष्ठीग्राहा, आक्रंद, पार्ष्णिग्रालसार, आंक्रादासार, मध्यम और उदासीन।

कौटिल्य के अनुसार विजिगीषु मंडल के मध्य रहता है। अरि, मित्र, अरिमित्र, मित्र मित्र और अरिमित्र ये प ंाच राज्य विजीगीषु के सामने तथा पार्ष्णिग्राह, आंक्रद, पार्ष्णिग्राहासार और आंक्रादासार ये चार राज्य के पीछे रहते है। शेष दो राज्य मध्यम एवं उदासीन बगल में रहते हैं। कौटिल्य के मण्डल सिद्धान्त के बारह राज्यों का वर्णन इस प्रकार किया जा सकता हैः-

1.विजिगीषु राज्यः- अपने राज्य के विस्तार की आकांक्षा रखने वाला विजिगीषु कहलाता है। इसका स्थान मंडल के केन्द्र में होता है।

2.अरिः- विजिगीषु के सामने वाला राज्य जो उसका शत्रु होता है अरि कहलाता हे।

3.मित्रः- अरि के सामने का राजा मित्र कहलाता है। यह विजिगीषु का मित्र और अरि का शत्रु होता है।

4.अरिमित्रः- मित्र के सामने वाला राज्य अरिमित्र कहलाता है। यह अरि का मित्र और विजिगीषु का शत्रु होता है।

5.मित्रमित्रः- अरिमित्र के सामने वाला राज्य मित्रमित्र कहलाता है। मित्र राज्य का मित्र होता है। यही कारण है कि वह विजिगीषु राज्य के साथ भी उसकी मित्रता होती है।

6.अरि मित्रमित्रः- मित्रत्रमित्र के सामने वाला राज्य अरि मित्र-मित्र कहलाता है क्योंकि वह अरिमित्र राज्य का मित्र होता है। अतः अरि राज्य के साथ उसका संबंध मित्रता का रहता है।

7.पार्ष्णिग्राह (पीठ का शत्रु)- विजिगीषु के पीछे जो राज्य रहता है वह पार्ष्णिग्राह कहलाता है। अरि की तरह वह भी विजिगीषु का शत्रु होता है।

8.आंक्रदः- पार्ष्णिग्राह के पीछे जो राज्य होता है उसे आंक्रद कहते है वह विजिगीषु का मित्र होता है।

9.पार्ष्णिग्राहासारः- आंक्राद के पीछे वाला राज्य का पार्ष्णिग्राहासार कहलाता है। यह पार्ष्णिग्राह का मित्र होता है।

10.आंक्रादासारः- पार्ष्णिग्राहासार के पीछे वाला राज्य आंक्रदासार कहताता है। यह आंक्राद का मित्र होता है।

11.मध्यमः- मध्यम ऐसा राज्य है जिसका प्रदेश विजिगीषु और परिराज्य दोनों की सीमा से लगा होता है। दोनों से शक्तिशाली होने के कारण यह दोनों की सहायता भी करता है। जरूरत पड़ने पर यह दोनों से अलग-अलग मुकाबला भी करता है।

12.उदासीनः- राजा का प्रदेश विजिगीषु, अरि, मध्यम इन तीनों से परे पर होता है। यह शक्तिशाली होने के कारण तीनों से मुकाबला भी कर सकता है।

उक्त बारह राज्यों का समूह राज्य मण्डल कहलाता है। कौटिल्य ने इस सिद्धान्त के माध्यम से यह बताने का प्रयास किया है कि भौगोलिक आधार पर कौन मित्र तथा शत्रु हो सकते है।

मण्डल सिद्धान्त का विश्लेषणः- कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त एक व्यवहारिक एवं दूरदर्शितापूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त में कौटिल्य ने राज्य के चारों ओर बनने वाले मण्डल (दूसरे राज्यों के घेरा) का विश्लेषण किया है। उसके मण्डल सिद्धान्त की प्रमुख तत्व निम्न हैः-

1.कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त 12 राज्यों के एक केन्द्र की कल्पना करता है।

2.मण्डल सिद्धान्त में राज्यों को विशेष नाम एवं विशेष प्रकृति का उल्लेख किया गया है।

3.कौटिल्य के अनुसार यह संख्या घट बढ़ सकती है।

4.कौटिल्य के अनुसार मध्यम एवं उदासीन राज्य को छोड़कर अन्य सभी राज्यों की शक्ति लगभग समान है।

5.कौटिल्य की स्पष्ट मान्यता है कि राज्य अपने पड़ोसी का शत्रु तथा उसके पड़ोसी का मित्र होता है।

6.उसकी मान्यता है कि राज्य को पड़ोसी राज्य से सतर्क रहते हुए अपना गठबंधन बनाना चाहिए।

7.यह शक्ति संतुलन के सिद्धान्त पर आधारित है। यह राज्यों के आपसी सहयोग पर आधारित है।

कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार स्थापित किया गया था परन्तु आज की बदली परिस्थितियों में जिसमें भूमण्डलीकरण का दौर है तथा सैनिक शक्ति की अपेक्षा आर्थिक शक्ति का महत्व बढ़ गया है , प्रांसगिक नहीं रह गया है। इसके बावजूद तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए उसकी यह महत्वपूर्ण देन है।

6.9 षाड.गुण्य नीति

कौटिल्य ने पड़ोसी देशों के साथ व्यवहार के लिये 6 लक्षणों वाली नीति अपनाने पर बल दिया। प्राचीन भारतीय चिन्तन में भी इसके लक्षण मिलते है। मनु के विचारों में तथा महाभारत में भी इसका उल्लेख मिलता है। कौटिल्य की मान्यता थी कि विदेश नीति का निर्धारण इन छः गुणों के आधार पर करना चाहिए। कौटिल्य ने षड्गुण्य नीति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि -‘‘उनमें दो राजाओं का मेल हो जाना संधि, शत्रु का अपकार करना विग्रह ,उपेक्षा करना, आसन हमला करना यान आत्म सर्मपण करना संश्रय, दोनों से काम लेना द्वैधीभाव कहलाता है।’’

षाड़गुण्य नीति का व्यवहारिक पक्षः- कौटिल्य ने षाड़गुण्य नीति का विकास व्यवहारिक आधार पर किया। कौटिल्य यह जानता था कि राजा अथवा राज्य को कई बार ऐसे अवसर देखने पड़ते है जब उनके सामने की चुनौती बहुत शक्तिशाली तथा कई बार चुनौती बेहद कमजोर होती है। ऐसे में राजा को परिस्थितियों के अनुसार

नीति बनानी चाहिए तथा कमजोर होने पर विग्रह कर लेना चाहिए। यदि दोनों समान स्थिति में हैं तो आसन को स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि राजा स्वयं को सक्षम एवं तैयार समझता है तो उसे यान (चढ़ाई) का सहारा लेना चाहिए। समय, परिस्थितियों के अनुसार नीति में परिवर्तन करके राष्ट्रहित को साधना चाहिए। कौटिल्य की मान्यता थी कि समय के साथ षाड़गुण्य में परिवर्तन किया जाना चाहिए। कौटिल्य की षाड़गुण्य नीति इस प्रकार हैः-

1. संधिः- कौटिल्य के षड़गुण्य नीति का पहला एंव महत्वपूर्ण तत्व है। कौटिल्य का मत है कि यह दो राजाओं के मध्य हुआ समझौता है। यह राजा के द्वारा किया गया उपक्रम है जिसका उद्देश्य अपने को बलशाली बनाना तथा शत्रु को कमजोर करना है। कौटिल्य ने संधि के लिये निम्न आवश्यक परिस्थितियां बतायी हैः-

1. यदि राजा समझता है कि इससे उसके हित सिद्ध होंगे तथा शत्रु को हानि होगी।
2. शत्रु पक्ष के लोगों को कृपा दिखाकर अपने में शामिल करना।
3. शत्रु के साथ संधि कर उसका विश्वास हो जाये तो गुप्तचरों और विष प्रयोग से शत्रु का नाश करना।
4. उत्तम कार्यो के साथ शत्रु के उत्तम कार्यो से लाभ प्राप्त करना।

संधि के प्रकारः-कौटिल्य ने अनेक प्रकार की संधियों का उल्लेख किया है। इसमें से कुछ प्रमुख संधि इस प्रकार हैः-

हीन संधिः- हीन संधि एक विशेष प्रकार की संधि है जो बलवान राजा के साथ एक कमजोर राजा अपनी सुरक्षा और हित सवंर्धन के लिये करता है।

दंडोपनत संधिः- कौटिल्य ने इसके तीन प्रकार बताये है-

अमिष संधिः- जब पराजित राजा विजयी राजा के समक्ष अपनी सेना, धन के साथ सर्मपण कर दे तो उस संधि का अमिष संधि कहते है।

पुरूषांतर संधिः- अपने सेनापति तथा राजकुमार को विजयी राजा को सौंपकर जो संधि की जाती है उसे पुरूषंकर संधि कहते है।

अदृश्य पुरूष संधिः- यह एक विशेष संधि होती है जिसमें यह निश्चित होता है कि विजयी राजा के हित के लिये पराजित सेना या राजा उपक्रम करेगा। यह संधि अदृश्य पुरूष संधि कहलाती है।

देशोपनत संधिः- देशोपनत संधि के निम्न प्रकार होते है-

परिक्रय संधिः-यह वह संधि होती है जिसमें बलवान राजा द्वारा युद्ध में गिरफ्तार किये गये महत्वपूर्ण व्यक्तियों को धन देकर छोड़ा जाता है।

उपग्रह संधिः- यह वह संधि है जिसमें धनराशि निश्चित हो जाती है। यह किस्तवार धन अदा करने बल देती है।

सुवर्ण संधिः- सुविधानुसार निश्चित समय पर नियमित धनराशि देने की संधि सुवर्ण संधि कहलाती है।

कपाल संधिः- यह वह संधि हैं जिसमें संपूर्ण धनराशि तत्काल अदा करने की शर्त होती है। इसे कपाल संधि कहते है।

परिपणित देश संधिः- यह एक प्रकार की रणनीतिक संधि दो राज्यों के बीच होती है। इसमें दो राज्य रणनीति के तहत अलग-अलग दो राज्यों पर हमला करते है।

परिपणित काल संधिः- यह समय (काल) को आधार पर की गई संधि होती है। इसमें दो राज्य एक निश्चित समय पर कार्य करने पर सहमत होते है।

परिपणित कार्य संधिः- यह दो राज्यों के बीच एक निश्चित कार्य को करने का समझौता होता है। इसमें अपने-अपने हिस्से का कार्य तय हो जाता है।

मित्र संधिः- यह एक अलग प्रकार की संधि है जो दो मित्र राजाओं के बीच परस्पर हित पूर्ति के लिये की जाती है।

विषम संधिः- यह दो राज्यों के बीच दो अलग-अलग कार्यों को करने का समझौता है। इसमें एक राज्य हिरण्य का तथा दूसरा भूमि का कार्य करता है।

अति संधिः- यह विशेष संधि है जो उम्मीद से अधिक लाभ प्राप्त होने का प्रतीक है।

भूमि संधिः- यह दो राज्यों के बीच भूमि प्राप्त करने हेतु किया गया समझौता है। इसे भूमि संधि कहते है।

हिरण्य संधिः- यह हिरण्य लाभ के लिये की गई संधि है। यही कारण है कि इसे हिरण्य संधि कहते है।

विग्रह या युद्धः- यह राजा की महत्वपूर्ण नीति है। राजा को युद्ध का सहारा तभी लेना चाहिए जब उसे लगे कि शत्रु कमजोर हो गया है। कौटिल्य ने आगे स्पष्ट किया है कि यदि विजीगीषु राजा को यह लगे कि संधि और विग्रह दोनों से ही समान लाभ प्राप्त हो रहा है तो उसे विग्रह के स्थान पर संधि का सहारा लेना चाहिए।

कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि युद्ध के लिये एक शक्तिशाली सेना आवश्यक है। उसने सेना के चार अंग बताये है- पैदल सैनिक, हाथी, घोड़े , रथ आदि। कौटिल्य उक्त चारों में हाथी पर अधिक बल देता था। सैनिकों की भर्ती के संबंध में वह वंशानुगत सैनिकों को अधिक महत्व देता था। वह क्षत्रियों को अधिकाधिक सेना में रखने का पक्षधर था। यदि संख्या कम हो तो वह वैश्य एवं शूद्रों को भी शामिल करने पर बल देता है।

कौटिल्य ने विजय प्राप्त करने के लिये तीन प्रकार के बल को आवश्यक बताया। ये नैतिक बल, अर्थ बल तथा कूटनीतिक बल है। इसमें से वह नैतिक बल अथवा उत्साह शक्ति पर अधिक बल देता था।

युद्ध के प्रकार - कौटिल्य ने युद्ध के निम्न प्रकार बताये है-

1. प्रकाश युद्धः- यह युद्ध किसी देश या समय को निश्चित कर किया जाता है।
2. लूट युद्धः- यह छोटी सेना को बड़ा दिखाकर किया गया युद्ध है। इसमें किलों को जलाना, लूटपाट करना, धावा बोलना आदि शामिल है।
3. तूष्णी युद्धः- विष या औषधि के माध्यम से शत्रु को नाश करने का तरीका तूष्णी युद्ध कहलाता है।

युद्ध का उपयुक्त समयः- कौटिल्य ने युद्ध की व्यापक योजना प्रस्तुत की है। उसने वर्ष के बारह महीनों का विश्लेषण कर उचित समय का वर्णन किया है। उनका मानना था कि युद्ध में अधिक समय लगने की स्थिति में पौष में, मध्यम समय लगने की स्थिति में चैत्र में, अल्प समय लगने पर जेठ युद्ध का श्रेष्ठ समय है। वह वर्षाकाल को युद्ध के लिये घातक मानता है। यदि भू-प्रदेश अनुकूल है तथा युद्ध टाला नहीं जा सकता तो इस समय भी युद्ध किया जा सकता है।

युद्ध का प्रबंध तथा नियमः- कौटिल्य युद्ध के व्यापक प्रबंध का पक्षधर था। वह मानता था कि युद्ध भूमि में सभी आवश्यकता की पूर्ति का प्रबंध युद्ध से पूर्व कर लेना चाहिए। यह सभी प्रबंध युद्ध भूमि में तैयार रहना चाहिए। इसमें

आवश्यक औषधि सामग्री, वैद्य, खाने-पीने की सामग्री , रसोइयों तथा सैनिकों को खुश करने वाली महिलायें भी शामिल है। कौटिल्य युद्ध मैदान के कुछ नियम तय करता है। उसकी मान्यता है कि युद्ध में घायल सैनिकों, भागते सैनिकों तथा आत्मसमर्पण करने वाले सैनिकों पर प्रहार नहीं करना चाहिए। भयभीत एवं गिरे हुए मनोबल वाले सैनिकों को भी नहीं मारना चाहिए।

विजयी राजा के प्रकारः- कौटिल्य ने विजीगीषु राजा के तीन प्रकार बताये है-

1. धर्मविजयीः- धर्मविजयी गौरव एवं प्रतिष्ठा के लिये विजय प्राप्त करना चाहता है।वह शत्रु द्वारा आत्मसमर्पण करने से संतुष्ट हो जाता है।

2. लोभ विजयीः- लोभ विजयी वह राजा होता है जो भूमि एवं धन दोनों देने से संतुष्ट हो जाता है।

3. असुर विजयीः- असुर विजयी राजा वह होता है जो आसुरी प्रवृतियों से युक्त होता है। इसमें वह धन , भूमि, प्राण तथा स्त्री आदि को पाकर ही संतुष्ट होता है।

यान -

यान का अर्थ होता है आक्रमण। इस नीति को तभी अपनाया जाता है जब यह लगे कि उसकी सैनिक शक्ति मजबूत है तथा बिना आक्रमण किये शत्रु को नियन्त्रित नहीं किया जा सकता है। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक में यान का व्यापक वर्णन किया है।

आसन या तटस्थताः- यह वह अवस्था है जिसमें उचित समय की प्रतीक्षा में राजा चुपचाप तटस्थ होकर बैठा रहता है। यह अपने को मजबूत करते हुए शत्रु पर आक्रमण करने के साही समय की प्रतीक्षा है। कौटिल्य ने आसन के दो प्रकार बताये हैः-

1. विग्रह आसन

2. संघाय आसन

विग्रह आसनः- जब विजीगीषु(विजयी) और शत्रु दोनों ही सन्धि करने की इच्छा रखते है तथा परस्पर एक दूसर को नष्ट करने की शक्ति न रखते हो तो कुछ काल युद्ध कर चुप बैठ जाते है।

संधाय आसन

जब दोनों राजा एक संधि कर चुपचाप बैठ जाते है तो उसे संधाय आसन कहते है।

संश्रयः

यह एक प्रकार का आश्रय या शरण है जो कमजोर राज्य बलवान राजा के यहां लेता है। यह तभी होता है जब राजा बेहद कमजोर हो तथा अपनी रक्षा करने में में असमर्थ हो।

द्वैधीभावः

द्वैधीभाव की नीति से कौटिल्य का आशय एक राज्य के प्रति संधि तथा दूसरे के प्रति विग्रह नीति को अपनाने की नीति है। यह राष्ट्रीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक से सहायता लेने तथा दूसरे से लड़ने की नीति है। वह विशेष परिस्थितियों में विशेष नीति अपनाने का पक्षधर था। विदेश नीति के संचालन में वह साम, दाम, दण्ड, भेद आदि

की नीति के अपनाने का पक्षधर था। इन चारों में वह साम (समझाना) दाम (पैसे देना) से श्रेष्ठ है तथा भेद (फूट डालना) दण्ड (युद्ध से) श्रेष्ठ है।

षाड़गुण्य नीति का मूल्यांकनः- कौटिल्य की षाड़गुण्य नीति का निम्न आधार पर आलोचना की जाती हैः-

1.आधुनिक समय में यह विदेश नीति अनुपयुक्त है। इसे व्यवहारिक नहीं माना जा सकता है।

2.इसमें अनैतिक माध्यम, छल, धोखा, आदि पर बहुत बल दिया जाता है।

3.कौटिल्य भूभाग विस्तार का पक्षधर था। वह इसके विस्तार के लिये सदैव प्रयत्नशील रहने का हिमायती था। इसमें हिंसा एवं रक्तपात की संभावना बढ़ जाती है।

मूल्याँकन

कौटिल्य भारतीय राजदर्शन का जनक है। कुछ पाश्चात्य विचारक भी यह मानते है कि प्राचीन भारतीय विद्वानों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचारक कौटिल्य है। राजनीतिक दर्शन में कौटिल्य के महत्व को हम निम्न बिन्दुओं के द्वारा दर्शा सकते हैः-

1.कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र में पूर्व भारतीय विद्वानों भारद्वाज, मनु, वृहस्पति के विचारों का मिश्रण सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया।

2.कौटिल्य पहला भारतीय विचारक था जिसने राजनीति को धर्म, नैतिकता से अलग एक स्वतन्त्र विषय के रूप में न केवल देखा वरन् उसकी व्याख्या भी की।

3.कौटिल्य ने राजनीति का व्यवहारिक एवं यर्थाथवादी स्वरूप प्रस्तुत किया। उसने केन्द्रीकृत एवं सुदृढ़ शासन की वकालत की। अपने सिद्धान्तों के आधार पर कोई मौर्य वंश की स्थापना की।

4.कौटिल्य ने राज्य के कार्यो का जो वर्णन किया है उसमें लोककल्याणकारी राज्य के बीच निहित दिखायी पड़ते है।

5.कौटिल्य राजतंत्र का समर्थक है परन्तु उसका राजा एक योग्य ईमानदार और नियन्त्रित राजा है। वह कुछ हद तक प्लेटो के दार्शनिक राजा की तरह है।

6.कौटिल्य ने व्यापक प्रशासनिक व्यवस्था का उल्लेख किया है। उसने प्रशासन को 18 भाग में विभाजित किया है। उसका प्रशासनिक विकेन्द्रीकरण उसकी महत्वपूर्ण देन है।

7.कौटिल्य ने कानून के शासन पर बल दिया। कानून अनुभव तथा आध्यात्म पर आधारित है।

8.कौटिल्य ने न्याय के लिये स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष नयाय विभाग की स्थापना पर बल दिया। उसने न्यायधीशों की नियुक्ति एवं कार्यो की स्पष्ट व्याख्या की।

9.कौटिल्य ने दण्ड की व्यापक व्यवस्था की। उसने दण्ड का स्वरूप, दण्ड के निर्धारण सिद्धान्त, प्रकार का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया। उसका दण्ड सिद्धान्त पूर्णतः व्यवहारिक है।

10.कौटिल्य ने राजपूत तथा राज्य की सीमा के अंदर गुप्तचरों के ऊपर व्यापक वर्णन किया है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वह मण्डल सिद्धान्त के द्वारा विदेश नीति संचालन तथा राष्ट्र की सीमा को सुरक्षित रखने तथा विस्तार की नीति को स्पष्ट करता है।

11.उसने धर्म एवं राजनीति पर विचार किया। आंतरिक एवं विदेशनीति धर्म पर आधारित होनी चाहिए। उसने राजनीति को धर्म आधारित बताया परन्तु कुछ स्थानों पर वह उसे स्वतन्त्र भी रखता है। वह धार्मिक संस्थाओं पर राज्य के नियन्त्रण का पक्षधर है।

6.11 कौटिल्य एवं मैकयावेली

कौटिल्य ने पुस्तक "अर्थशास्त्र" तथा मैकियावेली ने अपनी पुस्तक ''दि प्रिंस'' में अपने राजनीतिक विचारों का उल्लेख किया है। कुछ पाश्चात्य विचारक कौटिल्य को मैकियावेली का अग्रदूत मानते है तथा उसकी तुलना मैकियावेली से करते है। कौटिल्य एवं मैकियावेली में अनेक स्थानों पर समानता दिखती है तथा अनेक स्थान पर असमानता दिखती है। मैकियावेली से समानता वाले प्रमुख तत्व निम्न है-

1. दोनों राजा को असीमित शक्तियाँ देने के पक्षधर है। वे राजा को सर्वोच्च्व निर्णायक मानते है।
2. दोनों ही राज्य की एकता एवं विस्तारवादी नीति के समर्थक हैं।
3. दोनों ने युद्ध को राज्य की विस्तार एवं विदेश नीति का प्रमुख आधार माना है।
4. दोनों ही कठोर राष्ट्रवादी थे। वे राज्य की एकता स्थापित करने के पक्षधर थे।
5. दोनों ही यर्थाथवादी थे। दोनों के राजनीतिक सिद्धान्त यर्थात पर आधारित थे।
6. दोनों ही विदेश नीति पर बड़ा बल दिया। दोनों ही पड़ोसी राज्य को शंका से देखते हैं।
7. दोनों ने गुप्तचर पर विशेष बल दिया। दोनों गुप्तचरों को राज्य की आंख एवं कान माना। दोनों ने गुप्तचरों का विस्तृत विवेचन किया है।
8. दोनों ने राज्य के उद्देश्य की पूर्ति के लिये नैतिकता के उल्लघंन को सही ठहराया है। इसके लिये साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति को सही ठहराया है।

कौटिल्य और मैकियावेली में अंतर:- कौटिल्य एवं मैकियावेली में कुछ बिन्दुओं पर अंतर दिखता हैः-

1.कौटिल्य एक आचार्य था। वह सादा एवं संयमित जीवन का समर्थक था। वही मैकियावेली न तो आचार्य था और न ही सन्यासी था।

2.कौटिल्य ने "अर्थशास्त्र" अपने लक्ष्य की प्राप्ति अर्थात मौर्य वंश की स्थापना के बाद की वहीं मैकियावेली ने इसकी रचना अपने जीवन के निराशाजनक पल में की थी। उसने प्रिंस की रचना तब की जब वह राजनीतिक रूप से निष्कासित हो चुका था।

3.प्रिंस केवल राजनीति से सम्बन्धित है जबकि "अर्थशास्त्र" राजनीति तथा मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से जुड़ी है।

4.मैकियावेली मानव के प्रति नकरात्मक दृष्टिकोण रखता है जबकि कौटिल्य का दृष्टिकोण निराशाजनक नहीं है।

5.मैकियावेली का मुख्य उद्देश्य राज्य की सुरक्षा को बनाये रखना है जबकि कौटिल्य का उद्देश्य व्यापक राज्य एवं शासन व्यवस्था का प्रतिपादन करना है।

6.कौटिल्य परम्परावादी है जबकि मैकियावेली आधुनिक है। कौटिल्य राजतन्त्र का समर्थन करता है जबकि मैकियावेली ने राष्ट्रवाद का बीजारोपण किया है।

7.कौटिल्य ने विदेश नीति पर प्रकाश डाला है। इसके लिये राजदूत आदि का व्यापक वर्णन किया है। जबकि मैकियावेली में इसका अभाव है।

6.12 कौटिलय एवं यूनानी विचारक

कौटिल्य की पृष्ठभूमि भारतीय थी जबकि यूनानी विचारकों जैसे प्लेटो की पृष्टभूमि अलग थी। इसके बावजूद दोनों के बीच कुछ समानतायें दिखायी पड़ती है।

1. दोनों ही विचारकों ने राज्य को एक शरीर के रूप में है ।

2. दोनों ने राज्य को आवश्यक बताया। उनका मानना था कि राज्य द्वारा ही व्यक्ति अपने अंतिम उद्देश्यों की प्राप्ति कर सकता है।

3. दोनों ही राजतन्त्रों के समर्थक है। दोनों का राजा दार्शनिक या योग्य राजा है। उनकी मान्यता उसकी योग्यता में है।

4. दोनों की राज्य को व्यक्ति के विकास का माध्यम मानते है।

असमानतायें -प्लेटो एवं कौटिल्य में निम्न बिन्दुओं पर असमानतायें दिखायी पड़ती हैः-

1.प्लेटो आदर्शवादी विचारक है तथा उसका दृष्टिकोण काल्पनिक है। वहीं कौटिल्य यर्थाथवादी तथा उसका दृष्टिकोण व्यवहारिक है।

2.प्लेटो आदर्श राज्य की कल्पना कर विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत करता है वहीं कौटिल्य ने ‘‘अर्थशास्त्र‘‘ में राजनैतिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसका उद्देश्य एक मजबूत एवं शक्तिशाली राज्य की स्थापना करना है।

3.प्लेटो ने आदर्श राज्य के लिये दार्शनिक शासक तथा साम्यवादी सिद्धान्त प्रस्तुत किया जबकि कौटिल्य ने साम्यवाद एवं आदर्श राज्य की स्थापना पर बल नहीं दिया।

4.प्लेटो ने स्त्री-पुरूष समानता पर बल दिया परन्तु कौटिल्य ने राजकार्यों में स्त्री सहभागिता पर बल नहीं दिया है।

5.कौटिल्य के ‘‘अर्थशास्त्र‘‘ में राज्य के गठन, विदेश नीति, गुप्तचर व्यवस्था, वैदेशिक नीति का व्यापक वर्णन है जबकि प्लेटो के दर्शन में इसका अभाव है।

स्वमूल्यांकन हेतु प्रश्नः-

1. कौटिल्य की पुस्तक का नाम क्या था ?

2. कौटिल्य ने किस राजवंश की स्थापना की ?

3. कौटिल्य किसका महामंत्री था ?

4. कौटिल्य के विचार निम्न में से किससे मेल खाते है?

I. आगस्ताइन II. मिल III. मार्क्स IV. मैकियावेली

5. निम्न में से किसने मण्डल सिद्धान्त दिया?

I. कौटिल्य II. प्लेटो III. अरस्तू IV. मार्क्स

6. षाड़गुण्य नीति किसकी देन है?

I.कौटिल्य II. प्लेटो III. सिसरो IV. आगस्टाइन

6.13 सारांश

कौटिल्य एक यर्थाथवादी प्राचीन भारतीय विचारक था। उसने अपने ग्रन्थ अर्थशास्त्र के माध्यम से विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। वह राज्य के सात अंगों का सिद्धान्त देता है जो यूनानी विचारकों के आंगिक सिद्धान्त की तरह दिखता है। कौटिल्य राज्य का प्रशासन कैसे चलाया जाए, राजा को किन नियमों का पालन करना चाहिए? आदि प्रश्नों का उत्तर प्रस्तुत करता है।

कौटिल्य अपनी पुस्तक में विदेश नीति के संचालन की व्यापक योजना प्रस्तुत करता है। वह अपने मण्डल सिद्धान्त एवं षाड़गुण्य नीति के द्वारा विदेश नीति तथा पड़ोसी राज्य के साथ संबंध संचालन की व्यापक योजना प्रस्तुत करता है। वह राजदूत की नियुक्ति, गुप्तचरों की नियुक्ति , राजा की दिनचर्या एवं उस पर नियन्त्रण, दण्ड, न्याय आदि विषयों का विस्तृत विवेचन देता है।

कौटिल्य का विभिन्न विषयों पर दिया गया सम्पूर्ण विवेचन यर्थातवादी है। वह एक मजबूत राज्य का निर्माण करना चाहता हैं इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सेना की मजबूती तथा विस्तारवादी नीति की वकालत करता है। वह सदैव पड़ोसी देश पर पैनी नजर रखने का समर्थक था। इसके लिए वह देश के अन्दर मजबूत प्रशासनिक व्यवस्था तथा गुप्तचरों के माध्यम से सूचना संकलन पर जोर देता है। वह विस्तारवादी नीति का समर्थक था। वह राष्ट्रहित की पूर्ति के लिये साम, दाम, दण्ड और भेद की नीति अपनाने का पक्षधर था।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कौटिल्य प्राचीन काल का पहला ऐसा विचारक था जिसने राजनीति पर इतना व्यापक और उद्देश्यपूर्ण ग्रन्थ लिखा। उसने शासन, प्रशासन एवं विदेश नीति संचालन पर दिये विचार सैकणों वर्ष गुजर जाने के बाद भी अत्यंन्त प्रांसगिक है। उसकी कृति अर्थशास्त्र उसकी मानवता को दी गई अमूल्य देन है।

6.14 शब्दावली

6.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. अर्थशास्त्र 2. मौर्यवंश 3. चन्द्रगुप्त मौर्य 4.मैकियावेली 5.कौटिल्य 6. कौटिल्य

6.16 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. राव एम0वी0 कृष्णा, स्टडीज इन कौटिल्या
2. समस्त्रे आर0 , कौटिल्यस का अर्थशास्त्र
3. परमात्मा शरण, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं समस्यायें
4. वर्मा , वी0पी0, प्राचीन भारतीय चिन्तन

6.17 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

1. वेनी प्रसाद, दि स्टेट इन एनसिएंट इण्डिया
2. श्यामलाल पाण्डेय, कौटिल्य की राज व्यवस्था

6.17 सहायक/उपयोगी पाठ्यसामग्री

6.18 निबंधात्मक प्रश्न

1. कौटिल्य के प्रमुख राजनीतिक विचारों पर निबन्ध लिखिये ।
2. कौटिल्य के सांप्तग सिद्धान्त पर प्रकाश डालिए।
3. कौटिल्य का मण्डल सिद्धान्त क्या है? उसका विस्तृत विवेचन कीजिये।
4. एक राजनीतिक विचारक के रूप में कौटिल्य की प्रांसगिकता को स्पष्ट करते हुए निबंध लिखिये।
5. अर्थशास्त्र में वर्णित प्रशासनिक एवं न्याय व्यवस्था पर निबंध लिखिये ।

इकाई -7 :चर्च एवं राज्य के मध्य विवादः परिषदीय आन्दोलन

इकाई की संरचना

7.1 प्रस्तावना
7.2 उद्देश्य
7.3 चर्च एवं राज्य के बीच संघर्ष
7.4 पोप की शक्ति के पतन के कारण
7.5 धार्मिक सत्ता के पक्ष में तर्क
7.6 राजसत्ता के सर्वोच्चता के पक्ष में तर्क
7.7 चर्च एवं राजसत्ता के मध्य विवाद का राजनीतिक चिन्तन पर प्रभाव
7.8 परिषदीय आन्दोलन के उदय के प्रमुख कारण
7.8.1 परिषदीय आंदोलन के उद्देश्य
7.8.2 परिषदीय आन्दोलन के प्रमुख सिद्धान्त
7.8.3 कुछ प्रमुख परिषदें
7.8.4 परिषदीय आंदोलन के असफलता के कारण
7.8.5 आन्दोलन का महत्व एवं प्रभाव
7.9 सारांश
7.10 शब्दावली
7.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची
7.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
7.14 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

मध्य युग के राजनीतिक चिन्तन का मुख्य विषय चर्च एवं राज्य के बीच चलने वाला सत्ता संघर्ष था। दो सत्ताओं के बीच यह संघर्ष वर्चस्व को लेकर था। इस संघर्ष से पूर्व तलवारों का सिद्धान्त प्रचलित था जिसका अर्थ था कि इस पृथ्वी के शासन संचालन के लिये ईश्वर ने दो सत्ताओं का निर्माण किया हैः-

1. लौकिक सत्ता (राजा)
2. पारलौकिक सत्ता (ईश्वरीय)

इस पूर्व व्यवस्था में यह स्वीकार किया जाता था कि दोनों को अपने-अपने क्षेत्र में कार्य करना चाहिए। दोनों को सामाजिक हित में एक दूसरे को सहयोग करना चाहिए।

बारहवीं शताब्दी आते-आते दोनों सत्ता के केन्द्र के बीच संघर्ष, तनाव तथा विवाद प्रारम्भ हो गया। इस संघर्ष का मुख्य कारण चर्च के समर्थकों के द्वारा राज सत्ता पर स्थापित होने का प्रयास करना था। इसी समय राजा द्वारा विशपों की नियुक्ति पर सवाल उठाये गये तथा यह प्रचारित किया गया कि यदि राजा अपने कर्तव्यों का पालन ठीक से नहीं करता है तो उसे पदच्युत किया जा सकता है। इसी प्रतिक्रिया स्वरूप राजतन्त्र समर्थकों ने भी घोषणा कर दी कि राजा ईश्वर द्वारा नियुक्त है अतः यह विशपों की नियुक्त से लेकर पोप के कार्यों को नियमित कर सकता है। इसी समय चर्च के अन्य पदाधिकारियों की नियुक्ति को भी राजा को सौंपने के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किये गये। संक्षेप में कहे तो यह दो सत्ताओं के बीच महत्वाकांक्षा एवं कार्यक्षेत्र के विस्तार का संघर्ष था। वह ग्यारहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक चला दोनों सत्ताओं का संघर्ष था। सेवाइन के शब्दों में - ‘‘इस समय की राजनीतिक रचनायें मुख्य रूप से लौकिक तथा धार्मिक सत्ताओं के सीमा संबंधी विवादों का प्रतिपादन करती है।’’

7.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के द्वारा हम -

1 मध्य युग की राजनैतिक स्थिति को जानने का प्रयास करेगें।

2 चर्च एवं राज्य के बीच विवाद के कारणों को समझने का प्रयास करेंगें।

3 चर्च एवं राज्य सत्ता के बीच विवाद का चिन्तन पर पड़े प्रभाव को समझने का प्रयास करेंगें।

4 परिषदीय आदोलन के उदय के कारण को जानने का प्रयास करेगें ।

5 परिषदीय आंदोलन के प्रमुख सिद्धान्तों तथा पतन के कारणों पर प्रकाश डालेंगें ।

7.3 चर्च एवं राज्य के बीच संघर्ष

चर्च एवं राजा के बीच हुए संघर्ष को हम दो भागों में बांट सकते है-

1.चर्च की सर्वोच्चता का काल (11 वीं और 12 वीं शताब्दी का काल)

2.राज्य की सर्वोच्चता का काल (13 वीं और 14 वीं शताब्दी का काल)

चर्च की सर्वोच्चता का कालः- 11 वीं शताब्दी से 12 वीं शताब्दी के मध्य का समय चर्च की सर्वोच्चता का समय था। यह वह समय था जब वर्षों से चल रही परम्परा को बदलते हुए राज सत्ता को सीमित करने एवं चर्च की सर्वोच्चता स्थापित करने का प्रयास किया गया। इसमें से एक प्रमुख परम्परा थी विशपों की नियुक्ति की प्रथा। 1073 ई0 में ग्रेगरी सप्तम पदासीन हुआ। वह महत्वकांक्षी व्यक्ति था। वह चर्च की सत्ता को और अधिक मजबूत करना चाहता था अतः उसने राजा द्वारा विशपों की नियुक्ति की प्रथा को बदल दिया। उसने राजा द्वारा नियुक्ति विशपों को धर्मविरूद्ध घोषित कर दिया। एक आदेश द्वारा यह भी घोषणा कर दी गई कि कोई भी उल्लघंन करेगा तो उसे धर्म से बहिष्कृत कर दिया जायेगा।

पोप ग्रेगरी सप्तम की इस कार्यवाही के विरूद्ध सम्राट हेनरी चतुर्थ ने पोप को हटाने का प्रयास किया। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप पोप ने सम्राट को धर्म से बहिष्कृत करके प्रजा को राजा के प्रति निष्ठा रखने की शपथ से मुक्त कर दिया। धर्म बहिस्कृत होने से राजा की स्थिति कमजोर हो गई तथा उसके विरूद्ध सामंतों ने बगावत की तैयारी प्रारम्भ कर दी। इस संकट से निपटने के लिये सम्राट हेनरी चर्तुथ ने तीन दिन भयंकर ठंडी जगह पर बने पोप के किले के बाहर खड़े हो क्षमायाचना की। अंततः पोप ने क्षमा देते हुए अपना आदेश वापस ले लिया। यह संघर्ष यहीं नहीं रूका। अपनी गद्दी सुरक्षित करने के बाद प्रतिशोध में हेनरी चर्तुथ ने रोम पर हमला कर दिया और अपने अधीन कर पोप को धर्म बहिस्कृत करा दिया। पोप के संकट के समय नारमन लोगों से मदद मांगी। नारमन लोगों ने रोम में प्रवेश किया परन्तु हेनरी जर्मन भाग गया। नारमन लोगों ने रोम को खूब लूटा। इससे रोम के निवासी पोप से नाराज हो गये। वह नारमन लोगों की शरण में चला गया। वहीं पर उसकी मृत्यु हो गई।

इन्नोंसेंट तृतीय की महत्वाकांक्षा (1198-1216)- ग्रेगरी सप्तम की मृत्यु के 100 वर्ष बाद इन्नोंसेंट तृतीय पोप बना। उसने गद्दी पर बैठते ही अपने प्रभाव एवं शक्ति को बढा़ने का प्रयास किया। उसकी यह मान्यता थी कि उसके पास यह अधिकार है कि वह राजा के कार्यों एवं शासन की जांच करें। वह कहा करता था कि - ''बाइबिल में मेरे संबंध में कहा गया है कि तुझे जनताओं और राजाओं के ऊपर स्थापित किया गया है। ताकि तू उन्मूलन का और नाश का तथा निर्माण का कार्य कर सके। तूझे स्वर्ग की चाबी सौंपता हूँ कि जिसे तू पृथ्वी पर बांधेगा उसे वह स्वर्ग से बांधा जायेगा।''

उसने अपने इन्हीं विचारों के आधार पर दो जर्मन राजाओं को धर्म से बहिष्कृत कर दिया। उसने राजनीतिक मामले में दखल देते हुए चर्च की प्रभुता स्थापित की।

इन्नोंसेंट चर्तुथ एवं फ्रडरिक द्वितीयः- जर्मन सम्राट फ्रडरिक द्वितीय ने यह दावा कि उसे सत्ता ईश्वर से प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हुई है न कि पोप के द्वारा अंतः उसे लौकिक मामलों में पूर्ण अधिकार प्राप्त है। पोप इन्नोसेंट ने इसे अस्वीकार कर दिया और पोप के पारलौकिक अधिकारों का हवाला देते हुए राजा को अपने अधीन माना। अंततः राजा की स्वतंत्रता के प्रयास विफल हो गये और वह पोप के अधीन अचानक फ्रेडरिक द्वितीय की मृत्यु हो गई। उसके बाद फिलिप चर्तुथ जो नवनियुक्त राजा था, ने पुनः पोप को चुनौती दी। चर्च एवं राज्य के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो गया।

2.राज्य की सर्वोच्चता का काल (तेरहवीं एवं चौदहवीं शताब्दी)- पोप वेनीफेस अष्टम के समय फ्रांस एवं इंग्लैण्ड के बीच युद्ध चल रहा था। इसी समय तत्कालीन राजा फिलिप चर्तुथ को धन की आवश्यकता थी अतः उसने चर्च की सम्पति पर कर लगाने का प्रयास किया। पोप वेनीफोस ने इसका विरोध किया और एक आदेश जारी कर विशपों को कर न चुकाने का निर्देश दिया। उसने कर देने वालों को धर्म बहिष्कृत करने की धमकी दी। राजा ने प्रतिक्रिया स्वरूप स्वयं अधिकारियों को यह निर्देशित किया कि वह रोम को प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता रोक दें तथा रोम के प्रतिनिधियों को फ्रांस से जाने के आदेश दे दिये। इससे राजा के समक्ष पोप को दोहरा नुकसान हुआ। पहला तो उसे प्राप्त होने वाली आय रूक गई साथ ही उसका प्रभाव घट गया अंततः पोप ने घुटने टेकते हुए चर्च की संपति पर लगाये गये कर को स्वीकार कर लिया।

संघर्ष यहीं पर समाप्त नहीं हुआ। कुछ समय बाद राजा फिलिप ने चर्च के एक प्रतिनिधि को हिरासत में ले उस पर अभियोग चलाया। पोप ने इसे अपना तथा सम्पूर्ण चर्च का अपमान माना। टकराव बढ़ा और फिलिप ने पोप पर भ्रष्टाचार के आरोप लगाते हुए अपनी सेना रोम भेज दी। पोप को बंदी लिया गया। बाद में पोप मुक्त हुआ। परन्तु गहरा आघात लगा और उसकी मृत्यु हो गई। बेनीडिक्ट ग्यारहवां वेनीफेस की मृत्यु के बाद गद्दी पर बैठा परन्तु वह अधिक दिन तक टिक नहीं सका अंततः जहर दे उसकी हत्या कर दी गई।

चर्च में चल रहे अस्थिरता का लाभ राजा फिलिप को मिला। उसने चर्च के कार्यों एवं पोप की नियुक्ति में दखल देना प्रारम्भ कर दिया। अंततः फिलिप के सहयोग से वंट्रेण्ड क्लीमेंट पंचम के नाम से सशर्त पोप की गद्दी पर बैठा। फ्रांस के राजा के समर्थन के कारण उसने रोम को छोड़ कर फ्रांस के शहर 'एविग्नोन' को अपना मुख्यालय बनाया। यह स्थान परिवर्तन ही नहीं था वरन् प्रभाव परिवर्तन का भी सूचक था। यह पहला अवसर था जब चर्च पर राजसत्ता का पूर्ण प्रभाव स्थापित हो गया था। एविग्नोन 1309 से 1377 तक पोप की राजधान रहा। इतिहास में इसे 'वेवीलोनियन कैद' कहा जाता है। जर्मनी, इटली में पोप का प्रभाव समाप्त हो गया।

पोप जॉन और जर्मन सम्राट लुइस चर्तुथ(1314-1347)- यह भी एक महत्वपूर्ण संघर्ष था। 1314 में लुईस चर्तुथ को पवित्र रोमन सम्राट के रूप में निर्वाचित किया गया। इसी समय आस्ट्रिया के फ्रेडरिक को भी कुछ लोगों ने निर्वाचित घोषित कर दिया। अंतः दो दावेदारों के मध्य टकराव प्रारम्भ हो गया। इसी समय पोप जान बाइसवां एविग्नोन में गद्दी पर बैठा। तत्कालीन पोप जांन बाइसंवा ने राजनीति में दखल देते हुए घोषणा कर दी कि वह जिसे ही सम्राट घोषित करेगें वहीं सम्राट होगा। इससे नाराज होकर लुईस ने पोप को हटा दिया और नये पोप के चुनाव में मदद की। पोप ने लुईस को धर्म विरोधी घोषित कर विद्रोह को उकसाया। पोप के आह्वाहन का विशेष प्रभाव नहीं हुआ और पोप की कमजोरी जगजाहिर हो गई। इसी समय एक अपरिग्रह आंदोलन संत फ्रांसिस के नेतृव्य में चला जिसमें कहा गया कि धर्माधिकारियों को अधिक संपति नहीं रखनी चाहिए। पोप ने इसे अपने विरूद्ध मानते हुए जांन को धर्म विरोधी घोषित कर दियां इसकी व्यापक प्रतिक्रिया हुई और पोप की व्यापक आलोचना हुई। इस पूरे घटनाक्रम के कारण 14वीं शताब्दी आते-आते पोप की सत्ता कमजोर हो गई और राजसत्ता स्थापित हो गई।

7.4 पोप की शक्ति के पतन के कारण

14वीं शताब्दी आते-आते पोप की शक्ति का पतन हो गया। उसकी शक्ति के पतन के प्रमुख कारण निम्न है-

1.चर्च में व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण जनता का विश्वास उसमें निरन्तर घटता जा रहा था।

2.पोप रोम छोड़कर फ्रांस के 'एविग्नोन' जाने से वह अत्यंत कमजोर हो गया। वह पूर्णतः फ्रांस के शासक के ऊपर निर्भर हो उसके हाथ की कठपुतली बन गया। इसी समय इटली एवं फ्रांस में टकराव इतना बढ़ गया कि फ्रांस के सहयोग से चुना गया पोप क्लीमेंट सप्तम एविग्नोन के पोप के रूप में इटली की प्रेरणा से चुना गया पोप अर्वन षष्ठ रोम के पोप के रूप में एक ही समय शासन करने लगे। यह अद्भुत घटना 40 वर्ष तक चली जब एक साथ दो पोप कार्य कर रहे थे और दोनों के कारण चर्च की गरिमा, प्रभाव घट रहा था।

इस सम्पूर्ण घटना का गहरा प्रभाव पड़ा। दोनों समूहों के समर्थन में व्यापक साहित्य सामग्री का सृजन हुआ। पोप के समर्थक 'पेपलिस्ट' अथवा पोपवादी कहलाये तथा सम्राट के समर्थक 'सेक्यूलररिस्ट' अथवा लौकिक सत्तावादी के नाम से जाने गये। पेपलिस्टों के समर्थन में सेंट बर्नाड, सेल्सबरी आफ जान, एक्वीनास आदि थे। वहीं सेक्यूलररिस्ट के समर्थन में मार्सीलियो, ओकमवासी विलियम, दांते , आदि थे। ये दोनों समूह के सदस्य अपनी सत्ता को मजबूत करने के पक्ष में निम्न तर्क देते थे-

7.5 धार्मिक सत्ता के पक्ष में तर्क

पोप की सत्ता की सर्वोच्चता को सिद्ध करने के लिये उस समय निम्न तर्क दिये जाते हैः-

1.शरीर से आत्मा श्रेष्ठ हैः- इसके द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि शरीर तो केवल सांसारिक आनन्द के लिये है परन्तु वास्तविक आनन्द तो आत्मा से है। अतः आत्मिक शान्ति की खोज पोप के बिना संभव नहीं है। पोप सिधुवेस्टर के शब्दों में - ''पादरियों तुम्हारी टोपियों के मुकाबले राजा के मुकुट का स्थान वहीं है जो स्वर्ग की तुलना में शीशे का है।''

2.धर्म शास्त्र के विभिन्न उदाहरणः- इनके समर्थकों ने ईसाई धर्मशास्त्रों, संतों के कथन के आधार पर चर्च की श्रेष्ठता सिद्ध की है। मैथ्यू और ईसा के शब्दों में - ''तुम पृथ्वी पर जिसे बंधन मुक्त करोगे वह स्वर्ग में भी बंधन मुक्त होगा।'' इससे यह सिद्ध किया गया कि राजा की सत्ता पृथ्वी तक है परन्तु पोप सत्ता स्वर्ग तक है। पीटरी सिद्धान्त भी इसमें महत्वपूर्ण है जिसमें कहा गया है कि ईसा ने पीटर को स्वर्ग की चाबी का स्वामी बनाया है।

3.दो तलवारों का सिद्धान्तः- इस सिद्धान्त में यह स्वीकार किया गया है कि ईश्वर ने दो सत्ताओं के प्रतीक दोनों तलवार पीटर को दी है। पीटर से यह पोप को प्राप्त हुई है। पोप ने धार्मिक तलवार अपने पास तथा लौकिक मामलों की तलवार राजा को सौंप दी है। अतः राजा को सत्ता का प्रयोग पोप के अनुसार ही करना चाहिए। पोप का स्थान राजा से ऊँचा है क्योंकि वह सत्ता का मूल स्रोत है।

4.ऐतिहासिक घटनाओं का हवालाः- ऐतिहासिक दृष्टि से भी पोप की शक्ति को ऊँचा रखने का प्रयास किया गया है। इसका पहला उदाहरण संत अंब्रोज का मिलता है जिसने राजा की सार्वजनिक आलोचना कर राजा को क्षमा याचना के लिये विवश कर दिया था। इसके अलावा फ्रांस के शासक शिल्परिक को अपनी क्षमता से गद्दी से हटाकर 'पेपिन' को राजा घोषित कर दिया। तीसरा उदाहरण 'कास्सरेण्टाइन' के दानपत्र के रूप में दिखता है। जिसमें अपनी लौकिक सत्ता को ही दान कर दिया गया था। चौथी घटना में पोप के द्वारा शार्लमेन को पवित्र रोमन सम्राट के रूप में राज्याभिषेक करना माना जाता है। इससे चर्च का गौरव बढ़ा है।

7.6 राजसत्ता के सर्वोच्चता के पक्ष में तर्क

समय के साथ लौकिक सत्ता के पक्ष में कुछ तर्क दिये गये जो इस प्रकार हैः-

1.राजाओं के दैवीय अधिकार का समर्थनः- इसके समर्थकों का तर्क था कि धर्म सत्ता की स्थापना ईश्वर के द्वारा की गई है तो राजसत्ता का भी निर्माता भी वहीं है। अतः उसका धारणकर्त्ता भी ईश्वर की इच्छा से है। अतः राजा पोप के प्रति नहीं केवल ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। ईश्वर द्वारा ही राजसत्ता जनकल्याण के लिये उसे सौंपी है। पोप उसे राजसत्ता से वंचित नहीं कर सकता है। ईश्वर दो तरह के कार्य करने के लिये राजा को नियुक्त करता है। कठोर कार्य तथा दयालु कार्य। दोनों स्थिति में राजा के कार्य ईश्वर की प्रेरणा से है। राजा द्वारा किया अत्याचार भी ईश्वरीय विधान है।

2.दोंनो सत्ताओं का एक ही हाथ में केन्द्रीकरण धर्म विरूद्धः- पोप गेलेसियस द्वारा प्रतिपादित 'दो तलवारों' का सिद्धान्त के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि ईश्वर ने संसार का संचालन करने के लिये दो सत्ताओं का निर्माण किया है- लौकिक सत्ता, पारलौकिक सत्ता। इन दोनों का केन्द्र पोप है जो कि धर्म के अनुकूल नहीं है। अतः पोप को केवल धार्मिक मामलों का संचालन करते हुए लौकिक मामलों में दखल नहीं देना चाहिए। राजा पोप से मुक्त है।

3.रोमन कानून के आधार पर श्रेष्ठताः- राजसत्ता के समर्थक अपने तर्कों की पुष्टि में रोमन कानूनों का भी हवाला देते है। वे कहते है कि प्रारम्भ से सत्ता रोमन साम्राज्य के पास थी वही ये यह निर्बाध रूप से चली आ रही है। किसी भी शासक की सत्ता पोप प्रदत्त नहीं है। एक तर्क और दिया कि राजा का पद उसे पूर्वजों से प्राप्त संपति के समान है। अतः उसको पद से हटाना वैसे ही गलत है जैसे किसी की संपति का अपहरण करना। पोप राजा को पद नहीं देता वरन् केवल कुछ संस्कार करता है।

4.चर्च एवं पादरियों का नैतिक पतनः- चर्च के अंदर पादरियों का नैतिक पतन निरन्तर होता जा रहा था। वे संपति संग्रह, यौनाचार में लिप्त पाये जा रहे थे अतः ऐसे में उनके प्रति विश्वास, सम्मान निरन्तर घट रहा था। इसी समय बिल्कुल निम्न स्तर पर नियुक्त धर्माधिकारियों का विश्वास भी हिल रहा था अतः वे राजा की सत्ता की समर्थन दे रहे थे।

5.राजा ईश्वर के प्रति जबावदेह न कि चर्च के प्रतिः- राज्य समर्थक विचारधारा के अनुसार राजा ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है। राजा का ईश्वर के प्रति सीधा संबंध है। राजाओं के द्वारा लैकिक शासनाधिकार की प्राप्ति के मार्ग में चर्च कोई माध्यम नहीं है। अतः वे राजकार्य में बाधक नहीं बन सकते।

6.चर्च आचरण की नियामक शक्ति नहीं हैः- राज्य के समर्थकों का यह मानना है कि राज्य की व्यक्ति के आचरण नियमित कर सकता है। वह राज्य में व्यवस्था देता है। न्याय करता है। न्याय के सभी व्यक्ति, अधिकारी तथा धर्माधिकारी आ जाते है।

7.अविछिन्त राज्य शक्ति का सिद्धान्तः- राज्य के समर्थन में तत्कालीन विधिवेताओं ने अविछिन्न साम्राज्य शक्ति का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इसमें कहा गया कि राजाओं और सम्राटों की प्रभु शक्ति प्राचीन रोमन काल से चली आ रही है। यह पोप की देन नहीं है।

7.7 चर्च एवं राजसत्ता के मध्य विवाद का राजनीतिक चिन्तन पर प्रभाव

चर्च एवं राजसत्ता के बीच विवाद का राजनीतिक चिन्तन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसके प्रभाव निम्न हैः-

1.राजनीतिक चिन्तन धार्मिक प्रभाव से मुक्त हुआः- रोमन साम्राज्य के पतन तथा ईसाई धर्म के उदय के साथ धर्म का प्रभाव प्रत्येक क्षेत्र में स्थापित हो गया। यह किसी भी राजनीतिक व्यवस्था के लिये शुभ संकेत नहीं था। सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन धार्मिक मान्यताओं, अंधविश्वासों पर आधारित हो गया। गैटल के शब्दों में - ''राजनैतिक चिन्तन अनैतिहासिक, अवैज्ञानिक, स्वरूप का हो गया था। इसमें पर्यवेक्षण, अन्वेषण, अनुभव का पूर्ण अभाव हो गया।'' इस काल का सम्पूर्ण चिन्तन पाखण्ड,ढोंग का दास बन कर रह गया। अंध विश्वास के विरूद्ध तर्क करना नास्तिकता का आधार माना गया। पोप एवं धार्मिक अधिकारी सत्ता के मुख्य अधिकारी बन गये। संक्षेप में कहे तो पांचवीं शताब्दी से तेरहवीं शताब्दी तक सम्पूर्ण राजनीतिक सत्ता धार्मिक सत्ता के अधीन हो गई।

2.विश्व बंधुत्व की भावना का प्रसारः- इस धर्म राज्य के संघर्ष के समय राजनीतिक चिन्तन अराजनीतिक बना रहा। इस समय प्रायः कहा जाता था कि ''यह रोम का भूत मध्ययुग को अक्रांत करता रहा है।'' यह भूत था रोम द्वारा प्रतिपादित विश्वबंधुत्व का विस्तार । ईसाई धर्माचार्यो और संतों ने रोमन विश्व बधुंत्व के विचार को अपनाकर ईसाई समाज में एकता एवं भ्रातत्व भावना का विकास किया। सभी के प्रति प्रेम एवं भाईचारे की भावना का प्रचार किया गया।

3.दो तलवारों का सिद्धान्तः- इसमें माना गया कि ईश्वर ने दो तरह की सत्ता का निर्माण किया है। इसमें एक धार्मिक सत्ता तथा दूसरी लौकिक सत्ता। धार्मिक आत्मा की प्रतीक है तथा राजसत्ता शरीर की प्रतीक है। लौकिक सत्ता की तुलना में धार्मिक सत्ता उच्च है क्योंकि धार्मिक सत्ता परलोक तक सीमित है। यह विचार मध्ययुग का केन्द्रीय विचार बना रहा। इस सिद्धान्त के कारण ही मध्ययुग में दो सत्ताओं के बीच संघर्ष हुआ।

इस संघर्ष में प्रारम्भ में चर्च का पलड़ा भारी रहा परन्तु बाद में राजा का पलड़ा भारी हो गया। यह विवाद पूरे मध्ययुग में छाया रहा। यह सदैव संघर्ष का कारण बनता रहा। सी0डी0बर्न्स के शब्दों में - ''चर्च के समर्थकों ने राजा को चर्च के अधीन रखने का प्रयास किया गया तथा सम्राट के समर्थकों ने चर्च को राज्य के अधीन करते हुए राजा को चर्च बना दिया।''

इस प्रकार से स्पष्ट हो जाता है कि चर्च राज्य श्रेष्ठता संघर्ष मध्ययुग के राजनितिक चिन्तन को प्रभावित करने वाला मुख्य तत्व है। इसी का परिणाम था कि चिन्तन धर्म सापेक्ष बन गया। यह पूर्णतः रोम तथा यूनानी चिन्तन के विपरीत था।

परिषदीय आन्दोलनः- पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वाध में चलने वाला आन्दोलन था जो कि सम्पूर्ण यूरोप को प्रभावित कर रहा था। इसकी पृष्ठभूमि का निर्माण परिस आफ जान, मार्सीलियो विलियम द्वारा किया गया। इसमें पोप की सत्ता एवं सामान्य परिषद संबंधी विचारों से प्रेरणा लेकर पेरिस विश्वविद्यालय के कुछ विद्वानों ने इसे दार्शनिक आधार प्रदान किया। इन विद्वानों में पेरिस विश्वविद्यालय के जान गर्सन, इटली के पीटर तथा निकोलस थे। इसमें गर्सन तथा निकोलस ने न केवल दार्शनिक आधार प्रदान किया वरन् व्यवहारिक नेतृत्व भी प्रदान किया।

7.8 परिषदीय आन्दोलन के उदय के प्रमुख कारण

1.चर्च में महान फूटः- परिषदीय आन्दोलन का मुख्य कारण चर्च में उत्पन्न महान फूट थी। यह 1378 से 1417 ई0 तक चर्च को अभिशप्त करती रही। चर्च की महान फूट के उदय का प्रमुख कारण 1378 में पोप ग्रेगरी एकादश की मृत्यु पर इटली के दबाव के कारण धर्माचार्यों के द्वारा इटली के अर्बन षष्ठ को पोप के रूप में चुना गया। फ्रांस ने इसे स्वीकार नहीं किया। वहां के लोगों ने क्लीमेंट सप्तम को नया पोप चुनवा दिया। यह पहली बार हुआ कि एक साथ

दो पोप अस्तित्व में आये। इटली के पोप का निवास रोम था जबकि फ्रांसीसी पोप का निवास फ्रांसीसी नगर 'एविग्नोन' में था। दोनों अपने को वास्तविक श्रेष्ठ एवं सर्वगुण सम्पन्न बताते तथा दूसरे का विरोध करते थे। इन्होनें अलग-अलग धार्मिक ढ़ाचा तैयार करते हुए धार्मिक अधिकारियों को नियुक्त किया। यह गंभीर घटना थी और इसका दूरगामी प्रभाव हुआ। सम्पूर्ण ईसाई समाज दो भागों में विभाजित हो गया। स्काटलैण्ड, सेवाम, स्पेन, और पुर्तगाल आदि 'एविग्नोन' के पोप का समर्थन कर रहे थे वहीं जर्मनी, फ्रांस , ब्रिटेन ,हंगरी, पोलैण्ड आदि देश रोम का समर्थन करने लगे।

इस तनावपूर्ण माहौल से मुक्ति दिलाने के लिये तथा एकता स्थापित करने के लिये कुछ धर्माचार्यो ने 'पीजा' नामक नगर में एक परिषद का आयोजन किया। यहां पर दोनों पोप को हटाकर एलक्जेडर पंचम को पोप चुन लिया। अब दो के स्थान पर तीन पोप हो गये। अब इस विवाद को हल करने के लिए सामान्य परिषद के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाने लगा।

पोप शाही का नैतिक पतनः- परिषदीय आन्दोलन के उदय का दूसरा कारण पोप तथा दूसरों धर्माचार्यो का नैतिक पतन था। पोप का मुख्यायल धनलोलुपता, यौनाचार का केन्द्र बन गया था। तत्कालीन स्थिति का वर्णन करते हुए पेट्रार्क ने लिख है- ''यह भूतल का नरक बुराइयों का आगाज तथा संसार का गंदा नाला है। इसमें ने तो श्रद्धा न दान का भाव, न धर्म और न ईश्वर का भय है। संसार की सारी गन्दगी और दुष्टता यहां एकत्रित है। अविवाहिता माता-बहन आदि का निकटवर्ती निषिद्ध व्यक्तियों के साथ सम्भोग, बलात्कार, परस्त्री गमन, पोप के दरबार के क्रीड़ओं के कामुक आनन्द है।''

बाइक्लिफ और जान हस ने चर्च में फैले अनाचार के संबंध में ईसाई जगत का ध्यान आकर्षित किया था और सुधार की मांग की।

पोप की निरंकुशता का प्रभावः- पोप के हाथ में धार्मिक, राजनैतिक शक्ति आ जाने से वह बेहद निरंकुश हो गया था। उसने जन्म से मृत्यु तक के सभी मामलों में दखल देना प्रारम्भ कर दिया। उसके आर्शीवाद के बिना निजी जीवन के संस्कार भी नहीं हो पा रहे थे। जीवन ही नहीं मृत्यु के बाद मोक्ष की प्राप्ति भी उसके बिना अधूरी थी। वह अपनी अत्याधिक शक्ति के कारण निरन्तर भ्रष्ट होता जा रहा था। उसके पास विभिन्न करों तथा दान से अथाह संपति एकत्रित हो गई थी। उसके पास अपनी सेना थी। अपनी मजबूत स्थिति के कारण वह कई बार राजनीतिक मामलों में दखल देता था। उसने यह घोषित कर दिया था कि बिना उसके आर्शीवाद के कोई भी राजा नहीं हो सकता। वह राजा की अयोग्यता के आधार पर पदच्युत कर देता था और वह आम जनों को विद्रोह करने के लिए प्रेरित प्रोत्साहित करता था।

इसके अलावा न्याय क्षेत्र में भी उसका निरन्तर हस्तक्षेप रहता था। कई भागों को धार्मिक न्यायालय में लाकर वह मनमाना निर्णय करता था। यह एक प्रकार की निरंकुशता थी जिससे लोग मुक्त होना चाहते थे।

राष्ट्रवाद का विकास तथा ईसाई समाज के विघटन का भय

सभी ईसाई एक समान के सदस्य थे तथा वे एक ही धार्मिक सत्ता से नियन्त्रित थे। 14 वीं 15 वीं शताब्दी की घटनाओं के कारण यह विचार प्रभावित हो गया। 1350 में यूरोप में फैली महामारी काली मृत्यु ;ठसंबा कमंजीद्ध ने धर्म के दावे के खोखलेपन को दर्शा दिया। धर्म द्वारास इस महामारी से रक्षा न कर पाने के कारण धर्म के प्रति लोगों का विश्वास घट गया। पुर्नजागरण से उत्पन्न नई अभिरूचियों तथा यूनानी और रोमन दर्शन के पुनरोत्थान ने भी धर्म के प्रति सन्देह को बढ़ा दिया।

इसी समय चर्च की समस्यायें निरन्तर बढ़ती जा रही थी। भाषा, जाति, प्रदेश के आधार पर अनेक राष्ट्रीयता की भावना विकसित होने लगी। राष्ट्र राज्य क उदय होने लगा। इससे सार्वभौग एकता को बनाये रखना तथा सार्वभौग ईसाई समाज की रक्षा करने तथा उसकी सार्वभौम एकता को बनाये रखने हेतु धर्म सुधार के आंतरिक आंदोलन के रूप में परिषदीय आन्दोलन प्रारम्भ हुआ।

चर्च के प्रतिनिधिआत्मक बनाने का प्रयासः- इसी समय शासन के सुचारू संचालन के लिये प्रतिनिधिआत्मक शासन की धारणा का विकास हुआ। इसी समय राष्ट्रीय जनतांत्रिक संस्थाओं का उदय हुआ। ब्रिटेन में 'पार्लियामेंट' तथा फ्रांस में 'स्ट्रेटस जनरल' ने तत्कालीन समय में आर्थिक एवं सैनिक व्यवस्थाओं को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भाग लिये। इससे प्रेरित होकर चर्च में सुधार के लिये प्रतिनिधिआत्मक संस्था के रूप में सामान्य परिषद की स्थापना पर बल मार्सीलियो, बिलियम जैसे विद्वानों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से दिया। सामान्य परिषद के इस विचार ने परिषदीय आन्दोलन को प्रारम्भ करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

7.8.1 परिषदीय आंदोलन के उद्देश्य

परिषदीय आन्दोलन के उदय में तत्कालीन परिस्थितियों तो जिम्मेदार थी।इनका मुख्य उद्देश्य चर्च में सुधार करते हुए इसका खोया गौरव लौटाना था। वे मुख्य रूप से फूट को समाप्त करना, भ्रष्टाचार को रोकना, पोप की निरंकुशता पर रोक लगाना, धार्मिक व्यवस्था में नैतिक पतन को रोककर एक लोकतांत्रित समतामूलक व्यवस्था को स्थापित करना था। इसके प्रमुख उद्देश्य निम्न हैः-

1.चर्च में उत्पन्न फूट को समाप्त कर एकता को स्थापित करना।

2.चर्च में व्यापत भ्रष्टाचार का उन्मूलन करके उसे पुनः शुद्ध करना।

3.पोप की निरंकुशता पर रोक लगाकर इसका लोकतांत्रिककरण करना।

4.इसके संचालन के लिये एक सामान्य परिषद की स्थापना करना।

5.चर्च के पूर्व गौरव एवं सम्मान को बहाल करना।

6.धर्मावलंबियों के नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास को सुनिश्चत करना।

7.8.2 परिषदीय आन्दोलन के प्रमुख सिद्धान्त

परिषदीय आंदोलन के प्रमुख सिद्धान्त निम्न थेः-

1.चर्च की सर्वोच्च सत्ता पोप में नहीं वरन् सामान्य परिषद में निहित है। अतः चर्च का संचालन इस प्रकार किया जाय कि वास्तविक शक्तियों का प्रयोग सामान्य परिषद करे।

2.पोप चर्च का प्रबन्धक है। वह कानून निर्माण का प्राधिकारी नहीं है। यह अधिकार केवल सामान्य परिषद को प्राप्त है। पोप सामान्य परिषद के कानूनों से नियन्त्रित है।

3.सामान्य परिषद चर्च की प्रतिनिधि सभा है। वह सर्वोच्च है तथा पोप उसके अधीन है।

4.पोप पृथ्वी पर ईसा का या पीटर का नही वरन् चर्च का प्रतिनिधि हे। पोप के न होने पर मानव कल्याण संभव है।

5.पोप के आदेश सदैव मानने योग्य नहीं है। ये तभी माने जाने चाहिए जब वे जनता के हित में हो। वहीं आदेश माने जाने चाहिए जो जनहित में हो तथा सामान्य परिषद द्वारा अनुमोदित हो।

6.चर्च स्वयं में एक पूर्ण प्रभुतासम्पन्न समाज है जिसके पास अपने को शुद्ध करने की क्षमता है। वह अयोग्य, चरित्रहीन, पोप को पद से हटा सकती है।

7.पोप मनुष्य होने के कारण भूल कर सकता है। वह पापी भी हो सकता है।

8.धार्मिक विषयों पर अंतिम निर्णय का अधिकार पोप का नहीं वरन् सामान्य परिषद का है।

9.पोप प्राकृतिक कानूनों की अनदेखी नहीं कर सकता है। प्राकृतिक कानून सदैव मानवीय कानूनों से श्रेष्ठ है। प्राकृतिक कानून ही उसकी सत्ता का आधार है।

10.चर्च के पास उतनी ही संपति होनी चाहिए जितनी चर्च के संचालन के लिये आवश्यक है। इसके अतिरिक्त संपति लोककल्याणकारी कार्यों में उपयोग की जानी चाहिए।

उपरोक्त सिद्धान्तों से स्पष्ट हो जाता है कि परिषदीय आन्दोलन चर्च के अंदन उत्पन्न खामियों, भ्रष्टाचार, निरकुंशता को रोकने का प्रयास था। यह पोप की शक्तियों को नियन्त्रित करने तथा चर्च के लोकतान्त्रिककरण का सार्थक प्रयास था।

7.8.3 कुछ प्रमुख परिषदें

परिषदीय आन्दोलन को प्रभावपूर्ण बनाने और उसके उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये आन्दोलनकारियों द्वारा समय-समय पर विभिन्न परिषदों का आयोजन किया गया। इन परिषदों में कान्सटेंस की परिषद तथा बेसेल की परिषद अधिक महत्वपूर्ण थी।

1 .कान्सटेंस की परिषद ; (1414.1418)- चर्च में उत्पन्न महान फूट को समाप्त करने के लिये सुधार के लिये पोप जान तेईसवें की सलाह पर इस परिषद का आयोजन सिगिसमाण्ड द्वारा जर्मनी के ब्राडेन प्रांत के 'कान्सटेंट झील' के पास किया गया। इसमें 5000 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस परिषद में कुल 48 अधिवेशन हुए। अपने पाँचवे अधिवेशन में विश्व प्रसिद्ध घोषणा की गई। इसमें कहा गया -''यह परिषद कैथोलिक चर्च की महासभा है इसे अपनी शक्ति ईसा से प्राप्त हुई है। कोई भी व्यक्ति जिसका पद कोई भी हो पोप तक, संध भेद के निवारण, चर्च के सुधार के संबंध में उसके आदेशों को मानने के लिये बाध्य है।'' यह महत्वपूर्ण घोषणा थी। इस परिषद ने सर्वप्रथम अपने को पोप से ऊपर घोषित कर दिया। चर्च की प्रमुख शक्ति पोप में नहीं वरन् जनता में निहित है। पोप उन शक्तियों का प्रयोग करने वाला प्रतिनिधि मात्र है, वह स्वामी नहीं है। यहां पर प्रत्येक दस वर्ष बाद परिषद बुलाने पर सहमति बनी। चर्च की महान फूट को समाप्त करने के लिये इस परिषद ने तीनों पोपों को पद से हटा दिया और नये पोप 'मार्टिन पंचम' को नियुक्त किया। इस प्रकार महान फूट का अंत हो गया।

यद्यपि यह परिषद फूट समाप्त करने में सफल रही परन्तु चर्च में भ्रष्टाचार को समाप्त करने में सफल नहीं रही। इसमें मार्टिन पंचम की महत्वपूर्ण भूमिका थी। इसके दूरगामी परिणाम हुए। इस संबंध में फिगिस ने कहा -''इस परिषद ने पहली बार विशुद्ध राजनीति के संघर्षो को बड़े पैमाने पर प्रदर्शित किया। इस परिषद द्वारा प्रतिपादित वैधानिक शासन के विचार यूरोप द्वारा स्वीकृत किये गये। इसके द्वारा राजनीति में ऐसी विधि का प्रतिपादन किया गया जिसने राजाओं के अधिकारों की रक्षा करते हुए जनता को उनकी स्वतन्त्रता प्राप्त करा दी। इसने भावी पीढ़ियों को लिये वैधानिक सुधारों का मार्ग प्रशस्त किया।''

2.बेसेल की परिषद ;(1431.1449):-

इससे पहले की कान्सटेन्स की परिषद ''चर्च की महान फूट'' को समाप्त करने में सफल रही थी। परन्तु उस परिषद में चर्च की आंतरिक समस्याओं , भ्रष्टाचार, नैतिक पतन आदि का समाधान नहीं हो पाया था। इन कमियों को दूर करने के लिये 1431 में स्विटजरलैण्ड के बेसेल शहर में परिषद का आयोजन किया गया। इसमें पोप के निर्वाचन को इस प्रकार करने की कोशिश की गई। जिससे परिषदीय निर्णय का सम्मान हो सके। इसमें चर्च को प्राप्त आय को पोप के स्थान पर परिषदीय कोष पर जमा करवाने पर बल दिया गया। इस परिषद ने राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा एवं गुटबाजी हावी हो गई। कतिपय यहीं कारण था कि अपेक्षित परिणाम प्राप्त नहीं हो सके। सेवाइन के शब्दों में -''वह परिषद जो स्वयं प्रत्येक प्रकार के राष्ट्रीय द्वेष का शिकार हो धर्माधिकारियों के जर्बदस्त निहित स्वार्थों पर सफलतापूर्वक आक्रमण नहीं कर सकती थी।''

7.8.4 परिषदीय आंदोलन के असफलता के कारण

परिषदीय आंदोलन लगभग 100 वर्षो से अधिक समय तक चला। इसमें कई विषयों पर सर्वसम्मति बनी तथा अनेक ज्वलंत बिन्दुओं पर चर्चा हुई। यह ऐसा आंदोलन था जिसमें चर्च में सुधार, लोकतान्त्रिकरण तथा ईसाई समाज की एक जुटता के लिये व्यापक प्रसास किये गये। इन सबके बावजूद फूट को समाप्त करने के अतिरिक्त किसी अन्य क्षेत्र में विशेष सफलता नहीं मिली। चर्च में कोई विशेष सुधार नहीं दिखायी पड़ा। दूसरे शब्दों में कहे तो संपूर्ण परिषदीय आंदोलन असफल हो गया था। इस आंदोलन की असफलता के प्रमुख कारण निम्न हैः-

1.मुख्य समस्याओं के संबंध में चिन्तन की अस्पष्टताः- परिषदीय आन्दोलन ने महान फूट को समाप्त करने में ऐतिहासिक एकजुटता दिखायी। इसके अतिरिक्त अन्य मुद्दों पर उनमें एकजुटता नहीं थी। अन्य मुद्दों पर आम सहमति का अभाव था। परिषद के पास उनका सर्वसम्मत हल भी नहीं था। अतः अन्य मुद्दों पर आम सहमति के अभाव में हल नहीं हो पाया। परिषद के सदस्य 'महान फूट' को समाप्त कर संतुष्ट हो गये। यह इसके अप्रभावी हो जाने का प्रमुख कारण बना।

2.जन सहयोग का अभावः- परिषदीय आंदोलन का यह प्रमुख लक्ष्य था कि इससे पोप की निरकुंशता को कम करना। यह तभी संभव हो सकता था जब इसमें जन सहभागिता का अभाव हो। परिषदीय आंदोलन में जन नेतृत्व का अभाव थ। नेतृत्व विभिन्न विश्वविद्यालय में अध्यापन कर रहा बुद्धिजीवी वर्ग था। इनकी सहभागिता जनता के बीच कम थी। यही कारण था कि इसमें जनता की सहभागिता नहीं हो पाई और आंदोलन मजबूत नहीं हो पाया और अंततः असफल हो गया।

3.सही समय का न होनाः- आंदोलनकारी पोप की निरंकुशता को कम करने के लिए प्रयास कर रहे थे लेकिन जनमत उनके साथ नहीं था। सेवाइन के शब्दों में -''ईसाई समाज की सामान्य भावना चर्च की एकता की पुर्नस्थापना की आवश्यकता पर एकमत थी परन्तु वह इस बात पर दृढ़ प्रतिज्ञ नहीं थी कि पोप की सर्वोच्चता को समाप्त करके समूचे चर्च के शासन के सिद्धान्त में परिवर्तन कर दिया जाय।''

4.योग्य नेतृत्व का अभावः- परिषदीय आन्दोलन में योग्य नेताओं का अभाव था। पोपशाही के समर्थक नेताओं के सामने सक्षम, योग्य, नेतृत्व का अभाव था। कतिपय यही कारण था कि आन्दोलन ऊँचाइयों पर न पहुँच बिखर गया।

5.अव्यवहारिक आन्दोलनः- यह परिषदीय आन्दोलन का मुख्य दोष था। इसमें यह विचार रखा गया कि एक ही संविधान के द्वारा सम्पूर्ण यूरोप के चर्चों का संचालन किया जाए। यह कपोल कल्पना थी क्योंकि बिना यूरोपिय देशों की सहमति के यह संभव नहीं था। यह वह समय था जब राष्ट्रीयता की भावना प्रबल थी तथा राष्ट्र राज्यों का

उदय हो रहा था। अतः ऐसे माहौल में एक संविधान से सम्पूर्ण यूरोप का संचालन कपोल कल्पना थी। राष्ट्रीयता की भावना अन्तर्राष्ट्रीय चर्च के मार्ग में बाधा थी। अतः राष्ट्रीयता की भावना ने इस आन्दोलन को अव्यवहारिक बना दिया।

6.रूढ़िवादी धारणाः- परिषदीय आन्दोलन से जुडे हुए लोग अपने लक्ष्य तभी प्राप्त कर सकते थे जब वे पोप के पद को ही समाप्त कर देते परन्तु वे इसके पक्ष में नहीं थे। वे पूरी व्यवस्था को बदलना नहीं चाहते थे। वे रूढ़िवादी थे अतः वे पोप के पद को बना कर रखना चाहते थे। उनके इस दिशविहीन संकल्प का फायदा पोप एवं व्यवस्था समर्थकों ने उठाया और उन्होनें अपने समर्थकों के माध्यम से सम्पूर्ण आन्दोलन को असफल बना दिया।

7.अत्याधिक कानूनों पर बलः- गीर्के के अनुसार परिषदीय आन्दोलन में कानून पर अत्याधिक बल रहा। ये नेता कानून के जानकर थे। वे मूल पहलू को छोड़कर कानूनी पहलू पर अधिक बल देते थे। उनके वाद-विवाद एवं बहस अत्यंत तीखे हो जाते थे। कतिपय यही कारण था कि मूल उद्देश्य ही पीछे छूट गया।

8.पोप की कूटनीतिः- परिषदीय आन्दोलन के जन्म से ही पोप इसे कमजोर बनाने का निरन्तर प्रयास कर रहा था। वह फूट डालो तथा राज करो की नीति पर कार्य कर रहा था। वेसेल की परिषद के बाद परिषद के प्रमुख नेता 'निकोलस' को प्रलोभन दे अपनी ओर मिला लिया। आन्दोलन के कमजोर पड़ते ही इसमें भगदड़ प्रारम्भ हो गई और लोग परिषद को छोड़ पोप के साथ जुड़ने लगे। अनेक शासकों ने पोप के साथ संधि कर ली। उनमें से कुछ को पोप ने नई जागीरें प्रदान की। इस पूरे घटनाक्रम तथा पोप की कूटनीति से आन्दोन ही टूट गया।

9.व्यक्तिगत स्वार्थः- परिषदीय आन्दोलन से जुडे अधिकांश लोगों की इच्छा धर्म सुधार करने की नहीं वरन् पोप के वैभव में हिस्सेदारी की थी। वे पोप से निकटता का मार्ग खोज रहे थे जो इस आन्दोलन से प्राप्त हो गया। वे जो भी प्रस्ताव पास करते थे उसमें धर्माधिकारियों के हितों के लिये रास्ता जरूर छोड़ देते थे। इस प्रकार यह एक 'नूरा कुश्ती' का मंच बन कर रह गया । यह वास्तविकता से दूर नाटक मात्र बन कर रह गया और अपनी विश्वसनीयता खोता चला गया।

7.8.5 आन्दोलन का महत्व एवं प्रभाव

परिषदीय आन्दोलन का प्रारम्भ तत्कालीन परिस्थितियों में चर्च में व्याप्त भ्रष्टाचार, चर्च की फूट के कारण हुआ था। इसका उद्देश्य एवं लक्ष्य अत्यंत पवित्र था परन्तु यह अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर सका। इसके बावजूद इस आन्दोलन ने राजनीतिक चिन्तन में एक नये युग का सूत्रपात किया। यह विश्व का पहला आन्दोलन था जिसने चर्च एवं पोप पर प्रश्न उठाये। इन्होनें पहली बार चर्च के ऊपर नियन्त्रण लगाने तथा पोप की जबावदेही तय करने की मांग की। यह आन्दोलन सम्पूर्ण चर्च की कार्यप्रणाली के लोकतान्त्रिककरण का पक्षधर था। यद्यपि यह आन्दोलन लक्ष्य को न प्राप्त कर सका परन्तु इसका चिन्तन पर दूरगामी प्रभाव हुआ। इसके प्रमुख प्रभावों को निम्न बिन्दुओं द्वारा स्पष्ट किया जा सकता हैः-

1.संविधानवाद पर बलः- यह आन्दोलन निरकुशता के अंधेरे से व्यवस्था के उजाले की ओर ले जाने की बात करता है। यह ऐसा आन्दोलन था जिसने मध्ययुग में 'विधि के शासन' का संकेत दे दिया। इसके प्रभाव को स्पष्ट करते हुए सेवाइन ने लिखा है - ''परिषदीय आन्दोलन का राजनीतिक विचारों मे महत्व इस तथ्य के कारण है कि यह निरंकुशता के विरूद्ध संविधान का प्रथम महान विवाद था और इसने ऐसे विचार प्रस्तुत कर उनका प्रचार किया जिनका उपयोग बाद के संघर्षो में किया गया।''

इस आन्दोलन में सीमित धार्मिक सत्ता का सिद्धान्त बहुत महत्वपूर्ण था। यह विचार आज भी महत्वपूर्ण है। यह कहना अतिश्योक्तिपूर्ण नहीं होगा कि संविधानवाद का विचार परिषदीय आन्दोलन की महत्वपूर्ण देन है।

2.पोप के अत्याचार में कमीः- यह सत्य है कि यह आन्दोलन पोप के अत्याचार, दोहरे मापदण्ड के विरूद्ध था परन्तु यह अपने लक्ष्य को पूर्णतः पाने में असफल रहा। इसके बावजूद इसने पोप का उत्तरदायित्व एवं जबावदेही का प्रश्न उठा दिया। इस पूरे घटनाक्रम का परिणाम यह हुआ कि पोप ने अपने आचरण एवं शक्तियों को सीमित किया। इसी आन्दोलन का ही परिणाम था कि पोप कानून निर्माता की भूमिका से हटकर एक प्रशासक की भूमिका में आ गया।

3.राष्ट्रीयता का भावना का विकासः- परिषदीय आन्दोलन के परिणाम स्वरूप एक सार्वजनिक चर्च के स्थान पर राष्ट्रीय चर्च का उत्थान हुआ। ब्रिटेन, जर्मनी, स्विटजरलैण्ड, हालैण्ड आदि में स्थापित राष्ट्रीय चर्चों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास हुआ।

4.प्राकृतिक कानून एवं अधिकारों के सिद्धान्त को मान्य बनायाः- यह ऐसा आन्दोलन था जिसने प्राकृतिक कानूनों को आधार बनाया और अधिकारों की बात को स्वीकार किया। यह अंधविश्वास के विरूद्ध तर्क पर आधारित आन्दोलन था जिसने नये उजाले को जन्म दिया।

5.लोककल्याणकारी राज्य के विचार का प्रतिपादनः- यह ऐसा आन्दोलन था जिसने स्पष्ट किया कि सत्ता का स्रोत जनता है। अतः इसका प्रयोग जनकल्याण के लिये किया जाना चाहिए। केवल यह शासक हित में नहीं होना चाहिए। इस आन्दोलन ने यह संकेत दिया कि शासन शसितों के हित में जन सहमति से होना चाहिए।

6.धर्म सुधार का प्रारम्भः- यह आन्दोलन अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सका परन्तु इसने धर्म सुधार का सूत्रपात किया। इस आन्दोलन की असफलता के बाद यह विचार मजबूत हुआ कि बाहर से सुधार आन्दोलन चलाकर भी सुधार किया जा सकता है। कतिपय यही कारण था कि इसके बाद मार्टिन लूथर किंग, कैल्विन आदि ने धर्मसुधार आन्दोलन चलाया।

अभ्यास प्रश्न -

1.मध्य युग का संघर्ष किन दो सत्ताओं के मध्य था?

2.रोम के बाद पोप का मुख्यालय कहां बना?

3.सम्राट के समर्थक किस नाम से जाने लगे?

4.पोप के समर्थकों का क्या नाम था?

5.दो प्रमुख परिषदों का नाम बताइयें।

7.9 सारांश

मध्ययुग की यह प्रमुख विशेषता थी। यह ऐसा काल था जब चर्च एवं राज्य सत्ता के बीच टकराव प्रारम्भ हो गया था। मध्ययुग से पूर्व चर्च एवं राजसत्ता समानान्तर रूप से एक सहमति के आधार पर सुचारू रूप से चल रही थी कि लैकिक विषयों का संबंध राजा से है तथा पारलौकिक विषयों का संबंध चर्च एवं पोप से है। अतः दोनों परस्पर एक दूसरे का सम्मान करते हुए दूसरे के कार्यक्षेत्र में दखल नहीं देते थे। बारहवीं शताब्दी आते-आते आपस में

अविश्वास तनाव तथा श्रेष्ठता का संघर्ष प्रारम्भ हो गया। मोटे तौर पर यह संघर्ष दो भागों में बांटा जा सकता है। पहले भाग में 11 वीं एवं 12वीं शताब्दी का काल है जहां पर चर्च की सर्वोच्चता है। दूसरे काल में 13वीं और 14वीं शताब्दी का काल है जिसमें राजसत्ता की सर्वोच्चता स्थापित है।

13वीं, 14वीं शताब्दी में राजसत्ता मजबूती से उभरी और पोप के प्रभाव, शक्ति का ह्रास हुआ। इसका मुख्य कारण चर्च में व्याप्त भ्रष्टाचार, पोप एवं धर्माधिकारियों का नैतिक पतन था। इसी समय चर्च की महान फूट भी चर्च की शक्ति के पतन का कारण बना। इस विवाद से चिन्तन पर गहरा प्रभाव पड़ा। राजनीतिक चिन्तन धार्मिक प्रभाव से मुक्त हुआ। इससे बंधुत्व की भावना का भी विकास हुआ।

पन्द्रहवीं शताब्दी में इस संघर्ष के परिणाम स्वरूप उपजी निराशा, हताशा और चर्च एवं धर्म में सुधार के लिये परिषदीय आन्दोलन का जन्म हुआ। इस आन्दोलन का मुख्य कारण चर्च की महान फूट, पोप का नैतिक पतन, पोप की निरंकुशता, ईसाई गौरव की बहाली तथा चर्च को प्रतिनिधियात्मक बनाने के लिये हुआ। इस आन्दोलन के मुख्य सिद्धान्त पोप के स्थान पर परिषद को सौंपने, पोप का कानून का निर्माता नहीं वरन् कानून के अधीन है, पोप परिषद के अधीन है तथा पोप के आदेशों का उल्लंघन जन कल्याण विरोधी होने पर किया जा सकता है।

परिषदीय आन्दोलन कुछ समय बाद टूट का शिकार हो गया और अपने लक्ष्यों को प्राप्त न कर सका। इसकी असफलता का प्रमुख कारण चिन्तन की अस्पष्टता, जनसहयोग का अभाव, योग्य नेतृत्व का अभाव, रूढ़िवादी धारणा का होना, आध्यात्मिक कानूनों पर बल तथा पोप की कूटनीति थी। इसके बावजूद इस आन्दोलन का चिन्तन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इस आन्दोलन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन संविधानवाद था। इसके अलावा इस आन्दोलन से पोप के अत्याचार में कमी, राष्ट्रीयता की भावना का विकास, प्राकृतिक कानून तथा अधिकारों पर बल, लोककल्याणकारी राज्य का उदय तथा धर्म सुधार का सूत्रपात हुआ। इस आन्दोलन ने सम्पूर्ण चिन्तन तथा मानव जाति को स्वतन्त्रता, समानता, भाईचारे तथा विधि के शासन से युक्त नये युग में प्रवेश कराया।

7.10 शब्दावली

पेपलिस्ट- पोप के समर्थक 'पेपलिस्ट' कहलाये।

सेक्यूलररिस्ट- जो राजा के समर्थक थे वे 'सेक्यूलररिस्ट' कहलाये।

महान फूट- एक साथ दो पोप का उदय तथा दो मुख्यालय का होना ही महान फूट कहलाता है।

एग्विनोन:- यह पोप द्वारा फ्रांस में स्थापित किया गया मुख्यालय था।

बेवीलोनियन कैदः- फ्रांस के एविग्नोन में स्थापित मुख्यालय में पोप फ्रांस के दबाव में था। अतः उसके वहां के प्रवास को बेवीलोन कैद कहा जाता है।

दो तलवारों का सिद्धान्तः- यह वह सिद्धान्त है जो बताता है कि प्रभु ने राजसत्ता एवं धार्मिक सत्ता रूपी दो तलवार पीटर को सौंपी है। पीटर ने इसे पोप को दी। पोप ने धार्मिक सत्ता तो अपने पक्ष रखी पर लौकिक सत्ता राजा को सौंप दी। यह ही दो तलवारों का सिद्धान्त कहा जाता है।

7.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.लौकिक पारलौकिक 2.एविग्नोन 3. सेक्यूलरिस्ट 4.पेपलिस्ट 5.कास्टेंसकी, बेसेल की

7.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.मेहता जीवन -पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन

2.सिंह वीरकेश्वर प्रसाद प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक

3.जैन पुखराज पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन

7.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.सूद जे0पी0 राजनीतिक चिन्तन का इतिहास

7.14 निबंधात्मक प्रश्न

1.चर्च एवं राज्य के मध्य विवाद के प्रमुख कारण क्या थे? इसके परिणामों को स्पष्ट कीजिये।

2.परिषदीय आन्दोलन से क्या समझते है? इसके दूरगामी परिणामों पर प्रकाश डालिये।

3.परिषदीय आन्दोन के क्या कारण थे? यह क्यों असफल हुआ स्पष्ट कीजिये।

4.चर्च एवं राज्य के बीच विवाद का चिन्तन पर गहरा प्रभाव पड़ा, इस पर निबन्ध लिखिये।

ईकाई संरचना 8:आगस्टाइन , मार्सीलियो तथा एक्वीनास के राजनैतिक विचार

इकाई की संरचना

8.1 प्रस्तावना
8.2 उद्देश्य
8.3 आगस्टाइन, मार्सीलियो तथा एक्वीनास के विचार
8.4 आगस्टाइन के राजनैतिक विचार
8.4.1 दो तलवारों का सिद्धान्त
8.4. 2 राज्य संबंधी विचार
8.4.3 सम्पति एवं दासता संबंधी विचार
8.4.4 आगस्टाइन के राजनीतिक चिन्तन का प्रभाव
8.5 मार्सीलियो के राजनीतिक विचार
8.5.1 मार्सीलियो के राज्य संबंधी विचार
8.5.2 शासन संबंधी विचार
8.5.3 कानून संबंधी विचार
8.5.4 चर्च संबंधी विचार
8.5.5 मूल्यांकन
8.6 थामस एक्वीनास के राजनैतिक विचार
8.6.1 राज्य संबंधी विचार
8.6..2 शासन संबंधी विचार
8.6.3 राज्य के कार्य
8.6..4 राजसत्ता एवं धार्मिक सत्ता में सम्बन्ध
8.6.5 कानून संबंधी विचार
8.6..6 न्याय संबंधी धारणा
8.6.7 दासता संबंधी विचार
8.6.8 मूल्याकंन
8.7 सारांश

8.8 शब्दावली

8.9 अभ्यास के प्रश्नों के उत्तर

8.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

8.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

8.12 निबन्धात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

मध्य युग को राजनीतिक चिन्तन का 'अंधकार युग' कहा जाता है। यह ऐसा समय था जब चर्च एवं राज्य के बीच संघर्ष चल रहा था। घोर अनिश्चितता, अस्थिरता का दौर था। जन सामान्य दो चक्कियों के बीच पिस रहा था। इसी समय आगस्ताइन , मार्सीलियो तथा एक्वीनास जैसे विचारकों ने अंधेरे में नई रोशनी का संचार किया। इन्होंने राजनीति के विभिन्न विषयों राज्य की उत्पति, राज्य के कार्य, शासन प्रणाली,दण्ड, कानून तथा चर्च एवं राज्य के संबंध में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया।

इसके पूर्व अनिश्चतता के माहौल में तर्क के ऊपर अंधश्रद्धा प्रभावी हो गई थी। इनके आने के बाद से तर्क पुनः प्रभावी हुआ और धीरे-धीरे अंधेरा छटा। इन तीनों विचारकों ने पोप एवं चर्च को सीमित करने का प्रयास किया। इन तीनों ने दो सत्ताओं को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया। जहां आगस्ताइन एवं एक्वीनास का रवैया चर्च के प्रति नर्म है। वे राज्य को चर्च के अधीन मानते है। परन्तु वहीं मार्सीलियो ने चर्च को राज्य के अधीन सिद्ध कर दिया। ये तीनों विचारक इस दृष्टि से और महत्वपूर्ण हो जाते है कि वे पहले बार चर्च एवं राज्य के बीच संबंधों की न केवल तार्किक व्याख्या करते है वरन वे शासन के अन्य पहलूओं जैसे दण्ड, कानून, राज्य की उत्पति आदि पर महत्वपूर्ण विचार रख एक नये उजाले और नये युग का सूत्रपात करते है।

8.2 उद्देश्य

1 मध्य युग के राजनैतिक व्यवस्था से परिचित कराना।

2. इस अध्याय के द्वारा आगस्टाइन के राजनैतिक विचारों का अध्ययन करना।

3. मार्सीलियो के चर्च एवं राज्य संबंधी महत्वपूर्ण विचारों का अध्ययन करना।

4. एक्वीनास के राजनीतिक विचारों तथा कानून के सिद्धान्त का अध्ययन करना।

8.3 आगस्टाइन, मार्सीलियो तथा एक्वीनास के विचार

इस इकाई में हम आगस्टाइन, मार्सीलियो तथा एक्वीनास के राजनीतिक विचारों का क्रमशः अध्ययन करेंगे |जो इस प्रकार है ------

8.4 आगस्टाइन के राजनैतिक विचार

संत आगस्टाइन का जन्म 354 ई0 में उत्तरी अफ्रीका के नगर ' टेगेस्टे' (Tegaste) में हुआ था। कार्थेज विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त उसने मैनिकियन सम्प्रदाय का सदस्य बना। आत्मसंतुष्टि न होने से उसने इस धर्म को त्याग दिया। इसके उपरान्त इटली के नगर मिलान में अपना निवास बनाया। यहीं पर वह विशप एम्ब्रोज के सम्पर्क में आकर इसाई धर्म स्वीकार किया। उसकी संतुष्टि, विश्वास निरन्तर ईसाई धर्म में मजबूत होता चला गया। 391 ई0 में उसे अफ्रीका के नगर हिप्पो का पादरी नियुक्त किया गया।

आगस्टाइन उस समय ईसाई धर्म से जुड़ा था जब लोगों का विश्वास धर्म में निरन्तर कम होता जा रहा था। चर्च में धर्माधिकारियों में निरन्तर नैतिकता का संकट उत्पन्न होता जा रहा था। यह वह समय था जब चर्च को चुनौती मिलती जा रही थी। आगस्टाइन ने इनको चुनौती के रूप में लेते हुए ईसाई धर्म की रक्षा के लिये प्रसिद्ध ग्रन्थ De-civitate अथवा City of God (ईश्वरीय नगर) की रचना की। यह 22 भागों में विभाजित ग्रन्थ था जिसमें पहले 10 भागों में आलोचकों को जबाब दिया गया है। अगले चार अध्यायों में लौकिक और ईश्वरीय नगर की उत्पति पर प्रकाश डाला गया है। इसके आगे उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक विचारों का उल्लेख किया है। उसने अपने ग्रन्थ में यह सिद्ध किया कि रोम का पतन ईसाई धर्म के कारण नहीं वरन मूर्तिपूजक समाज के नैतिक पतन के कारण हुआ है। ईसाईयत ने तो इसके पतन को कम कर दिया। उसका यह भी तर्क था कि रोम की पराजय में ईश्वरीय प्रेरणा भी जिम्मेदार है। यह सत्ता रोम के स्थान पर 'ईश्वरीय नगर' की स्थापना चाहती है। उसके द्वारा दिये गये प्रमुख सिद्धान्त तथा विचार निम्न है-

8.4.1 दो तलवारों का सिद्धान्त

आगस्टाइन का यह मत था कि प्रत्येक व्यक्ति दो नगरों का सदस्य होता है। पहले वह सांसारिक नगर (city of earth) का सदस्य है तथा बाद में वह ईश्वरीय नगर (city of god) का सदस्य है। ये दोनों मानव शरीर के दो रूपों से सम्बन्धित है। सांसारिक नगर का संबंध मानव शरीर अथवा भोग से है तथा ईश्वरीय नगर उसकी आत्मा है। मनुष्य की आत्यात्मिक और नैतिक उत्थान ईश्वरीय नगर की सदस्यता से ही है। यह ईश्वर द्वारा संचालित है। वह कहता है कि ईश्वर नगर की सदस्यता ईश्वर की प्रेरणा से ही है। ईश्वर की प्रेरणा तथा आशीर्वाद चर्च की सदस्यता से ही है। आगस्टाइन का ईश्वरीय नगर की कल्पना ईसाई चर्च राज्य की कल्पना के रूप में की है। उसने ईश्वरीय नगर की सदस्यता चर्च की सदस्यता से अधिक व्यापक है। इसमें चर्च से जुडे हुए व्यक्ति ही सम्मिलित होते है। आगस्टाइन की यह मान्यता थी कि चर्च ईश्वरीय नगर का अंश मात्र ही है। आगस्टाइन ने चर्च एवं राज्य के बीच घनिष्ठ संबंध बताया है। फोस्टर के शब्दों में-'' यह ईश्वरीय नगर का वह भाग है जिसमें वह सभी सदस्य सम्मिलित है जो अभी अपनी विश्वयात्रा ही कर रहे है और वे सब जो ईश्वरीय राज्य के सदस्य है , इससे गुजर चुके है।''आगस्टाइन की यह मान्यता थी कि चर्च से ही गुजर कर ही ईश्वरीय नगर की सदस्यता ग्रहण की जा सकती है।

सेवाइन के शब्दों में-''संत आगस्टाइन के अनुसार मानव इतिहास सदा से दो समाजों के पारस्परिक संघर्ष द्वारा नियन्त्रित होता रहा है। एक ओर संसार का नगर है जो मनुष्य को अधोमुखी प्रवृति काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह आदि पर आधारित है। दूसरी तरफ ईश्वर का नगर है जो स्वर्गीय शान्ति और आध्यात्मिक मुक्ति की आशा की आशा के ऊपर आधारित है।''

आगस्टाइन की यह मान्यता थी कि चर्च एक संगठित संस्था है। मनुष्य की मुक्ति और ईश्वरीय जीवन से साक्षात्कार तभी संभव है जब हम चर्च को समस्त विश्वासी व्यक्तियों का एक सामाजिक संघ स्वीकार करें। मानव इतिहास में ईश्वर की करूणा चर्च के माध्यम से ही कार्य करती है। यह सिद्धान्त दो प्रकार की जीवन पद्धति का प्रतीक है। ईश्वरीय राज्य ईसाई चर्च व्यवस्था एवं आध्यात्मिक जीवन पद्धति का प्रतीक है जो शाश्वत और अनश्वर है। जबकि सांसारिकराज्य गैर ईसाईयत द्वारा संगठित लौकिक एवं भौतिक है जो नश्वर और क्षणभंगुरी है।

ईश्वरीय जीवन के आवश्यक तत्वः- ईश्वरीय राज्य के प्रमुख तत्व निम्न है-

1.धर्म अथवा न्यायः- वह धर्म तथा न्याय को एक दूसरे का पर्यायवाची मानता था। वह धर्म तथा न्याय को विभिन्न इकाइयों परिवार, राज्य, सम्प्रदाय आदि के बीच व्यवस्था बनाये रखने के उद्देश्य से प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने कर्तव्य पालन का धारणा में निहित है। वह धर्म तथा न्याय को सामाजिक व्यवस्था का प्रतीक मानता था। प्रत्येक व्यक्ति को अपने कार्य राज्य द्वारा निर्मित नियमों के अनुसार करने चाहिए। इसके बावजूद राज्य सर्वोच्च नहीं है। राज्य से भी ऊपर एक संस्था है और वह है सार्वभौम समाज जिसका प्रत्येक मनुष्य सदस्य होता है। सार्वभौम समाज ही सम्पूर्ण आध्यात्मिक उद्देश्यों की पूर्ति करता है। उसके अनुसार न्याय का क्षेत्र देशकाल की सीमाओं से बंधा नहीं है। यह सर्वव्यापक और सर्वकालिक है।

2.शान्ति आगस्टाइन का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व शान्ति है। वास्तविक शान्ति वह अवस्था है जिसमें सम्पूर्ण समाज में सद्भावना,प्रेम, सामजस्य, विद्यमान होता है। इससे व्यक्ति का जीवन पूर्णतः सुखमय और संतोषप्रद हो जाता है। वह दो प्रकार की शन्ति की बात करता है। इसमें मुख्य रूप से सांसारिक शन्ति तथा आध्यात्मिक शन्ति शमिल है। सांसारिक शन्ति केवल इस समाज में रहकर अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से प्राप्त की जा सकती है। जबकि आध्यात्मिक शान्ति भौतिक शान्ति से ऊपर तथा श्रेष्ठ है। इसका मार्ग भौतिक शन्ति से ही निकलता है। यह अपनी वासनाओं पर नियन्त्रण कर ही इसे प्राप्त कर सकता है।

8.4. 2 राज्य संबंधी विचार

आगस्टाइन की यह मान्यता थी कि मनुष्य के उत्थान के लिये , सुरक्षा के लिये ही ईश्वर द्वारा राज्य की स्थापना की गई है। अतः राज्य का निर्माता ईश्वर है। तथा राजा उसका प्रतिनिधि है। प्रत्येक व्यक्ति को राज्य की आज्ञा का पालन करना चाहिए। यदि राजा गलत आदेश देता है तो उसकी अवज्ञा की जानी चाहिए। आगस्टाइन राज्य को मनुष्य की मुक्ति का साधन मानता है। यूनानी और रोमन विचारकों की तरह आगस्टाइन राज्य के महत्व को स्वीकार करते हुये भी उसे न्याय का आधार नहीं मानता है। राज्य ईसाई धर्म को मानने वाला तथा न मानने वाले दोनों हो सकता है। न्याय तथा धर्म ईसाई राज्य में ही उपलब्ध होते है। यह राज्य का गुण न होकर चर्च का गुण है। यही कारण है कि चर्च राज्य से उच्च तथा श्रेष्ठ है। अतः सभी राज्य अधिकारियों को धर्म के अधीन ही कार्य करना चाहिए।

आगस्टाइन के राज्य संबंधी विचारों से यह स्पष्ट होता है कि वह पहले के ईसाई धार्मिक गुणओं की तरह राज्य को आवश्यक बुराई नहीं मानता है। यह मनुष्य के पाप मुक्त जीवन को सुनिश्चित करने तथा अन्य भौतिक साधनों की पूर्ति का साधन मानता है। राज्य को अपरिहार्य मानने के बावजूद वह उसे चर्च के नियन्त्रण में रखने का पक्षधर है।

8.4.3 सम्पति एवं दासता संबंधी विचार

आगस्टाइन अपने पूर्ववर्ती विद्वानों की तरह व्यक्तिगत सम्पति के अधिकार का समर्थन करता है। वह स्पष्ट करता है कि व्यक्तिगत सम्पति के अभाव में मनुष्य लौकिक सुख एवं पारलौकिक सुख से वंचित हो जाता है। वह आगे स्पष्ट करता है कि मनुष्य को उतनी ही संपति रखना चाहिए जितनी इस उददेश्य की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। इससे अधिक संपति रखने वालों को इसका प्रयोग स्वहित में न कर जनहित में करना चाहिए।

अन्य यूनानी विचारकों की तरह आगस्ताइन दास प्रथा को समर्थक था परन्तु वह यूनानी विचारकों की तरह प्राकृतिक नहीं मानता है। वह इसे सीधे धर्म से जोड़ते हुए स्पष्ट करता है कि यह मनुष्य द्वारा किये गये पापपूर्ण कार्य का ईश्वरीय दण्ड है। यह मनुष्यों को दण्डस्वरूप आत्मा का परिष्कार करने के लिये दिया जाता है। यह मनुष्य के पतन, असफलता, गिरावट का परिणाम है। दासता के समय मनुष्यों को अपनी पूर्ण क्षमा के साथ परिश्रम करना चाहिए जिससे उसको मिल रहा दण्ड जल्द ही समाप्त हो सके। यह मनुष्य के पापों का ईश्वरीय उपचार है। प्रत्येक दास को अपने स्वामी की पूरी क्षमता से सेवा करनी चाहिए। फोस्टर के शब्दों में-'' आगस्टाइन का दासता सिद्धान्त असन्तोषजनक और समझ से परे है। क्योंकि यदि उसके विचारों को स्वीकार कर लिया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि प्रथम व्यक्ति (आदम) द्वारा किये गये पाप के कारण सम्पूर्ण मानव समाज को दासवृत्ति करनी चाहिए। वह स्वामी और दास का अंतर कैसे होता है इसको स्पष्ट नहीं कर पाता है।''

8.4.4 आगस्टाइन के राजनीतिक चिन्तन का प्रभाव

आगस्टाइन के विचारों का लम्बे समय तक प्रभाव रहा। उसने राजसत्ता पर धार्मिक सत्ता की श्रेष्ठता स्थापित की। उसने ईसाई धर्म के गौरव एवं महत्व को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। उसने ईश्वरीय नगर का विचार प्रस्तुत कर ईसाई समाज के सामने आदर्श प्रस्तुत किया। चर्च द्वारा ही मानव के कल्याण की बात कर चर्च की श्रेष्ठता को स्थापित किया। उसने रोमन एवं यूनानी विचारकों के बीच समन्वय स्थापित किया। गैटेल के शब्दों में-'' उसने प्लेटो के आदर्श राज्य के दर्शन को, सिसरो के विश्वराज्य के विचार को तथा ईसाईयत के धर्म प्रेरित राज्य के सिद्धान्त को समन्वित कर अपने ईश्वरीय राज्य की स्थापना की।''

आगस्टाइन द्वारा तीनों विचारधारों के बीच किया गया यह समन्वय बाद की पीढ़ियों के लिये प्रेरणा स्त्रोत रहा है। उससे रोमन, कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट विचारक नये तत्वों को प्राप्त करते रहे। उसका 'ईश्वरीय नगर' का विचार लम्बे समय तक ईसाई समाज का आदर्श बना रहा। ब्राइस के शब्दों में -'' पवित्र रोमन साम्राज्य का निर्माण 'ईश्वरीय नगर' की नींव पर हुआ है।'' मैक्सी के शब्दों में -'' मध्ययुगीन यूरोप की राजनीतिक विचारधारा पर किसी अन्य व्यक्ति ने इतना प्रभाव नहीं डाला जितनी चौथी शताब्दी के अफ्रीका के इस महान संत ने डाला था।''

8.5 मार्सीलियो के राजनीतिक विचार

मध्य युग का सम्पूर्ण चिन्तन लौकिक एवं पारलौकिक सत्ता के मध्य संघर्ष का है। यह दोनों सत्ताओं के बीच सर्वोच्चता का संघर्ष था। चौदहवीं शताब्दी आते-आते लौकिक सत्ता अथवा राजसत्ता का पलड़ा भारी होता चला गया। फ्रांस के राजा फिलिप चर्तुथ ने अपनी सत्ता को अत्याधिक मजबूत किया और पोप के प्रभाव एवं आदेश को खारिज किया। इसी समय मार्सीलियो जैसे विचारकों ने राजतंत्र की सर्वोच्चता को और अधिक मजबूती प्रदान की।

मार्सीलियो का जन्म इटली के पाडुआ नगर में 1210 ई0 को हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद उन्होंने चिकित्सा शास्त्र में डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। उसे आर्क विशप का पद भी दिया गया जिसे उसने अस्वीकार कर दिया। अपने जीवनकाल में उसने वकील, सैनिक, राजनीतिक आदि की भूमिका का निर्वहन किया। उसने एविग्नोन स्थित पोप मुख्यालय की यात्रा कर चर्च का नंगा सच, वहां का भ्रष्टाचार देखा। यहीं से उसकी राजतंत्र के पक्ष में विचार मजबूत हुआ। उसके विचार पूर्णतः मौलिक तथा कुछ हद तक क्रान्तिकारी थे। उसके संबंध में प्रोफेसर मूरे ने कहा है-'' मासीलियो चौदहवीं शताब्दी का सबसे मौलिक विचारक था जिसने न केवल अपने समय के वरन उसके बाद आने वाले यूरोप को देखा था।''उसने अपने विचार अपनी रचना '' डिफेन्सर पेसिस'' नामक पुस्तक में रखे । पोप ने इस पुस्तक को चर्च विरोधी मानते हुए इस पर प्रतिबंध लगा कर मार्सीलियो को बहिष्कृत कर दिया। अपनी रक्षा के लिये मार्सीलियो ने जर्मनी में बेवेरिया के शासक लुइस के यहाँ शरण ली। यही पर उसने डिफेन्सर पेसिस का संक्षिप्तीकरण करते हुए डिफेन्सर माइनर की रचना की। यही पर 1342 ई0 में उसका देहावसान हो गया। मार्सीलियो के ऊपर तत्कालीन परिस्थितियों का गहरा प्रभाव था। इटली के बिखराव से वह दुखी था। वह इटली के पतन के लिये वह पोप को जिम्मेदार मानता था। कतिपय यही कारण था कि वह इटली पर से पोप के प्रभाव को कम करने के लिये वह अपनी रचनाओं को प्रकाशित करता है। यह यही नहीं रूकता वरन चर्च को राज्य के अधीन करने की वकालत करता है। उसके यह विचार अत्यंत क्रान्तिकारी थे तथा अन्य मध्ययुगीन विचारकों से बहुत आगे थे। दो सौ वर्षो जर्मनी के विचारक एरेस्टस के विचारों मे भी इसकी झलक मिलती है। कतिपय यही कारण था कि सेवाइन उसे '' प्रथम ऐरेस्टियन'' घोषित किया। इसके अतिरिक्त उसके ऊपर अरस्तू तथा एवरोवाद के प्रकृतिवादी एवं बुद्धिवाद विचारों का भी प्रभाव पड़ा। उसने अपने ऊपर अरस्तू के प्रभाव को स्वीकार करते हुए अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है '' उसके ग्रन्थ को पालिटिक्स के उस भाग का पूरक माना जा सकता है जिसमें अरस्तू ने क्रान्ति एवं नागरिक उपद्रव के कारणों का विवेचन किया है।''

8.5.1 मार्सीलियो के राज्य संबंधी विचार

मासीलियो का राज्य संबंधी विचार यूनानी विचारकों से मिलता जुलता है। वह राज्य को सजीव सत्ता मानता है। वह राज्य की उत्पति परिवार से मानता है। यह मानता है कि कृषक, शिल्पकार, उद्योगपति, सैनिक, पुरोहित आदि किसी समाज के विभिन्न वर्ग है, आपसी सहयोग के आधार पर विविध कार्य करते है। राज्य का स्वास्थ्य सभी अंगों के समुचित एवं व्यवस्थित कार्य करने पर निर्भर है। जिस प्रकार अंगों में असंतुलन स्वास्थ्य का लक्षण नहीं है उसी प्रकार राज्य में भी संतुलन सांमजस्य होना आवश्यक है। मार्सिलियो राज्य के उद्देश्य संबंधी विचार भी अरस्तू से मिलते है। अरस्तू की तरह वह मानता है राज्य को सुरक्षा ही नहीं वरन श्रेष्ठ जीवन की दिशा में अग्रसर होना चाहिए। अरस्तू के श्रेष्ठ जीवन एवं मार्सीलियो के श्रेष्ठ जीवन में अंतर है। मार्सीलियो का श्रेष्ठ जीवन लोक एवं परलोक तक फैला है। अरस्तू का श्रेष्ठ जीवन बुद्धि एवं विवेक पर आधारित है। जबकि दूसरे प्रकार का जीवन श्रद्धा और विश्वास पर आधारित है। सांसारिक जीवन में व्यवस्था के लिये विवेक की आवश्यकता होती है जबकि पारलौकिक जीवन में मोक्ष प्राप्ति के लिये धर्म और श्रद्धा की आवश्यकता होती है।

समाज के विभिन्न वर्गों का उल्लेख करते हुए वह प्रत्येक के अपने कार्यक्षेत्र का उल्लेख करता है। वह स्पष्ट करता है कि कृषक, शिल्पी, पूंजीपति वर्ग समाज की भैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते है, सैनिक और प्रशासक राज्य रक्षा , पुरोहित तथा पादरी धर्मशास्त्र का अध्ययन कर लोगों को धार्मिक शिक्षा प्रदान करने का कार्य करते है। वह मुक्ति का मार्ग दिखाते है। उनका कार्य आध्यात्मिक है। वह सांसारिक क्षेत्र में कार्य नहीं कर सकते । इसी तर्क के आधार पर वह पादरियों पर राज्य के नियन्त्रण का पक्षधर था। वह चर्च को राज्य का एक विभाग मानता था। वह पहला विचारक था जिसने चर्च को राज्य के अधीन रखा। सेवाइन के शब्दों में-'' राजनीतिक दृष्टि से मार्सीलियो के

निष्कर्ष का महत्वपूर्ण अंश यह है कि लौकिक संबंधों में वह (पादरी वर्ग) अन्य वर्गो के समान एक वर्ग है। मार्सीलियों तार्किक दृष्टिकोण से ईसाई पादरियों को अनय अधिकारियों के भाँती समझता है।''

8.5.2 शासन संबंधी विचार

मार्सीलियो के अनुसार उत्तम शासन वह है जो सामूहिक हित के लिये जनता की इच्छा के अनुसार शासन करता है। अपने हित में जनता के विचारों की अनदेखी कर किया गया शासन निकृष्ट शासन होता है। वह अरस्तू के उस विचार को नहीं मानता कि कुछ लोग केवल शासन के लिये ही बने है तथा कुछ लोग शासित होने के लिए बने है। वह किसी एक शासन प्रणाली का समर्थक नहीं था। उसकी मान्यता थी कि विभिन्न शासन प्रणलियां विभिन्न देश, काल में उपयोगी तथा सही हो सकती है। वह शासन के दो अंग कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका को मानता है। कार्यपालिका की दृष्टि से वह निर्वाचित राजतंत्र को और व्यवस्थापिका की दृष्टि से वह प्रतिनिधियात्मक सभा को श्रेष्ठ मानता है। वह मर्यादित (नियन्त्रित) राजतंत्र का समर्थक था तथा वह चाहता था कि राजतंत्र अपने कार्यो के लिये व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हो। वह स्पष्ट करता है कि यदि राजा जनकल्याण सुनिश्चित नहीं करता तो उसे पद से हटा देना चाहिए।

8.5.3 कानून संबंधी विचार

मासीलियों ने कानून के संबंध में बहुत महत्वपूर्ण विचार दिये। मार्सीलियो ने मध्य युग में प्रचलित न्याय की अवधारणा ''सामूहिक हित के लिये विवेक का आदेश'' को अस्वीकार करते हुए कानून की एक अलग परिभाषा प्रस्तुत की। उसके अनुसार -'' कानून विधायक का बल प्रवर्ती आदेश है जिसका पालन न्यायालयों के द्वारा कराया जाता है।''मार्सीलियो मध्ययुग का पहला विचारक था जिसने कानून की विधिशास्त्रीय परिभाषा दी। उसने आगे कानून की व्याख्या करते हुए कानून को दो भागों में बांटा हैः-

1.दैवीय कानून

2.मानवीय कानून

दैवीय कानूनः- वह दैवीय कानून को ईश्वरीय आदेश मानता है। वह इसको पूर्ण मानता है तथा इसमें संशोधन एवं परिवर्तन की सभांवना को अस्वीकार करता है। यह वह कानून है जो मनुष्यों को बताता है कि वह क्या करें तथा क्या न करें? इस विधि में मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ शासन प्राप्त करने तथा संसार के वांछनीय परिस्थितियों के निर्माण का उपाय भी बताया जाता है। वह दैवीय कानूनों को वह सांसारिक जीवन से अलग रखते हुए जीवन के अंतिम लक्ष्य के लिये आवश्यक मानता है।

मानवीय कानूनः- वह मानवीय कानून को सम्पूर्ण नागरिकों का अथवा उसके प्रबुद्ध भाग का आदेश मानता है। ये कानून मानवीय हितों को ध्यान में रखकर व्यापक जनहित में जारी किये जाते है। मानवीय कानून मानव द्वारा मानवों के सांसारिकहितों की पूर्ति के लिये जारी किये जाते है। यह व्यापक जन हित में समाज के ऊपर नियन्त्रण लगाने को सही ठहराते है। यह मानव को क्या करना है? तथा क्या नहीं करना है? इसको सुनिश्चित करवाता है। यह ऐसा आदेश होता है जिसमें उल्लंघन करने वालों का दण्डित किया जाता है।

मार्सीलियो का कानून संबंधी विचार पूर्वतः आधुनिक है। वह काननों को अलग ही नहीं करता वरन इसको तोड़ने वालों को दण्ड की व्यवस्था करता है। वह स्पष्ट करता है कि दैवीय कानूनों का उल्लंघन करने पर मृत्यु के बाद उस व्यक्ति को दण्ड मिलता है। यह दण्ड ईश्वर द्वारा दिया जाता है। जबकि मानवीय कानून के उल्लंघन होने पर दण्ड

इसी संसार में राजसत्ता द्वारा दिया जाता है। मानवीय कानूनों के उत्पति में वह दैवीय अथवा प्राकृतिक कानूनों का अंश नहीं देखता है। वह मानता है कि यह मानवीय विवेक से निर्मित होता है।

वह मानवीय कानूनों को मानवीय बुद्धि की उपज मानता है। अतः उसे लागू करने वाला शक्ति का स्रोत होता है। यह स्रोत सत्ता का प्रबुद्ध स्रोत होता है। प्रबुद्ध अंश के संबंध में वह स्पष्ट करता है कि -''मैं कहता हूँ कि समाज में संख्या तथा गुणवत्ता दोनों की दृष्टि से प्रबुद्ध अंश की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। ''

वह प्रबुद्ध अंश के संबंध में स्पष्ट करता है कि यह जनता का वह भाग है जो संख्या का नहीं वरन गुण की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण मानता है। वह सभी मनुष्यों की पूर्ण समानता का पक्षधर नहीं था। वह मानता था कि समाज के ' प्रधान व्यक्ति' साधारण व्यक्तियों से अधिक महत्वपूर्ण है। वह समानता के सिद्धान्त को पूर्ण अर्थो में स्वीकार नहीं करता है।

वह मानता था कि शासन में कार्यपालिका एवं न्यायपालिका विभागों का निर्माण नागरिकों के द्वारा होता है। व्यवस्थापिका भी नागरिकों की देन होती है। उसी से कार्यपालिका का गठन होता है। यदि कार्यपालिका उचित रूप से कार्य नहीं करती तो व्यवस्थापिका को उसे हटाने का अधिकार है। व्यवस्थापिका को यह अधिकार देने के बाद यह व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता का समर्थन करता है। उसने कार्यपालिका को मजबूत ही नहीं किया वरन उसमें एकता पर बल दिया जिससे कानून व्यवस्था, शान्ति को बनाये रखा जा सके। यही कारण है कि वह प्रजांतत्र पर राजतंत्र को वरीयता देता है। वह राजतंत्र में भी वंशानुगत राजतंत्र की अपेक्षा निर्वाचित राजतंत्र को बेहतर मानता है। वह एकीकृत एवं स्वतंत्र कार्यपालिका का समर्थक है। यही कारण है कि उसके दर्शन में स्वत्रंत चर्च की कोई गुजाइंश नहीं है। वह चर्च की राजसत्ता का सतर्थन करता है। वह राजतंत्र का समर्थक है परन्तु निरकुश राजतंत्र को अस्वीकार करता है। उसकी मान्यता है कि यदि राजा मनमानी करता है तो जनता उसकी मनमानी (निरकुंशता) पर रोक लगाकर उसे दण्डित कर सकती है।

8.5.4 चर्च संबंधी विचार

मार्सीलियो के विचार अपने युग से आगे के थे जिसने राजनीतिक चिन्तन को एक नई दिशा प्रदान की। वह मध्ययुग की निराशा, अस्थिरता तथा अव्यवस्था के लिये दो सत्ताओं के संघर्ष को जिम्मेदार ठहराता था। उसकी मान्यता थी कि चर्च के हस्तक्षेप के कारण ही राजनैतिक अस्थिरता तथा राजनैतिक सत्ता का पतन हो रहा है। तत्कालीन घटनाओं से प्रभावित होकर उसने राजनैतिक सत्ता की मजबूती का समर्थन किया। अपनी पुस्तक ' डिफेन्सर पेसिस' में दूसरे भाग में वह चर्च संबंधी पूर्णतः मौलिक विचार रखता है।

चर्च सत्ता पर प्रबल प्रहार करते हुए उस पर जन प्रभुसत्ता तथा प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त लागू किया। उसने पोप के सभी अधिकारों को अनावश्यक तथा राज्य विरोधी बताया। उसने पोप के अधिकारों को चुनौती देते हुए कहा कि चर्च के सभी अधिकारों का केन्द्र पोप नहीं हो सकता है। चर्च की शक्तियों का केन्द्र सामान्य परिषद है। यह किसी व्यक्ति विशेष का संगठन नहीं वरन ईसाई धर्म में विश्वास रखने वाले करोड़ो लोगों के विश्वास का प्रतीक है। इस सामान्य परिषद में पादरी एवं सामान्य लोग दोनों ही सम्मिलित है। वह कहता है कि जिस प्रकार राज्य की शक्ति उसके सभी नागरिकों द्वारा निर्वाचित व्यवस्थापिका में निहित होती है। उसी प्रकार चर्च की शक्ति भी ईसाईयों के द्वारा निर्वाचित सामान्य परिषद में होती है। इस सामान्य परिषद के पास ही चर्च संबंधी सभी निर्णय लेने का अधिकार , विवादों के निपटारे का अधिकार तथा चर्च से बहिष्कृत करने का अधिकार होना चाहिए। सामान्य परिषद द्वारा ही अन्य अधिकारियों की नियुक्ति होनी चाहिए। पोप भी अपने कार्यो के लिये सामान्य परिषद के प्रति

जबावदेह है। यदि पोप भी भ्रष्टाचार, अनैतिक आचरण का दोषी होता है तो परिषद उसे भी पद से हटा सकती है। इस प्रकार मार्सीलियो ने पोप को सामान्य परिषद के अधीन कर एक नये युग का सूत्रपात किया।

मार्सीलियो राज्य की व्यवस्थापिका की तरह इस सामान्य सभा को भी सर्वोच्च नहीं मानता है। वह सदैव इस बात का पक्षधर था कि इसके सदस्य किसी तटस्थ स्थान पर बाइबिल के अनुसार धार्मिक विषयों एवं सिद्धान्तों का निरूपण करेगें। मार्सीलियो ने न केवल पोप निर्बाध सत्ता पर अंकुश लगाया वरन यह यह सिद्ध किया कि पोप के अधिकारों एवं शक्तियों का स्रोत ईश्वरीय नहीं है। उसने पोप को सर्वोच्च न मानकर उसे चर्च का केवल प्रशासक घोषित किया। उसने पोप की सर्वोच्चता को अस्वीकार किया साथ ही पीटरी सिद्धान्त जिसमें कहा गया कि पीटर ने रोम के चर्च की स्थापना की, को गलत सिद्ध किया। उसने यह भी सिद्ध किया कि पोप का अन्य चर्च पर भी कोई अधिकार नहीं है। मार्सीलियो ने पादरियों का अधिकार केवल धार्मिक एवं आध्यात्मिक मामलों तक सीमित रखने तक सीमित था। वह कहता था कि धार्मिक अधिकारियों को किसी प्रकार के भौतिक अधिकार प्राप्त नहीं है। उसने चर्च के कानून एवं अधिकारों को मानने से इन्कार कर दिया। उसने दो प्रकार के कानून का हवाला देते हुए कहा कि परलोक का कानून अथवा ईश्वरीय कानून तथा दूसरा इहलोक में लागू होने वाला मानवीय कानून। ईश्वरीय कानून का उल्लघंन करने पर दण्ड का अधिकारी ईश्वर है तथा इहलोक में दण्ड अधिकारी राजा है। धर्म अधिकारियों को दण्ड देने का कोई अधिकार नहीं है। मार्सीलियो चर्च के पास किसी प्रकार की संपति का विरोधी था। वह तर्क देता है कि प्रभु यीशु भी कोई संपति नहीं रखते थे। यदि चर्च को दान से संपति प्राप्त होती है तो उसका उपयोग भोग एवं वैभव के लिये नहीं वरन जन कल्याण में होना चाहिए। वह चर्च की अतिरिक्त संपति पर राजकीय नियन्त्रण का हिमायती था। वह चर्च के राजनैतिक कार्यों का विरोधी था। वह चर्च की बाध्यकारी शक्ति को समाप्त करने का पक्षधर था।

8.5.5 मूल्यांकन

मध्ययुग के राजनैतिक चिन्तन में मार्सीलिया को बहुत महत्व है। उन्होंनें अपने समय की चिन्तन की धारा को बदल कर नये युग का सूत्रपात किया। उन्होंने चर्च में व्याप्त भ्रष्टाचार, विलास तथा अनैतिकता का न केवल विरोध किया वरन नये विचारों के द्वारा चर्च को पूर्णतः राज्य के अधीन कर दिया। धर्माधिकारियों के द्वारा राजनैतिक कार्यो में दखल देने का उसने विरोध किया। वह पोप के द्वारा असंयमित आचरण का विरोधी था। मार्सीलियो की यह मान्यता थी कि पोप केवल धार्मिक गुण है और उसका अधिकार क्षेत्र चर्च के अन्दर है। वह अन्य चर्चों तथा धर्माधिकारियों को निर्देशित नहीं कर सकता। वह राज्य के मामलों में भी दखल नहीं दे सकता। चर्च की अत्याधिक संपति पर वह राज्य के नियन्त्रण का हिमायती था। वह कानूनों को दैवीय आधार पर स्वीकार करने को तैयार नहीं था यदि उसका आधार मानवीय नहीं है। शासन संबंधी उसके विचार मध्ययुग से आगे पूर्णतः आधुनिक है। वह लोकतंत्रवादी है। वह राजाओं को व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी बनाता है। वह सीमित तथा चयनित राजा का समर्थक था। पोप के ऊपर सामान्य परिषद के नियन्त्रण का हिमायती था। उसी के विचारों में राष्ट्रीय लोकतन्त्र के उदय का मार्ग प्रशस्त हुआ। पोप को सामान्य परिषद के अधीन करने के विचार के कारण ही परिषदीय आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। 16वीं शताब्दी में मार्टिन लूथर के नेतृत्व धर्म सुधार आन्दोलन भी मार्सीलियो से प्रभावित था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि उसका योगदान अमूल्य है।

8.6 थामस एक्वीनास के राजनैतिक विचार

एक्वीनास का जन्म इटली के नेपल्स नामक राज्य में 1225 ई0 में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा के बाद उसने अरस्तू के ग्रन्थों का अध्ययन किया। धार्मिक शिक्षा प्राप्त करने के लिये वह पेरिस गया और वहां पर अल्वर्ट महान का शिष्य बना। 1256 ई0 में उसे पेरिस विश्वविद्यालय से उसे धर्म गुरू की उपाधि प्राप्त हुई। अपनी सारा जीवन उसने ईसाई धर्म को समार्पित कर दिया। अंततः 1274 ई0 में इनकी मृत्यु हो गई। एक्वीनास ने अपनी जीवन काल में उसने 37 ग्रन्थों तथा 40 लघु ग्रन्थों की रचना की। उनके मुख्य ग्रन्थ '' धर्म शास्त्र का सार'' ,'' सुम्मा थियोलोजिका'' थे। इसके अतिरिक्त उसने '' राजाओं के नियमः अरस्तू की राजनीतिक टीका'' आदि की रचना की।

एक्वीनास के ऊपर तत्कालीन परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा। अरस्तू के प्रभाव के कारण उसमें स्वतंत्र चिन्तन, सन्देहवाद तथा नास्तिकता की भावना बढ़ने लगी। उसने ईसाई धर्म के द्वन्द्व को समाप्त करने का कार्य किया। उसने मध्यकालीन चिन्तन तथा यूनानी चिन्तन के मध्य समन्वय करते हुए अरस्तू तथा आगस्टाइन के परस्पर विरोधी विचारों के बीच में सामजस्य स्थापित किया। उसके विचारों में साम्यवाद के तत्व मिलते है। गैटेल के शब्दों में-'' उसने विवेक तथा अर्न्तज्ञान में संबंध स्थापित करने और चर्च के सिद्धान्तों का यूनानी ज्ञान के पुनरूत्थान से प्रकाश में आये तर्क संगत अधर्मी दर्शन में तालमेल बिठाने का प्रयास किया ।''

8.6.1 राज्य संबंधी विचार

एक्वीनास ने राज्य के संबंध में जो विचार दिये वह आगस्टाइन के विचारों के ठीक उलटे थे। उसने आगस्टाइन के विचारों का खण्डन किया कि राज्य की उत्पति पाप के कारण हुई है और यह आवश्यक बुराई है। वह अरस्तू के विचारों से प्रभावित होते कहता है कि मनुष्य एक सामाजिक एवं राजनीतिक प्राणी है। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण राज्य की उत्पति हुई है। राज्य समाज के संचालन के लिये आवश्यक है। यह आवश्यक बुराई नहीं है। वह राज्य संबंधी विचारों में अरस्तू से प्रभावित है परन्तु कई बिन्दुओं पर वह अरस्तू से अलग विचार रखता है। वह अरस्तू के नगर-राज्य संबंधी धारणा को स्वीकार नहीं करता। वह बदली परिस्थितियों में नगर-राज्य से मिलकर बनने वाले प्रांतों से आत्मनिर्भरता के लक्ष्य को प्राप्त करने का समर्थक था। उसने नगर राज्य के स्थान पर प्रांतों का समर्थन किया जिसको उसने '' रेगनम (राज्य)'' पुकारा। वह मध्य युग में राष्ट्र राज्य का समर्थन करने वाला था। वह राज्य की प्रभुसत्ता का अंतिम स्रोत ईश्वर को मानता है।

8.6..2 शासन संबंधी विचार

शासन व्यवस्था संबंधी विचार अरस्तू से प्रभावित है। वह अरस्तू की तरह वह सबका कल्याण करने वाली शासन प्रणाली को श्रेष्ठ तथा न्यायपूर्ण मानता है तथा केवल शासक हित में शासन करने को अन्यायपूर्ण तथा निकृष्ठ मानता है। अरस्तू राज्य का अंतिम लक्ष्य सद्गुणी जीवन की प्राप्ति मानता है। एक्वीनास भी मानव का अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति मानता है। अरस्तू लोकतंत्र को श्रेष्ठ शासन प्रणाली मानता है। जबकि एक्वीनास राजतंत्र को सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली मानता है। वह इस संबंध में तर्क देता है कि जिस प्रकार विश्व पर एक ईश्वर का , शरीर पर हृदय का, मधुमक्खियों पर रानी मक्खी का शासन होता है उसी प्रकार मनुष्य पर एक व्यक्ति का शासन श्रेष्ठ होगा। वह दूसरा तर्क देता है कि लोकल्याण के लिये समाज में एकता एवं शान्ति आवश्यक है। यह राजतंत्र में ही संभव है। वह तीसरा तर्क राजतंत्र के पक्ष में देता है कि लोकतंत्र में फूट एवं झगड़ा की संभावना बनी रहती है जबकि राजतंत्र में इसकी संभावना नहीं रहती। अतः वह राजतंत्र का प्रबल समर्थन करते हुए वह निर्वाचित राजतंत्र को सर्वश्रेष्ठ शासन

प्रणाली मानता है। वह राजतंत्र के निरकुंश हो जाने की संभावना को खारिज कर देता है। वह निरंकुश शासकों को मृत्यु दण्ड देने का पक्षधर नहीं है। वह कहता है कि ऐसी व्यवस्था करने से वध किये जाने वालों में अधिकार योग्य शासक ही होगें।वह राजा को नियन्त्रित करने के लिये राजा द्वारा ईश्वरीय नियमों का पालन अनिवार्य करता है। वह कहता है कि राजा को ईश्वरीय नियमों के अनुसार ही आगे बढ़ना चाहिए।

8.6.3 राज्य के कार्य

एक्वीनास ने राज्य के कार्यो पर व्यापक प्रकाश डाला है। उसके राज्य के कार्यों के संबंध में विचार यूनानी , रोमन तथा ईसाई धर्म के विचारों से मिलते-जुलते है। दूसरे शब्दों में कहे तो यह तीनों धाराओं का मिश्रण है। उसके अनुसार राज्य के प्रमुख कार्य निम्न है-

1.राज्य का प्रमुख कार्य उत्तम जीवन जीने की व्यवस्था करना है। राज्य में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना करना। राज्य को वाहय आक्रमणों से सुरक्षा प्रदान करना है। राज्य को ऐसी नीति बनानी चाहिए जिसमें कानून तोड़ने वाले को दण्डित करने तथा पालन करने वाले को पुरस्कार की व्यवस्था हो।

2.राज्य के अन्दर आवागमन के साधन को सुरक्षित बनाना। उन्हें उपद्रवियों से सुरक्षित रखना है।

3.मुद्रा पद्धति के चलन तथा नापतौल की विशेष व्यवस्था को बनाना।

4.समाज कमजोर लोगों, गरीबों के भरण पोषण को करना। यह राज्य का एक महत्वपूर्ण कार्य है।

8.6..4 राजसत्ता एवं धार्मिक सत्ता में सम्बन्ध

एक्वीनास राजसत्ता एवं धार्मिक सत्ता के पूर्ण पृथक्कीकरण का पक्षधर नहीं था। वह कहता है कि मनुष्य के दो लक्ष्य होते है- पहला सांसारिकसुख पाना तथा दूसरा आत्मा का सुख पाना। दोनों सुखों की प्राप्ति के लिये दो तरह की सत्ताओं की व्यवस्था की गई है। इसमें सांसारिक सुख के लिये राज्य की व्यवस्था है तथा आत्मीय सुख के लिये चर्च की स्थापना की गई है। राज्य भौतिक सुख पाने का साधन है। जबकि चर्च आध्यमिक उन्नति तथा मुक्ति का साधन है। अतः राज्य को चर्च के नियन्त्रण में रहकर उसके निर्देशानुसार कार्य करना चाहिए।

अतः यह सिद्ध हो जाता है कि एक्वीनास राज्य की तुलना में चर्च को अधिक महत्व प्रदान करता है। दोनों में संघर्ष अवस्था में जिस प्रकार भौतिक सुखों की तुलना आध्यात्मिक सुध अधिक महत्वपूर्ण है उसी प्रकार राज्य की तुलना में चर्च अधिक महत्वपूर्ण है। वह यह कहता है कि दोनों सत्ताएं संघर्ष के लिये नहीं वरन सहयोग के लिये है। इनका अंतिक उद्देश्य मानव का सम्पूर्ण कल्याण करना है। एक्वीनास के अनुसार -'' चर्च सामाजिक संगठन का मुकुट है। वह लौकिक संगठन का प्रतिद्वन्द्वी नहीं है वरन उसकी पूर्णता का प्रतीक है।''

8.6.5 कानून संबंधी विचार

एक्वीनास के कानून के संबंध में बहुत विस्तृत एवं महत्वपूर्ण विचार दिये है। उसके पूर्ण कानून के संबंध में ऐसे स्पष्ट विचार दिखायी नहीं पड़ते है। उसकी कानून संबंधी व्याख्या अत्यंत व्यापक है। यह अरस्तू, स्टोवक, आगस्टाइन आदि के विचारों का अद्भुत मिश्रण है। डनिग के शब्दों में -'' एक्वीनास का कानून एवं न्याय सिद्धान्त वह धारा है जिसके माध्यम से अरस्तू, स्टोइक, आगस्टाइन , सिसरो, रोम के साम्राज्य वादी विधिवेताओं आदि के सिद्धान्त समन्वित रूप से आधुनिक युग को संम्प्रेषित किये गये है।''

एक्वीनास के कानून संबंधी विचारों पर कोकर का मत है-'' राजनीतिक चिन्तन के लिये सामान्यतः एक्वीनास का कानून विषयक विवेचन सम्भवतः उसकी महानतम देन है।'' एक्वीनास ने अपने कानून संबंध विचारों में यूनानी

तथा रोमन विचारधाराओं का समन्वय किया। जहां यूनान में कानून विवेक का परिणाम है वहीं रोम में इसे बुद्धि पर आधारित सम्राट अथवा व्यक्ति विशेष की इच्छा की अभिव्यक्ति का साधन मानते है। उसने दोनों ही धाराओं के बीच समन्वय स्थापित करते हुए इसे बुद्धि का परिणाम तथा व्यक्ति विशेष की इच्छा का परिणाम भी माना। वह कानून की व्याख्या करते हुए कहता है- '' कानून विवेक का वह अध्यादेश है जिसे लोकहित की दृष्टि से उस व्यक्ति के द्वारा उद्धोषित किया जाता है जो समाज की देखभाल करने का अधिकारी होता है।'' उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि उसने दोनों पूर्व प्रचलित धाराओं में समन्वय स्थापित किया।

कानून के प्रकार:- एक्वीनास ने कानून के चार प्रकार बताये हैः

1.शाश्वत कानूनः- शाश्वत कानून ईश्वरीय विवेक का प्रतीक है। समस्त सृष्टि इस कानून के अनुसार निर्मित है तथा इसके अधीन है। मनुष्य की सीमित क्षमता होने के कारण उसे पूर्ण रूप से समझने में असमर्थ है। अतः ईश्वर प्राकृतिक कानून के माध्यम से उसे शाश्वत कानून से परिचित कराता है।

2.प्राकृतिक कानूनः- इस कानून के द्वारा मनुष्य भले-बुरे, सत्य-असत्य के बीच भेद करता है। इसी के माध्यम से वह सत्य को प्राप्त करता है तथा असत्य से मुक्त होता है। शाश्वत कानून सभी के लिये समान होता है। यह मनुष्य की विभिन्न प्राकृतिक इच्छाओं तथा विभिन्न वस्तुओं में समान रूप से व्याप्त होता है। मनुष्यों की समस्त प्राकृतिक इच्छाओं जैसे समाज में रहना, आत्मरक्षा करना, संतान उत्पति करना, विवेक का विकास करना आदि प्राकृतिक कानून से ही संभव है।

3.दैवीय कानूनः- एक्वीनास ने दैवीय कानून को स्पष्ट करते हुए कहा कि मानव के जीवन का उद्देश्य केवल भौतिक उद्देश्यों के लिये नहीं हुआ है वरन वह आध्यत्मिक लक्ष्यों को भी प्राप्त करना चाहता है। यह उद्देश्य दैवीय कानून के माध्यम से प्राप्त किया जाता है। यह ऐसे कानून है जो मनुष्य को पूर्णत प्रदान करते है। यह परम सुख की प्राप्ति के साधन है। यह बहुत महत्वपूर्ण और श्रेष्ठकर होते है।

4.मानवीय कानून:- एक्वीनास मानवीय कानून को अत्याधिक महत्व वहीं देता है। वह इसे अन्य कानूनों से निम्न मानता था। वह कहता है कि यह मानवीय विवेक की देन है। अतः यह मानवीय हितों की पूर्ति का साधन है। यह मानवों के लिये अनिवार्य होते है। यह समाज में व्यवस्था, समाज का संचालन करता है। यह राज्य द्वारा प्रतिपादित दण्ड व्यवस्था का प्रतीक होता है। मानवीय कानून मानवीय विवेक द्वारा निर्मित होते है। साथ ही व्यापक समाजहित में प्रयोग में लाये जाते है।

इन कानूनों की कसौटी प्राकृतिक होता है। मानवीय एवं प्राकृतिक कानून में इस प्रकार एक संबंध स्थापित हो जाता है । यदि मानवीय कानून प्राकृतिक कानून के विरूद्ध होता है तो वह सही और न्यायपूर्ण नहीं होगा। इस प्रकार वह सिद्ध करता है कि मानवीय कानून प्राकृतिक कानून का प्रतिबिम्ब है। वह स्पष्ट करता है कि प्राकृतिक कानून के विरूद्ध मानवीय कानूनों का अस्तित्व नहीं हो सकता है। मानवीय कानून का उद्देश्य लोककल्याण तथा जनसहभागिता होती है। यह तभी हो सकता है जब वह प्राकृतिक कानूनों के अनुरूप हो। उसने मानवीय कानून के तीन आधार बताये है -

1.यह जनकल्याणकारी होने चाहिए।

2.यह वैद्य शासक द्वारा निर्मित होने चाहिए।

3.यह सभी पर समान रूप से लागू होने चाहिए।

एक्वीनास का कानून परिवर्तन संबंधी दृष्टिकोण अत्यन्त कठोर था। वह कानून को स्थायी बनाने का पक्षधर था। उसका स्पष्ट मत था कि समाज में होने वाली हलचलों का प्रभाव कानून पर नहीं पड़ना चाहिए। यदि ऐसा हुआ तो इसके दुष्परिणाम समाज को भुगतने पड़ते है। कई बार इससे अराजकता की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती है। बहुत आवश्यक होने पर ही लोकहित में मानवीय कानून में परिवर्तन किया जा सकता है।

8.6..6 न्याय संबंधी धारणा

एक्वीनास के न्याय संबंधी विचारों पर रोम के विधि व्यवस्था का प्रभाव दिखायी पड़ता है। वह कहता है कि -'' न्याय प्रत्येक व्यक्ति को उसको अधिकार प्रदान करने की निश्चित तथा सनातन इच्छा है।''

एक्वीनास की न्याय संबंधी धारणा में अरस्तू का भी प्रभाव पड़ता है। वह कहता है कि न्याय समानता पर आधारित होना चाहिए। यह समानता प्राकृतिक तथा मानवीय आधार पर निर्धारित की जानी चाहिए।

8.6.7 दासता संबंधी विचार

अन्य मध्ययुगीन विचारकों की तरह एक्वीनास ने भी दास व्यवस्था पर अपने विचार रखे। मध्य युग में दास व्यवस्था समाज में प्रचलित थी। यह समाज का हिस्सा थी। एक्वीनास ने दासता संबंधी विचारों में अरस्तू से प्रभावित नहीं दिखता। जहां अरस्तू दासता को प्राकृतिक एवं दासों के हित में मानता था। वह दासता को स्वीकार करते हुए कहता था कि जन्म से सभी व्यक्ति समान नहीं होते है, सभी की क्षमता अलग-अलग होती है। कुछ अपनी क्षमता से स्वामी बन जाते है तो कुछ सेवक बन जाते है। यह सम्पूर्ण व्यवस्था को वह प्राकृतिक मानता है। दूसरी ओर एक और मध्ययुगीन विचारक आगस्टाइन दासता को ईश्वरीय दण्ड मानते है। वे तर्क देते है कि दासता पापों का परिणाम है जो ईश्वर द्वारा दण्ड स्वरूप प्रदान किया गया है।

एक्वीनास इन दोनों विचारकों से अलग यह तर्क देता है कि दासता के द्वारा वीरता की अभिवृद्धि होती है। युद्ध में सैनिक दासता के तत्व के कारण वीरता से लड़ते है। वे विजेता होते है तो उन्हें नये दासों का लाभ होता है जो उन्हें वीरता एवं विजयी होने के लिये प्रेरित करता है। पराजित होने पर उनके दास बनने की संभावना हो जाती है। अतः वे वीरता का परिचय देते है।

8.6.8 मूल्याकंन

एक्वीनास के उपरोक्त विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका चिन्तन चर्च एवं धर्म से प्रभावित है साथ ही अरस्तू के धर्मनिरपेक्ष चिन्तन का भी प्रभाव है। वह कई स्थानों पर दोनों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है। कई स्थानों पर दोनों के बीच समन्वय करने के प्रयास में विरोधाभास, उत्पन्न हो जाता है। कई बार इसी आधार पर आलोचक उसकी आलोचना भी करते है।

इसके बावजूद यह आलोचना सही प्रतीक नहीं होती क्योंकि उसके सम्पूर्ण चिन्तन को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। उन परिस्थितियों को समझना चाहिए जिसमें वह अपने विचार रख रहा था। वह अपने युग का एक मौलिक एवं प्रतिनिधि विचारक है। उसके ऊपर अपने युग का प्रभाव दिखायी पड़ता है। वह समन्वयवादी है। वह अरस्तू , रोमन आदि विचाराधाराओं का समन्वय करता है। यही उसके चिन्तन की प्रमुख विशेषता है जो उसके चिन्तन को अत्याधिक उपयोगी तथा अपने युग का प्रतिनिधि विचारक बना देती है।

अभ्यास प्रश्नः-

1.दो तलवारों के सिद्धान्त का समर्थक कौन था?

2.डिफेन्सर पेसिस के रचियता कौन था?

3.निम्न में से किसको प्रथम एरेस्टियन कहा जाता था?

1. मार्सीलियो 2. आगस्टाइन 3 .अरस्तू 4. एक्वीनास

4.सुम्मा थियोलिजिका का रचियता कौन था?

5.कानून की सर्वाधिक वृहद व्याख्या निम्न में से किसने की?

1. अरस्तू 2. मार्सीलियो 3. एक्वीनास 4. आगस्टाइन

6.निम्न में से किसने चर्च को पूर्णतः राज्य के अधीन माना था?

1. आगस्टाइन 2. संत बनार्ड 3. मार्सीलियो 4. एक्वीनास

8.7 सारांश

500 ई0 से 1500 ई0 तक के काल को मध्ययुग कहा जाता है। यह वह समय था जब राजनीतिक अस्थिरता, चर्च एवं राज्य के बीच संघर्ष, नैतिकता का पतन हो रहा था। यह वह दौर था जब सम्प्रभु कौन है इसका फैसला ही नहीं हो पा रहा था। चारों ओर अनिश्चितता का वातावरण था। इसी समय कुछ राजनीतिक चिन्तकों ने आगे आकर अपने राजनीतिक चिन्तन से युग को स्थिरता तथा नई रोशनी देने का प्रयास किया। इनमें सबसे पहले संत आगस्टाइन का नाम आता है जिन्होंने संघर्ष को समाप्त करने एवं व्यवस्था लाने के उद्देश्य से कुछ सिद्धान्त दिये। इसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण दो तलवारों का सिद्धान्त था। यह वह सिद्धान्त था जिसमें धार्मिक एवं आध्यात्मिक कार्यों हेतु चर्च तथा लौकिक कार्यों के लिये राजसत्ता के महत्व को स्वीकार किया गया। वह चर्च एवं राज्य में सामजस्य का विचार देता है। वह अपने पूर्व के विद्वानों की तरह राज्य को आवश्यक बुराई नहीं मानता है। वह राज्य को मानव जीवन के लिये आवश्यक मानता है। वह कहता है कि ईश्वर द्वारा राज्य का निर्माण किया गया है। वह चर्च एवं राज्य के बीच चर्च को अधिक महत्व देता है। मार्सीलियो ने चर्च एवं राज्य के बीच संबंधों में नया दृष्टिकोण रखा। उसकी मान्यता थी कि चर्च का कार्य धार्मिक है अतः उसे राजनीतिक कार्यों में दखल नहीं देना चाहिए। वह मानता था कि धर्म के अत्याधिक हस्तक्षेप के कारण ही इटली का पतन हुआ। वह राज्य को शक्तिशाली एवं सम्प्रभु रखने का हिमायती था। वह चर्च को राज्य के अधीन रखने की वकालत करता है। कतिपय यही कारण है कि वह ‘ प्रथम एरेस्टियन’ कहलाता है। वह राज्य की उत्पति परिवार से मानता है तथा राज्य का कार्य विभिन्न समूहों के बीच सांमजस्य रखने को बताता है। वह राज्य के द्वारा मानव जीवन की रक्षा तथा सत जीवन की ओर प्रेरित करने का माध्यम मानता है। धार्मिक क्षेत्र के लोगों को सांसारिक क्षेत्र में दखल नहीं देना चाहिए। ऐसी उसकी मान्यता थी। वह शासन के संबंध में राजा के ऊपर सकारात्मक नियन्त्रण का पक्षधर था। वह सीमित राजतंत्र का समर्थक था। वह चर्च के व्यापक सुधारों का हिमायती था। चर्च में पोप को केवल एक प्रशासनिक अधिकारी मानता है। धर्म संबंधी निर्णय लेने की शक्ति सामान्य परिषद को सौंपता है। वह पोप की संपति को नियन्त्रित करने , शक्तियों को सीमित करने तथा गलत कार्य करने पर सामान्य परिषद द्वारा दण्डित करने का पक्षधर था।

एक्वीनास ने नगर राज्य के स्थान पर राष्ट्र राज्य का विचार दिया। वह शासन जनहित में हो इसका हिमायती था। वह राजतंत्र को सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली मानता है। वह एक व्यक्ति के शासन का समर्थक था। राजा द्वारा सुरक्षा, उत्तम जीवन तथा अर्थ के सभी कार्य किये जाने का पक्षधर था। वह चर्च एवं राज्य के संबंधों में चर्च को आध्यात्मिक कार्य देने तथा राज्य को भौतिक कार्य देने का पक्षधर था। वह आध्यात्मिक कार्य को अधिक महत्वपूर्ण मानते हुए राज्य को चर्च के अधीन किये जाने का हिमायती था। कानून की विस्तृत व्याख्या उसकी राजनीति शास्त्र को महत्वपूर्ण देन है। दासता को वह स्वीकार करता है परन्तु प्राकृतिक नहीं मानता है।

8.8 शब्दावली

लौकिकः- जो दिखायी पड़ता हो , जो सामने स्पष्ट हो लौकिक कहा जाता है।

सीमित राजतंत्रः- राजा के ऊपर यदि कानून का नियन्त्रण हो तो ऐसा राजतंत्र सीमित राजतंत्र कहलाता है।

शाश्वत कानूनः- यह ईश्वर की देन कहा जाता है। इसमें माना जाता है कि सम्पूर्ण व्यावस्था ईश्वरीय आदेश से इस कानून में निहित है।

8.9 अभ्यास के प्रश्नों के उत्तर

1. संत आगस्टाइन 2.मार्सीलियो 3.मार्सीलियो 4.एक्वीनास 5. एक्वीनास 6.मार्सीलियो

8.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. मेहता जीवन- पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन

2. सिंह वीरकेश्वर प्रसाद- प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक

3. जैन पुखराज- पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन

8.11सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सूद जे0पी0- राजनीतिक चिन्तन का इतिहास

8.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. आगस्टाइन के राजनीतिक विचारों पर एक निबंध लिखिये।

2. मार्सीलियो के राज्य एवं चर्च संबंधी विचारों की व्याख्या कीजिये।

3. एक्वीनास के राजनीतिक विचारों की व्याख्या कीजिये।

4. क्या एक्वीनास अपने युग का प्रतिनिधि विचारक था? स्पष्ट कीजिये।

5. मार्सीलियो के राजनीतिक विचारों की व्याख्या कीजिये।

6. एक्वीनास के विधि संबंधी विचारों पर प्रकाश डालिये।

इकाई -9 : मैकियावेली

इकाई की संरचना

9.1 प्रस्तावना
9.2 उद्देश्य
9.3 मैकियावेली के विचारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
9.4 इटली की दुरावस्था पर मैकियावेली के विचार
9.5 मैकियावेली की अध्ययन प्रणाली
9.6 मनुष्य स्वभाव के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचार
9.7 नैतिकता सम्बन्धी सिद्धान्त
9.8 धर्म और राजनीति के प्रति मैकियावेली का दृष्टिकोण
9.9 इतिहास और परिवर्तन
9.10 राज्य के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचार
9.11 शासन सम्बन्धी विचार
9.11.1 राज तंत्र
9.11.2 गण तंत्र
9.12 राज्य का विस्तार
9.13 सर्वशाक्तिमान विधायक की अवधारणा
9.14 विधि की अवधारणा
9.15 सेना का राष्ट्रीयकरण
9.16 राष्ट्रीयता की अवधारणा
9.17 अपने युग के शिशु के रुप में मैकियावेली
9.18 प्रथम आधुनिक विचारक के रुप में
9.19 सारांश
9.20 शब्दावली
9.21 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.22 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
9.23 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
9.24 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

इसकी पूर्व वाली इकाई में बताया जा चुका है कि मध्ययुग की व्यवस्था तथा उसके मूल्यों को समाप्त करने तथा आधुनिक काल का शिलान्यास करने का पूनर्जागरण के बहुआयामी आन्दोलन ने किया था। पूनर्जागरण के प्रभाव के परिणामस्वरूप यूरोप के जीवन के हर क्षेत्र में परिवर्तन आने लगे। साथ ही इटली की सामाजिक और राजनैतिक जीवन भी मैकियावेली के विचार क्षैतिज को निर्मित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपको मैकियावेली के राजनीतिक विचारों को जानने और समझने में सहायता मिलेगी, और आप यह जान सकेंगें कि देश काल और परिस्थिति किस प्रकार से विचार को प्रभावित करती है। साथ ही जानेंगें कि मैकियावेली ने राजनीतिक उद्देश्य को सिद्धि के लिए किस हद तक नैतिक मानदण्डों की अवहेलना करने तक की भी इजाजत देता है।

अन्ततः आप को यह जानने को मिलने कि मैकियावेली अपने चिन्तन में किस हद तक मध्यकालीन मान्यताओं से अलग हुआ और राजनीति में धर्मनिरपेक्ष को शामिल करने की वकालत की।

9.2 उद्देश्य

इस ईकाई के अध्ययन का उद्देश्य है

1 मैकियावेली के राजनीतिक और सामाजिक विचारों को समझने में सहायता मिलती है।

2 इटली की दुर्दशा और उसके लिए माप और चर्च को उत्तरदायी मानना।

3 आधुनिक काल में राजनीति के अध्ययन के लिए पर्यवेक्षणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धति को

9.3 मैकियावेली के विचारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मैकियावेली 16 वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में ऐसे समय में अपने विचारों को प्रस्तुत करता है जब एक ओर मध्ययुगीन व्यवस्था का अन्त और दूसरी ओर नव जागरण काल का उदय हो रहा था। हम जानते है कि मध्ययुग के चिन्तन में धर्म, ईश्वर, परलोक पोप को सत्ता सर्वभौग ईसाई समाज, जैसे प्रश्नों का बोलबाला था। तात्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था सामन्तवादी प्रथा पर टिकी हुई थी। नगरों का स्वरुप भी स्वायत्तशासी था। सामन्तों के आपसी युद्धों के कारण समाज में स्थिरता और शान्ति का अभाव था। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भिक वर्षो तक पश्चिमी यूरोप के देशों में निरकुश राजतंत्रीय शासन का अभ्युदय हो गया था। क्योंकि सर्वग मध्ययुगीन संस्थाओं का अधोपतन हो रहा था। निरकुश राजाओं ने चर्चा के पदाधिकारियों को अपने कानूनी नियंत्रण में ले लिया था। इसी साथ इस अवधारणा का भी विकास हुआ कि राजा ही राज्य में सम्प्रभु है जो समस्त राजनीतिक सत्ता का अन्तिम स्रोत है।

इन विध्वंसकारी परिवर्तनों की अभिव्यक्ति मैकियावेली के राजनीतिक सिद्धान्त में अत्यन्त स्पष्टता से होती है। मैकियावेली का राजनैतिक चिन्तन सोलहवीं शताब्दी का दर्पण है जिसमें तत्कालीन समाज की व्यवस्था तथा उसमें आये विध्वंसकारी परिवर्तनों को स्पष्ट रुप से देखा जा सकता है। अपने युग की उभरती राजनीतिक प्रवृतियों को मैकियावेली ने समझा तथा उन नवीन प्रवृतियों को अपनी राजनीतिक चिन्तन में समा लिया। उसके विचार 16वीं शताब्दी में उभरती नवीन प्रवृतियों से अत्यधिक प्रभावित है।

9.4 इटली की दुरावस्था पर मैकियावेली के विचार

मैकियावेली के काल में इटली की भयंकर दुर्दशा थी। इटली तब पाँच राज्यों नेपल्स, मिलन, वेनिस, फ्लोरेन्स तथा केन्द्र में पोप द्वारा शासित राज्य में विभातिज था। इटली के इन राज्यों की आन्तरिक एवं बाह्य स्थिति शोचनीय थी। स्पेन, जर्मनी और फ्रांस के शासकों का इटली पर समय -समय पर आक्रमण करना, इन राज्यों की आपसी कटुता जिसके लिए विदेशी ताकतों को इटली के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए आमंत्रित किया जाना, इत्यादि कारणों से इटली की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त बुरी थी। मैकियावेली इटली की ऐसी दुर्दशा के लिए पोप और चर्च को उत्तरदायी मानता है। वह इस बात से दुःखी था कि जब कि यूरोप के अन्य देशों में राष्ट्रीय एकीकरण हो गया किन्तु इटली का एकीकरण नहीं हो रहा है। इस समस्या के लिए वह पोप की नीतियों को जिम्मेदार मानता था। उसका मानना था कि न चर्च न तो स्वंय इतना शक्तिशाली है कि पूरे इटली का एकीकरण कर सकें और न वह किसी अन्य सत्ता को ऐसा करने का अवसर देती है। इसलिए इटली किसी एक प्रमुख के अधीन सुदृढ़ राज्य नहीं बन सकता है। सारांश यह है कि तब इटली में ऐसा वातावरण बन चुका था जहाँ व्यक्ति पर किसी भी प्रकार का अकुंश नहीं था न न्यास का और न कानून का। इटली के इस प्रकार के पतित जन जीवन एवं भ्रष्ट राजनीतिक जीवन को दृष्टिगत रखकर मैकियावेली अपने विचारों का प्रतिपादन करता है और यह कामना भी करता है कि देश का कोई राजनेता उसके ग्रन्थ 'प्रिंस' का अध्ययन कर देश को सुदृढ़ राज्य बनायेगा।

9.5 मैकियावेली की अध्ययन प्रणाली

आधुनिक काल में मैकियावेली ऐसी पहला विचारक था जिसने मध्ययुग में प्रचलित निगमात्मक पद्धति का परित्याग किया। उसने अपने समय की सांसारिक समस्याओं को अध्ययन का विषय बनाया तथा उन समस्याओं

का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने का प्रयास किया। समकालीन घटनाओं का तटस्थ दृष्टि से पर्यवेक्षण करते हुए उन घटनाओं को प्राचीन इतिहास की घटनाओं के साथ जोड़ते हुए उसने अपने निष्कर्षो का प्रतिपादन किया। मैकियावेली की धारणा थी। कि मनुष्य स्वभाव सदा और सर्वत्र एक जैसा ही है। अतः वर्तमान अथवा भविष्य की समस्याओं को समझाने के लिए भूतकाल के इतिहास का सहारा लेना चाहिए। ऐसा करते समय हमें यह समझने का अवसर मिलता है कि प्राचीन काल में अमुक2 परिस्थितियों में कैसी नीतियों का पालन किया गया जिनसे क्या सफलता मिली या असफलता मिली थी। उसकी मान्यता थी कि उन परिणामों के प्रकाश में हम अपनी समकालीन घटनाओं का विवेचन कर अपने निष्कर्ष निकाल सकते है। इसी कारण मैकियावेली को आधुनिक काल में राजनीति के अध्ययन के लिए पर्यवेक्षणात्मक तथा ऐतिहासिक पद्धति को अपनाने वाला पहला विचारक माना जाता है।

9.6 मनुष्य स्वभाव के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचार

मैकियावेली की मान्यता है कि मनुष्य ‘‘सामान्यतः कृतहन, स्वार्थी सनकी, धोखेबाज, कायर और लोभी होता है। मनुष्य मात्र का नैसर्गिक गुण उसकी अहंवादी प्रवृति है। अहंवाद एक सार्वभौम मानवीय सत्य है। अपने अहम की रक्षा के के लिए मनुष्य दूसरों से उग्रता के साथ प्रतिस्पर्ध करता है। अपने अहम की रक्षार्थ, अर्थात अपने जीवन अपनी सम्पत्ति तथा अपने सम्मान की रक्षा के लिए वह औरों से संघर्ष करता है।

यह दृष्टिकोण काल्विन तथा हॉब्स आदि विचारकों से काफी मिलता जुलता है। ऐसा प्रतीत होता है। कि ईसाइयों के मनुष्य के पापी होने के समकालीन सिद्धान्त का भी मैकियावेली पर प्रभाव पड़ा। मैकियावेली यह मान कर चलता है कि मनुष्य का अहम तथा उसकी स्वार्थ प्रवृतियां ऐसी प्रेरणादायी शाक्तियाँ है जो उसे आगे बढ़ने के लिए विवश करती है। मनुष्य आनन्द चाहता है। और कष्ट तथा दुख से बचने की बराबर कोशिश करता रहता है। मनुष्य कृतध्न कायर व लालची होता है। वह अच्छा बनने की तभी कोई कोशिश करता है जब ऐसा करने में उसे कोई लाभ प्रतीत हो। मैकियावेली का कहना था कि भय मानव जीवन को प्रेम से भी अधिक प्रभावित करता है। इसलिए राजा को प्रजा वत्सल नहीं वरन् ऐसा बनना चाहिए कि लोग उससे बारबार डरते रहें। जब तक वे डरेंगे तभी तक राजा से प्रेम करेंगें और उसके आदेश मानेंगें। परन्तु भय घृणा और अपमान के बीच अत्यन्त सुस्पष्ट रेखा खींचते हुए उसका कहना था कि शासक को चाहिए कि वह अपने कार्यो से प्रजा को भयभीत तो रखे लेकिन ऐसा न कर बैठे कि राज्य का कोई वर्ग उससे घृणा करने लगे तो उसकी मान हानि का प्रयत्न करें।

मानव स्वभाव के विषय में मैकियावेली के उपरोक्त विचार इटली की तत्कालीन स्थिति से प्रभावित हुए थे। परन्तु मैकियावेली के विचारों से अनेक विरोधात्मक प्रवृत्तियां देखने को मिलती है।

9.7 नैतिकता सम्बन्धी सिद्धान्त

मैकियावेली ही आधुनिक काल का ऐसा विचारक है जिसने राजनीति को धर्म और नैतिकता के सर्वथा पृथक किया है। मैकियावेली के अनुसार, यदि शासक को अपने राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए यदि अनैतिक साधनों का प्रयोग करना पड़े तो ऐसा करना वांछित है सत्ता प्राप्ति के लिए यदि शासक को हत्या धोखाधड़ी वचन भंग अथवा क्रूरता इत्यादि साधनों का प्रयोग करना पडे तो शासक को ऐसा करना नही हिचकिचाना चाहिए। एक शासक की सफलता का मूल्यांकन इस आधार पर नहीं होता कि उसने नैतिकता का धार्मिकता का मार्ग अपनाया

और जिससे अपनी सत्ता को खो दिया। इससे उसकी असफलता सिद्ध होगी। किन्तु यदि शासक हत्या इत्यादि का सहारा लेकर भी अपने राज्य की रक्षा कर पाता है तो इतिहास उस शासक की सराहना करेगा। नैतिकता के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचारों का अध्ययन करने से स्पष्ट होगा कि वह नागरिकों के लिए एक प्रकार की नैतिकता का तथा शासकों के लिए दूसरे प्रकार की नैतिकता का मापदण्ड निर्धारित करता है। मैकियावेली का नैतिकता सम्बन्धी दोहरा मापदण्ड है- व्यक्तियों की नैतिकता और शासकों की नैतिकता व्यक्ति के लिए वह नैतिकता को आवश्यक मानता है। किन्तु शासकों के लिए नैतिकता की आवश्यकता नही मानता शासकों के लिए उसका मापदण्ड राजनीतिक सफलता है भले ही वह साधन कितने ही अनैतिक क्यों न हों। उसकी मान्यता है कि शासक नैतिकता से ऊपर होता है, नैतिकता के नियमों से शासक बधां नहीं होता। उसका कथन है कि शासक के लिए विश्वास को निभाना बहुत ही प्रशंसनीय है किन्तु राज्य की सत्ता को बनाये रखने के लिए विश्वासघात और छल अत्यन्त आवश्यक है।

9.8 धर्म और राजनीति के प्रति मैकियावेली का दृष्टिकोण

धर्म के प्रति भी मैकियावेली का दृष्टिकोण नैतिकता के समान ही है। वह राजनीति को धर्म से पृथक करता है। प्रिंस की अपेक्षा डिस्कोर्सज में मैकियावेली धर्म को राज्य की स्थिरता के लिए उपयोगी तत्व माना है। मैकियावेली धर्म को राज्य की सुव्यवस्था के साधन के रुप में स्वीकार करता है। धर्म के महत्व को स्वीकार करते हुए मैकियावेली डिस्कोर्सेज में लिखता है जो राजा तथा गणराज्य अपने को भ्रष्टाचार से मुक्त रखना चाहते है, उन्हें धार्मिक संस्कारों की शुद्धता को बनाये रखना चाहिए और उनके प्रति उचित अद्धाभाव रखना चाहिए क्योंकि धर्म हानि होते हुए देखने से बढ़कर किसी देश के विनाश का और कोई लक्षण नहीं होता। इस हद तक मैकियावेली धर्म के महत्व को स्वीकार अवश्य करता है किन्तु जब धर्म राजनीतिक सत्ता के मार्ग में बाधक हो, तब ऐसे धर्म का परित्याग करने का वह समर्थन करता है। स्पष्ट है कि मैकियावेली धर्म और राजनीति के बीच एक विभाजक रेखा निर्धारित करता है।

9.9 इतिहास और परिवर्तन

इतिहास के सम्बन्ध में मत प्रकट करते हुए मैकियावेली परिवर्तन के सिद्धान्त का निरूपण किया है। इतिहास में कोई वस्तु स्थिर नहीं है। मनुष्य इतना लोभी और वासनामय है कि उसकी इच्छांए लगातार बढ़ते ही जाती है। इनका बढ़ना ही परिवर्तनों का कारण है। इस प्रकार के पतिरवर्तनों की क्रमबद्ध कथा ही इतिहास है। चूँकि परिवर्तनों का मूल कारण वासनाएँ है और इतिहास इन्हीं परिवर्तनों का विवरण है अतः मानव जाति के कृत्यों का इतिहास गौरवमय या उज्जवल नहीं है। अपनी बुराईयों के कारण ही मानव जाति दिन प्रति दिन अधिकाधिक अधः पतन के गर्त में गिरती जा रही है। इतिहास की गति मानव जाति के उस अंतिम विनाश और प्रलय की ओर ही इंगित करती है जिसकी और वह बढ़ती जा रही है। अतः मैकियावेली इतिहास को मानव जाति के छल कपट और स्वार्थो का लेखा जोखा मानता है। इतिहास चक्रवत घूमता है। एक अच्छी चीज आती है कालान्तर में वह भ्रष्ट हो जाति है तो उसका स्थान दूसरी वस्तु ले लेती है। इस प्रकार इतिहास का चक्र घुमता रहता है। अरस्तु ने भी लगभग ऐसी ही बात कही थी। उसने राज्यों का जो वर्गीकरण किया था उसमें बतलाया था कि राजतंत्र के बाद अभिजात्यतंत्र और अभिजात्य तंग के भ्रष्ट होने के बाद प्रजातन्त्र और फिर राजतंत्र आता है। फिर भी मैकियावेली ने अरस्तु का कहीं उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकार एक आलोचक के शब्दों में उसने बिना कृतज्ञता प्रकट किये चोरी की है।

9.10 राज्य के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचार

मैकियावेली राज्य को कृत्रिम संस्था मानता है। मैकियावेली की राज्य की धारणा उसकी मनुष्य सम्बन्धी धारणा से जुड़ी हुई है। मैकियावेली के अनुसार मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी होता है। तथा उसमें वस्तुओं के संग्रहण करने की प्रवृति होती है। इसी कारण मनुष्यों में प्रतिस्पर्धा रहती है जो समाज में अशान्ति और अव्यवस्था का कारण होती है। मैकियावेली की मान्यता है कि समाज में अशान्ति और अव्यवस्था को नियंत्रित करने के लिए राज्य की स्थापना मनुष्यों के द्वारा की गई है। वह कहता है कि राज्य मनुष्य की स्वार्थी प्रवृतियों को नियंत्रित करने के लिए स्थापित की गयी मानव कृत संस्था है। राज्य आवश्यकता की उपज है नैसर्गिक नहीं मैकियावेली का यह भी मत है कि अन्य सामाजिक संगठनों की तुलना में राज्य एक उच्च संस्था है। मैकियावेली की राज्य की धारणा की विवेचना करते समय उसकी इस दुर्बलता को भी ध्यान में रखना होगा कि उसने सम्प्रभुता जैसी राज्य की शक्ति का कहीं वर्णन नहीं किया है। राज्य की बाध्यकारी शक्ति का उसने जिस तरह से वर्णन किया है उससे केवल इतना ही संकेत मिलता है कि वह सम्प्रभुता की शक्ति को राज्य में निहित मानता है। सम्प्रभुता की वह कहीं व्याख्या नहीं करता। सम्प्रभुता की व्याख्या न करते हुए भी वह राज्य की शक्ति को स्वीकार करता है जिसका प्रयोग राजतंत्र में राजा के द्वारा अथवा गणतंत्र में प्रजा के द्वारा किया जाता है।

9.11 शासन सम्बन्धी विचार

अरस्तू और सिरसों की भाँति मैकियावेली भी सरकारों को शुद्ध अशुद्ध इन दो भागों में बाटता है। शुद्ध सरकार के प्रकार है राजतंत्र कुलीनतंत्र और गणतंत्र निरकुशतंत्र, धनिकतंत्र और लोकतंत्र क्रमशः इनके विकृत रुप है। स्पष्ट है कि मैकियावेली भी अरस्तु का अनुसरण करते हुए सरकारों को शुद्ध और विकृत मानकर उनके छह प्रकारों को मानता है। सिरसो की भाँति मैकियावेली भी स्वीकार करता है कि "मिश्रित संविधान" श्रेष्ट होता है। शासन के 6 प्रकारों को स्वीकार करते हुए भी वह केवल राजतंत्र और गणतंत्र की तथा डिसकोर्सेज में गणतंत्र की व्याख्या प्रस्तुत की है। राजतंत्र और गणतंत्र के सम्बन्ध में मैकियावेली के क्या विचार है उनका संक्षिप्त वर्णन यहाँ प्रस्तुत है।

9.11.1 राज तंत्र

राजतंत्र व्यवस्था की मैकियावेली प्रिंसिपेलिटी के नाम से सम्बोधित करता है। मैकियावेली ने राजतंत्र के दो स्वरूपों को माना है। पहले प्रकार का वह राजतंत्र है जिसमें कोई राजा दूसरे राज्य को परास्त कर उस पर अपना शासन स्थापित करता है। दूसरा कोटि का राजतंत्र वशांनुगत राजतंत्र है जिसमें अपने पैतृक अधिकार के कारण कोई उत्तराधिकारी राज्य की सत्ता प्राप्त करता है। राजतंत्र का समर्थन मैकियावेली ने तत्कालीन इटली की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए किया है। उसके मतानुसार इटली की राजनीतिक अवस्था को सुचारू बनाने के लिए राजतंत्र का समर्थन किया है। मूल रूप से तथा साधारण परिस्थितियों में वह गणतंत्रीय शासन को अच्छा मानता है।

9.11.2 गण तंत्र

मैकियावेली डिसकोर्सेज में वह स्वीकार करता है कि गणतंत्र श्रेष्ट कोटी का शासन है क्योंकि इस व्यवस्था में अनेक गुण को देखता है। गणतंत्र में जनता की राजनीतिक जीवन में भागीदारी होती है, तथा विधि के माध्यम से शासन संचालित होता है। वह मानता है कि कानून द्वारा शासित राज्य स्थायी होता है। राज्य में स्थायित्व के लिए वह बल

के प्रयोग का समर्थक है फिर भी यदि बल का संयत रुप से प्रयोग किया जाये तो वह उचित है। मैकियावेली व्यक्ति की अनेक स्वतंत्रताओं का समर्थन डिसकोर्सेज में करता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने की स्वतंत्रता शासकों को चुनने की स्वतंत्रता, विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा शासन में सार्वजनिक हित के सुधारों को प्रस्तावित करने की नागरिकों की स्वतंत्रता इत्यादि स्वतंत्रताओं का वह समर्थक है। मैकियावेली यह भी मानता है कि नागरिकों की शासन के कार्यो में भागीदारी होनी चाहिए। उसने स्पष्टतया स्वीकार किया है कि जिस शासन में अधिकांश लोग भागीदार होते है वह शासन स्थायी होता है। वह वंशानुगत राजतंत्र की अपेक्षा जनता द्वारा चुने हुए राजतंत्र को अच्छा मानता है गणतंत्रीय शासन की अपेक्षा नागरिकों का भ्रष्टाचार रहित मत अधिक प्रभावशाली होता है इन विचारों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना उचित ही होगा कि भले ही प्रिंस में मैकियावेली के प्रति पादित विचार कितने ही निरकुंशवादी एवं सनकी क्यों न हो डिसकोर्सेज में उसने गणतंत्र एवं उदारवादी शासन का समर्थन किया है।

9.12 राज्य का विस्तार

राज्य के निरन्तर विस्तृत होते रहने की आवश्यकता बतलाते हुए मैकियावेली ने बतलाया कि मनुष्य का स्वभाव पारे की भाँति होता है। वह बारबार बढ़ते रहना चाहता है। यदि वैभव और व्यवस्था है तो राज्य को भी बढ़ना चाहिए। मनुष्य का स्वभाव चचल होता है वह स्थिर नहीं रह सकता अतः ऐसी कोई वस्तु शाश्वत या दीर्घजीवी नहीं हो सकती जो स्थिर रहे। अतः प्रिंस तथा डिसकोर्सेज में मैकियावेली ने यह समझाने की चेष्टा की कि राज्य मे अधिकृत प्रदेश को निरन्तर बढ़ाते रहने की आवश्यकता है। एक ही राजा के छत्र के नीचे शासितों की संख्या निरन्तर बढ़ती रहनी चाहिए। ऐसा उस समय तो बराबर ही होना चाहिए जब केन्द्रीय राजसत्ता को अपनी ही देश के किसी भूभाग को अपने अन्तर्गत लाना हो। उपरोक्त बात मैकियावेली ने इटली की दशा को देखते हुए कहीं थी। राजा को साम, दाम दण्ड और भेद की चारों नीतियों को काम में लाना चाहिए। उसे यदि आवश्यकता पड़े तो सेना का प्रयोग करने से भी नहीं चूकना चाहिए। शान्ति व्यवस्था और सुरक्षा की दृष्टि से राज्य के भूमि भाग को बढ़ाते रहना चाहिए।

9.13 सर्वशाक्तिमान विधायक की अवधारणा

आधुनिक भाषा में हम जिसे शासक कहते है मैकियावेली उस शासक को विधि दाता के नाम से सम्बोधित करता है। विधि दाता अर्थात विधायक, पर मैकियावेली की अपूर्व श्रद्धा है। उसका विश्वास है कि किसी सफल राज्य की स्थापना केवल एक व्यक्ति केवल एक सर्वशक्तिमान विधायक द्वारा की जा सकती है। उसकी मान्यतानुसार विधि दाता सर्वशक्तिमान है। विधि दाता द्वारा स्थापित राज्य तथा कानूनों के निर्माण से नागरिकों का चरित्र भी निर्धारित होता है। जैसे विधि दाता के कानून होंगे वैसा ही चरित्र उसके राज्य के सदस्यों का होगा। विधायक की बुद्धिमता और दूरदृष्टि के सहारे समाज की रक्षा ओर विकास संभव है। जिस तरह राज्य के संचालन हेतु उस पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं होते उसी प्रकार समाज रचना और समाज के विकास कार्य में भी विधि दाता पर किसी प्रकार की सीमाएँ नहीं है। विधि दाता यदि अपने कार्य में दक्ष है तो वह समाज व्यवस्था की रचना और उसके उत्थान के लिए सब कुछ कर सकता है। ऐसा करने में उस पर कोई बन्धन नहीं है। वह पुराने संविधान को बदल सकता है राज्य की पुर्नरचना कर सकता है, आबादी मनचाहे तरीके से स्थानान्तरित कर सकता है नैतिकता के नये मापदंड स्थापित कर सकता है, और शासनतंत्र को परिवर्तित कर नई पद्धतियों की व्यवस्था कर सकता है। मैकियावेली के विधि दाता की धारणा का अध्ययन करने से स्पष्ट होता है कि इन विचारों में सम्प्रभु की झलक है। आधुनिक काल में हम

सम्प्रभुता की जिस धारणा की चर्चा करते है मैकियावेली सम्प्रभुता की उस प्रकार की औपचारिक परिभाषा तो प्रस्तुत नहीं कर सका फिर भी उसने राज्यों की सर्वोच्च कानूनी शक्ति के लक्षणों का वर्णन सर्वशक्तिमान विधि दाता की अवधारणा के रूप में किया है। मैकियावेली की इस कमी को हॉब्स ने अपनी सम्प्रभूता की धारणा द्वारा पूरा किया है, मैकियावेली की इस कमी को हॉब्स ने अपनी सम्प्रभुता की धारणा द्वारा पूरा किया है, मैकियावेली ने सर्वशक्तिमान विधायक के जिन लक्षणों का वर्णन किया है हॉब्स उन्हीं लक्षणों के आधार पर सम्प्रभुता की विधिवत धारणा प्रस्तुत करता है।

9.14 विधि की अवधारणा

मैकियावेली विधानमण्डल को सर्वशक्तिमान मानता है। उसकी इस अवधारणा में विधि की अवधारणा भी सन्निहित है। मैकियावेली ने बतलाया है कि लोग विधि के आदेशों को भय के कारण मानते है। मैकियावेली की विधि की परिभाषा बहुत सीमित थी। वह केवल नागरिक विधि के अस्तित्व को ही स्वीकार करता था। उसका कहना था कि विधियाँ शासक द्वारा बनायी जाती है अतः उनका स्रोत शासक है। शासक या राज्य की उत्पति के पहले विधियाँ नही थी। अराजकता और विधि व्यवस्था का अभाव पर्यायवाची शब्द है। अराजकता की अवस्था में समाज और राज्य के सारे अंग विश्रिन्खलित हो जाते है। विधि का कार्य इन्ही विश्रिन्खलित अंगों के बीच सामंजस्य और समन्वय की स्थापना करना है। मध्य युग के विभिन्न लेखकों की भांति मैकियावेली ने विधि को प्राकृतिक, ईश्वरीय परम्परागत आदि वर्गो में विभक्त नहीं किया नागरिक विधि की अवधारणा को बतलाने के बाद उसने आगे और कुछ नहीं लिखा। उसका विधि और विधानमण्ड सम्बन्धी दर्शन भी अत्यन्त सीमित है। वह शासक को ही विधानमण्डल सम्बन्धी दर्शन भी अत्यन्त सीमित है। वह शासक को ही विधानमण्डल मानता है।

9.15 सेना का राष्ट्रीयकरण

सेनाओं के सम्बन्ध में भी मैकियावेली के विचार अत्यनत महत्वपूर्ण है। उसके समय में तीन प्रकार की सेनाएँ हुआ करती थी।

1. राष्ट्रीय सेनाएँ 2. राज्यिक सेनाएँ 3. किराये पर लड़ने वाली सेनाएँ

समकालीन इटली में जितनी विदेशी फौज लड़ने बाती थी, वे सब राष्ट्रीय सेनाएँ होती थी। ये सेनाएँ बहुधा स्पेन, फ्रांस और जर्मनी की होती थी। इनका मुकाबला इटली की छोटी2 रियासतों की सेनाओं को करना पड़ता था। इन सेनाओं में फूट भी रहती थी। इनके अलावा कुछ सेनाएँ किराये पर भी लड़ा करती थीं। इटली की सामरिक पराजयों के कारणों का निदान करते हुए मैकियावेली ने रियासती सेनाओं और किराये पर लड़ने वाली सेनाओं के बहुत से दोष गिनाये है। उसका कहना था कि ऐसी सेनाएँ दब्बू, कायर, लालची, और महत्वाकांक्षी होती है। इसकी प्रेरणा देने वाला लक्ष्य राष्ट्र की सेवा भाव नहीं बल्कि धन होता है। अतएव इस प्रकार की सेनाओं पर भरोसा करके इटली राष्ट्र राज्यों का सामना नही कर सकता। यदि इटली को स्वतंत्रता प्राप्त करनी है तो उसे भी फ्रांस आदि की भांति राष्ट्रीय सेनाओं का संघठन करना चाहिए और किराये तथा अन्य प्रकार की सेनाओं पर निर्भर रहना चाहिए।

9.16 राष्ट्रीयता की अवधारणा

आधुनिक युग में मैकियावेली ही ऐसा विचारक था जिसने राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये। किन्तु आलोचक ने इस सम्बन्ध में बड़े परस्पर विरोधी विचार प्रकट किये है। एलन का कहना है कि मैकियावेली ने यह

नही बतलाया कि राष्ट्र राज्य में कौन कौन से अंग होते है। विचारों की अस्पष्टता मैकियावेली की एक बहुत बड़ी त्रुटि है। एलन के मत के विपरित हरनशाँ का कहना है कि वस्तुतः राष्ट्र राज्य का जनक मैकियावेली ही था। यह बात इस अर्थ में स्वीकार की जा सकती है कि मैकियावेली ने ही सबसे पहले राष्ट्र राज्य की रूपरेखा दी। चाहे वह रुप रेखा अस्पष्ट ही क्यों न थी।

9.17 अपने युग के शिशु के रुप में मैकियावेली

मैकियावेली को प्रो. डर्निग ने अपने युग का शिशु कहा है। मैकियावेली जिस युग में पैदा हुआ था वह युग पुनर्जागरण का था जिस काल की प्रवृत्तियों का प्रभाव मैकियावेली के चिन्तन पर पड़ा था। 14 शताब्दी से 16 वीं शताब्दी का काल था जिस काल के विचारों ने मध्ययुगीन मान्यताओं को छोड़कर एक बार फिर से यूनानी मान्यताओं को स्वीकार करना आरम्भ किया। यूनानी चिन्तन के पुनः प्रसार के कारण मध्ययुगीन व्यवस्था टूटने लगीं और मध्ययुगीन चिन्तन बिखरने लगा तथा नवीन बौद्धिक सांस्कृति और राजनीतिक मूल्यों का प्रभाव यूरोप में दिखाई पड़ने लगा। यह काल प्रबद्धता और बन्धनमुक्ति का काल था। यूनानी चिन्तन के पुनः आविर्भाव के साथ ही मनुष्य समाज, प्रकृति, ईश्वर, कला साहित्य और राजनीति को देखने की नयी कसौटियाँ नये मापदण्डों का आविर्भाव हुआ। समाज की अपेक्षा अब व्यक्ति को महत्व दिया जाने लगा। मानव आबादी दृष्टिकोण के विकास के कारण अब माने जाने लगा कि मनुष्य ही सभी चीजों की कसौटी है। चर्च के नियंत्रण के विरुद्ध भी स्वतंत्रता की भावना का उदय होने लगा। यूरोपीय जगत में पूनर्जागरण की परिणामस्वरुप जिन नये विचारों का और दृष्टिकोण का जन्म हो रहा था। मैकियावेली उन विचारों से प्रभावित था। ये नवीन प्रवृत्तियाँ मैकियावेली के चिन्तन में प्रकट हुई। इसलिए उसे अपने युग के शिशु के रुप में मान्यता दी जाती है। मैकियावेली अनेक भाँति से अपने युग का प्रतिनिधि विचारक था। यह उसके दृष्टिकोण से स्पष्ट हो जाता है। मनुष्य स्वभाव का चित्रण, अध्ययन की ऐतिहासिक प्रणाली को चुनना, चर्च तथा पोप की सत्ता का खुला विरोध, राजनीति को धर्म तथा नैतिकता से पृथक करना, राष्ट्रीय राज्य की महत्ता को स्वीकार करना, सर्वशक्तिमान विधिदाता की अवधारणा का प्रतिपादन करना राष्ट्रीय सेना का विचार तथा सामन्तवादी वर्ग को राष्ट्रीय एकता में बाधा मानकर उस पर राजा के अंकुश को लगाना इत्यादि उसके ऐसे विचार थे जिन पर अपने युग का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पुनजार्गरण युग जो वैचारिक अथवा बौद्धिक प्रवृत्तियाँ थी, मैकियावेली के विचारों में उन प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति होती है। इसलिए उसे अपने युग का शिशु कहा गया है।

9.18 प्रथम आधुनिक विचारक के रुप में

राजनीतिक विचारों के इतिहास में मैकियावेली को पहला आधुनिक विचारक अथवा आधुनिक राजनीतिक वैज्ञानिक कहा गया है। इस मान्यता को पुष्ट करने के लिए निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते है।

1. मैकियावेली के पहले राजनीति का अध्ययन अनुभवमूल नहीं था। मध्ययुग के प्रायः सभी लेखक स्वंय सिद्ध मान्यताओं को स्वीकार कर उस आधार पर अपने राजनीतिक विचारों की व्यवस्थाएँ निर्मित करते हुए दिखायी पड़ते है। इसकी तुलना में मैकियावेली मध्ययुग की अध्ययन पद्धति को छोड़कर पर्यवेक्षणीय ऐतिहासिक एवं अनुभवमूलक पद्धति का प्रयोग करता है। आधुनिक काल में इस प्रकार की वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग करने वाला मैकियावेली पहला विचारक माना जाता है।

2. मैकियावेली की आधुनिक विचारक मानने के समर्थन में यह कहा जाता है कि उसने राजनीति और नैतिकता को पृथक किया है। मैकियावेली की मान्यता है कि राजनीति का एक स्वतंत्र दायरा है। राजनीति का दायरा सत्ता है। राजनीति का लक्ष्य सत्ता को प्राप्त करना सत्ता प्राप्त कर उसे दृढ़ बनाना तथा सत्ता का विस्तार करना है। इसकी तुलना में नैतिकता का सम्बन्ध मनुष्य के निजी व्यवहार के नैतिक पक्षों से जुड़े निर्णयों से रहता है। इस आधार पर मैकियावेली इस विचार का प्रतिपादन करता है कि राजनीति के उद्देश्य एवं साधन नैतिकता के उद्देश्यों एवं साधनों से सर्वथा पृथक है। राजनीति के क्षेत्र में संलग्न व्यक्तियों, शासकों और राजनीतिज्ञों के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे राजनीति में नैतिकता के साधनों का प्रयोग करें। मैकियावेली के लिए साधनों का नैतिक - अनैतिक होना निरर्थक मापदण्ड है। राजनीति को नैतिक और धर्म से पृथक करने के पीछे मैकियावेली का विचार था कि वह राजनीति को मध्ययुगीन बंधनो से मुक्त कर दे। मैकियावेली का यह प्रयास भी उसकी आधुनिक मानसिकता का परिचायक है।

3. मैकियावेली ने प्रिंस से अपेक्षा की कि कोई देशभक्त राजा इटली को राष्ट्रीय राज्य के रुप में संगठित करेगा। मेडीसी परिवार के शासक लोंरजो को सम्बोधित करते हुए उसने लिखा था, देखिए इटली की भूमि उस ध्वज के नीचे खड़े होने की बिनती कर रही है जो उसे विजय दिला सके यह मातृभूमि आपके घराने की ओर इस आशा से देख रही है। यदि आप उन आदर्शो का प्रयोग करेंगें जिनकी चर्चा मैने प्रिंस में की है तो यह कार्य आपके लिए तनिक भी कठिनल नहीं होगा। वे साधन दयावान एवं उचित है। जो मातृभूमि का उद्धार करें । मैकियावेली ने राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर राष्ट्रीय सेना की स्थापना का विचार प्रस्तुत किया था। राष्ट्रीय एकता का विचार भी मैकियावेली की आधुनिकता का द्योतक है।

4. आधुनिक राज्य की धारणा का प्रतिपादक आधुनिक काल की राजनीतिक व्यवस्था राज्य की धारणा पर आधारित है। मैकियावेली को यह श्रेय प्राप्त है कि उसने राज्य की धारणा को सर्वप्रथम अर्थ प्रदान किया। राज्य का आधुनिक अर्थ ऐसी राजनीतिक सम्प्रभु शक्ति है। जिसमें अपने नागरिकों और क्षेत्रों पर एकाधिकार है तथा जो शक्ति अन्तर्राजीय सम्बन्धों के क्षेत्र में भी सर्वोच्च एवं निर्बाध है। राज्य की धारणा का इस प्रकार का अर्थ मैकियावेली के ग्रंथों द्वारा ही प्रदान किया गया है। राज्य से जुड़ी हुई सम्प्रभुता की धारणा के लक्षणों की व्याख्या भी मैकियावेली द्वारा सर्वप्रथम की गयी है। राज्य और उसकी सम्प्रभु शक्ति के महत्व को पहिचानने वाले विचारकों में मैकियावेली आधुनिक काल का अग्रणी विचारक था।

5. व्यक्ति के आत्महित पर बल मैकियावेली का आधुनिक काल के उन विचारकों में प्रथम स्थान है जिन्होंने व्यक्ति के आत्महित अथवा स्वार्थ को राजनीति का केन्द्र बनाया। मैकियावेली मानता है कि मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी अथवा अहंवादी है इस तथ्य को शासक को पहिचानना चाहिए तथा शासन की व्यवस्था इस प्रकार से की जानी चाहिए जिससे कि व्यक्ति के आत्म हित को आघात न लगे।

अभ्यास प्रश्न के उत्तर में उपरोक्त का अध्ययन कर लिखिए

प्रश्न 1 दाँ प्रिन्स नामक ग्रन्थ की रचना किसने की ?

प्रश्न 2 मैकियावेली का जन्म किस सन् में हुआ था?

प्रश्न 3 मैकियावेली ने किस अध्ययन प्रणाली को अपनाया था ?

प्रश्न 4 डिस्कोर्सेज में मैकियावेली किस व्यवस्था का समर्थन करता है ?

प्रश्न 5 मैकियावेली राज्य को ....संस्था मानता है।

प्रश्न 6 राजतंत्र व्यवस्था को मैकियावेली .... के नाम से सम्बोधित करता है।

9.19 सांराश

उक्त ईकाई के अध्ययन से यह आप समझ गये होगें कि किसी भी राजनीतिक विचारक के राजनीतिक चितंन पर उसके समय की परिस्थितियां प्रभावित करती है। आपने देखा कि मैकियावेली मानव स्वभाव का बुरा चित्रण करता है। मैकियावेली मानव स्वभाव का बुरा चित्रण इसलिए प्रस्तुत करता है क्योंकि उसने इटली की दुर्दशा को देखा और उसके लिए पोप और चर्च को उत्तरदायी माना। वह इटली का एकीकरण करना चाहता है लेकिन चर्च व पोप को उस कार्य लिए अक्षम मानता है। मैकियावेली ने अपने समय की सांसारिक समस्याओं को अध्ययन का विषय बनाया तथा उन समस्याओं का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने के प्रयास किया। साथ ही मैकियावेली ने धर्म और नैतिकता का राजनीति से विच्छेद कर अपने विचारों को मध्ययुगीन विचारधारा से सर्वथा भिन्न बना दिया उसने राज्य की रक्षा के लिए नैतिकता तथा धर्म की धारणाओं को ताक पर रख दिया सिसरो की भाँति मैकियावेली भी मिश्रित संविधान को श्रेष्ठ मानता है और गणतन्त्र शासन को श्रेष्ठ मानता है अन्त में मैकियावेली ही इटली में राष्ट्रीयता की भावना पैदा करने वाला पहला विचारक था।

9.20 शब्दावली

गणतन्त्र:- वह शासन प्रणाली जिसमें सत्ता का अन्तिम सूत्र जनसाधारण के हाथों में रहता है। ताकि उसका प्रयोग जन हित को बढ़ावा देने के लिए किया जाए।

आधुनिकीकरण:- वह प्रक्रिया जिसमें कोई समाज पंरपरागत मूल्यों और संस्थाओं से आगे बठकर आधुनिक युग के अनुरूप जीवन पद्धति अपना लेता है।

सामन्तवाद:- मध्ययुगीन यूरोप में प्रचलित वह राजनीतिक व्यवस्था जिसके अन्तर्गत राज्य शक्ति स्थानीय जमीदारों मनसबदारों, इत्यादी में बंटी रहती थी। और अपना पर उत्तराधिकार के रुप आधारित थी।

राष्ट्रीयता:- वह स्थिति जिसमें कोई व्यक्ति किसी विशेष राष्ट्र राज्य का सदस्य माना जाता है, चाहे वह स्वयं उस राज्य में जन्मा हो, या उस राज्य से सम्बंन्ध रखने वाले परिवार से।

9.21 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

9.22 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मेहता जीवन- पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन

2. सिंह वीरकेश्वर प्रसाद- प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक

3. जैन पुखराज- पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन

9.23 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सूद जे0पी0- राजनीतिक चिन्तन का इतिहास

9.24 निबंधात्मक प्रश्न

1. धर्म व नैतिकता के सम्बन्ध में मैकियावेली के विचारों की विवेचना कीजिए ?

2. मैकियावेली आधुनिक युग का प्रथम विचारक क्यों माना जाता है ?

3. मैकियावेली सही अर्थो में अपने युग का शिशु था। समीक्षा कीजिए।

4. मैकियावेली के राज्य और सरकार के सम्बन्ध में विचारों की विवेचना कीजिए।

इकाई- 10 :जीन बोदाँ- (1530-1596)

इकाई की संरचना

10.1 प्रस्तावना
10.2 उद्देश्य
10.3 जीन बोदाँ की कृतियाँ
10.4 अध्ययन पद्धति
10.5 राज्य सम्बन्धी विचार
10.6 नागरिकता सम्बन्धी विचार
10.7 सम्प्रभुता सम्बन्धी विचार
10.7.1 संप्रभुता की सीमा सम्बन्धी विचार
10.8 जीन बोदाँ का राज्य एवं शासन के सम्बन्ध में विचार
10.9 जीन बोदाँ का सहिष्णुता सम्बन्धी विचार
10.10 जीन बोदाँ का क्रान्ति सम्बन्धी विचार
10.11 जीन बोदाँ का राजा तथा प्रजा के बीच संविदा सम्बन्धी विचार
10.12 जीन बोदाँ और मैकियावली की आधुनिकता के अग्रदूत के रूप में तुलना
10.13 सारांश
10.14 शब्दावली
10.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
10.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
10.17 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
10.18 निबंधात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

प्रसिद्ध दार्शनिक एवं राजनीतिक विचारक जीन बोदाँ का जन्म सन् 1530 में हुआ एवं बोदाँ का स्वर्गवास सन् 1596 में हो गया। बोदाँ के जीवन काल में फ्रांस गृहकलह एवं धर्मयुद्धों में फँसा हुआ था। सन् 1562 से सन् 1598 तक फ्रांस में 9 धर्मयुद्ध हुए थे। बोदाँ के विचार भी अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित थे। बोदाँ के अध्ययन एवं ज्ञान का क्षेत्र बहुत ही व्यापक था। उसने राजनीति, न्यायशास्त्र, इतिहास, मुद्रा, सार्वजनिक वित्त, शिक्षा एवं धर्म जैसे विषयों पर अपने विचार प्रस्तुत किए तथा कृतियाँ लिखी। बोदाँ अपने समय का सर्वाधिक मौलिक विचारक था। वह आधुनिक भी था और अनेक बातों में मध्ययुगीन भी। बोदाँ ने राजनीति के लगभग सभी पक्षों पर अपने विचार प्रस्तुत किये।

10.2 उद्देश्य-

बोदाँ का उद्देश्य फ्रांस में एकता की पुनर्स्थापना थी। उसने राजनीति के सभी पक्षों से फ्रांस की एकता पर विचार किया जो कि उसकी सार्वभौमिकता के सिद्धान्त से स्पष्ट है। उसके विचार रूढ़िवादी होते हुए भी पुनरूत्थान की भावना से ओत-प्रोत थे। उसके सिद्धान्तों में एकता और संगठन का प्रत्यक्ष सूत्रपात दिखाई देता है। उसने स्पष्ट रूप से फ्रांस के राजतंत्र का समर्थन किया क्योंकि उसका यह मानना था कि केवल राजतंत्र ही फ्रांस को विनष्ट होने से बचा सकता है और यह कार्य राजा की सर्वोच्चता द्वारा ही हो सकता है। निश्चित रूप से सम्प्रभुता के सिद्धान्त प्रतिपादित करने का श्रेय बोदाँ को ही है।

10.3 जीन बोदाँ की कृतियाँ

1. रेसपॉन्स (Response)
2. डेमीनोमैनी (Demenomanie)
3. हेप्टाप्लोमर्स (Heptaplomeres)
4. यूनिवर्स नेचर थियेट्रम (Universe Nature Theatrum)
5. सिक्स लिवर्स डि-लॉ-रिपब्लिक (Six Livers De-La-Republique)

10.4 बोदाँ की अध्ययन पद्धति-

बोदाँ का राजनीतिक विचार उसकी पुस्तक 'The Six Books on the Republic or State' से जान सकते हैं तो उसका दूसरा ग्रन्थ 'A Method for the Easy Understanding of History भी महत्वपूर्ण है। उसमें उस पद्धति का विवरण है जिसका प्रयोग उसने अपने राजनीतिक विकल्प में किया और जिसे बोदाँ नवीन समझता था। यह पद्धति भी दर्शन तथा इतिहास का सम्मिश्रण है। बोदाँ के अनुसार कानून के वास्तविक स्वरूप तथा मूल को समझने के लिये न्यायशास्त्री को इतिहासकर से सहायता लेनी चाहिये और विभिन्न देशों की कानून प्रणालियों का अध्ययन करना चाहिये। इस प्रकार उसे दर्शन तथा इतिहास का सम्मिश्रण करना चाहिए। बोदाँ के अनुसार मैकियावेली की अध्ययन पद्धति में दर्शन की सर्वथा उपेक्षा के कारण ही शायद वह नीतिशास्त्र तथा राजनीति में विच्छेद किया, क्योंकि उसकी पद्धति विशुद्ध रूप से अनुभव प्रधान थी; उसे दर्शन द्वारा परिष्कृत नहीं किया गया था। दूसरी ओर बोदाँ ने प्लेटो तथा मोर सरीखे स्वप्नदृष्टाओं (Utopians) की आलोचना इसलिये की कि क्योंकि उनका दर्शन अयथार्थवादी था क्योंकि उसका आधार ऐतिहासिक तथ्य नहीं था। बोदाँ की धारणा थी कि आदर्श पद्धति मे दर्शन और इतिहास दोनों का प्रयोग होना चाहिए। दर्शन इतिहास के तथ्यों के अर्थ प्रदान करता है तथा इतिहास दार्शनिक धारणाओं के लिये सामग्री प्रस्तुत करता है। ''तथ्य ठोस बनाते हैं और विवेक सारगर्भिता।'' अपनी राजनीतिक मान्यताओं का इतिहास के तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित करके बोदाँ ने अरस्तू की पद्धति को अपनाया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बोदाँ के सामने अपने कार्य का चित्र अपने समकालीनों की अपेक्षा अधिक व्यापक था। परन्तु जैसा कि सैबाइन का कहना है, बोदाँ में उस कार्य के सम्पन्न करने की पूर्ण क्षमता न थी; उसके राजनीतिक दर्शन में काफी प्रवंचना पाई जाती है। उसके पास कोई स्पष्ट प्रणाली न थी जिसके द्वारा वह अपनी ऐतिहासिक सामग्री को व्यवस्थित कर सकता। बोदाँ का अपनी कृतियों में मुख्य ध्येय इतिहास के लिए सामान्य दर्शन की खोज करना नहीं था, बल्कि केवल उसे सरलतापूर्वक समझने की एक पद्धति का पता लगाना था इसका परिणाम यह हुआ कि उसके ग्रन्थों में पाई जाने वाली अतुल ऐतिहासिक सामग्री में कोई व्यवस्था नहीं पाई जाती। परन्तु यह तो हमें मानना ही चाहिये कि कानून तथा राजनीति में घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनों का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टिकोण से होना चाहिये, बोदाँ का एक बड़ा गुण था। उसकी दार्शनिक अन्तर्दृष्टि तथा प्राकृतिक कानून में उसके विश्वास ने उसे मैकियावेली के नैतिक उपरामवाद (Moral Indifferentism) से बचा लिया। बोदाँ तथा मैकियावेली और बोदाँ तथा हॉब्स में यह एक आधारभूत अन्तर है।

अब हम बोदाँ के उस राजनीतिक दर्शन पर आते हैं जो उसकी कृति 'Books Concerning the State' में मिलता है। कई बातों में उसमें राज्य के मूल स्वरूप तथा राजनीतिक आज्ञापालन के विषय में हमें मौलिक विचार मिलते हैं। परन्तु वे पूर्ण रूप से स्पष्ट नहीं है। सबसे पहले हम अगली इकाई खण्ड में उसके राज्य के मूल तथा सामाजिक आधार पर विवरण देंगे, फिर उसके संप्रभुता के सिद्धान्त तथा अन्य विषयों का उल्लेख करेंगे और अन्त में यह देखेंगे कि राजनीतिक विचार के इतिहास में उसका क्या स्थान है।

10.5 जीन बोदाँ का राज्य सम्बन्धी विचार

राज्य के सम्बन्ध में बोदाँ के नवीन सिद्धान्त तथा नवीन मूल्यों को भली प्रकार समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि बोदाँ किन परिस्थितियों में और किस उद्देश्य को लेकर अपनी रचनायें कीं। ज्ञात रहे कि प्रोटेस्टेण्टों तथा कैथोलिकों के बीच धार्मिक संघर्ष ने राज्य की एकता तथा शक्ति को बड़ा धक्का पहुँचाया और शान्ति तथा व्यवस्था कायम रखने और जन-कल्याण की अभिवृद्धि करने की उसकी क्षमता को बहुत घटा दिया। इस लिये बोदाँ राज्य को धार्मिक विवादों से अलग रखना और यह सिद्ध करना चाहता था कि राज्य की शक्ति निरपेक्ष है जो उसके समस्त नागरिकों को नैतिक रूप से मान्य है। वह यह भी दिखाना चाहता था कि राज्य का समुचित कार्य सामाजिक कल्याण की अभिवृद्धि करना है, न कि अपने अनुसार सच्चे धर्म को कायम रखना। इस ध्येय की पूर्ति के लिए उसने उस सिद्धान्त को जो कि राज्य को एक दैविक संस्था समझता है और उस सिद्धान्त का जो कि शासन की जन-इच्छा के ऊपर आधारित करता है, खण्डन करना पड़ा।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि फ्रांसीसी तथा स्कॉटिश काल्विनवादी अन्तःकरण के नाम पर राज्य की शक्ति की अवज्ञा करते थे और व्यक्ति को राज्य से कहीं अधिक महत्ता देते थे। राजनीतिक शक्ति के प्रति काल्विनवादियों का यह दृष्टिकोण बोदाँ के उद्देश्य से ताल नहीं खा सकता था। बोदाँ का उद्देश्य राज्य के प्राधिकार की महत्ता सिद्ध करना था, व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं और अधिकारों की रक्षा करना नहीं। अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति बोदाँ ने राज्य की यह परिभाषा देकर की कि ''राज्य परिवारों तथा उनकी सामान्य सम्पत्ति का एक समुदाय है जिसके ऊपर सर्वोच्च शक्ति तथा विवेक का शासन है। यह परिभाषा 'सिक्स बुक्स कन्सर्निंग दि रिपब्लिक के लैटिन अनुवाद में जिसे 'डि रिपब्लिक लिब्रीसिक्स' या केवल 'डि रिपब्लिक' के नाम से ही जानी जाती है में दी गयी है।

उपरोक्त परिभाषा से प्रथमतया जो दर्शित होता है वह यह है कि बोदाँ राज्य को परिवारों तथा उनकी सामान्य सम्पत्ति का समुदाय बतलाता है, व्यक्तियों का नहीं। व्यक्ति का सम्बन्ध राज्य से परिवार तथा मजदूर संघ सरीखे अन्य समूहों की सदस्यता द्वारा है। बोदाँ के राजनीतिक दर्शन में व्यक्ति का व्यक्ति के नाते अधिक महत्व नहीं है।

दूसरी बात यह है कि यद्यपि अरस्तू का अनुकरण करते हुए बोदाँ राज्य को परिवारों का समुदाय बतलाता है। किन्तु उसे वह परिवार का स्वाभाविक विकास तथा मनुष्य की स्वाभाविक सामाजिकता की स्वाभाविक अभिव्यक्ति नहीं मानता जैसा कि महान यूनानी दार्शनिक मानता था, उसके अनुसार राज्य शक्ति की उपज है। दूसरे शब्दो में यह कहा जा सकता है कि जो सूत्र व्यक्तियों को परिवार, व्यापार संघ अथवा धार्मिक संघ जैसे समुदायों में बाँधता है वह उससे कहीं भिन्न है जो कि व्यक्तियों को राज्य के सदस्यों के रूप में एकबद्ध करता तहै। कुटुम्ब इत्यादि समुदायों में इस सम्बन्ध का आधार रक्त, मित्रता अथवा पारस्परिक समझौता हो सकता है किन्तु राज्य में यह बन्धन शक्ति का है।

ऐसा लगता है कि बोदाँ का यह मानना था कि वह एक परिवार जिससे मानव जाति का प्रारम्भ हुआ आगे चलकर प्राकृतिक कारणों से कई परिवारों में विभक्त हो गया। समुचित स्थानों पर उन्होंने अपने घर बसा लिये। सामान्य लाभ और हित के लिए एक दूसरे से मिलने की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वाभाविक होती है, इसी प्रवृत्ति के कारण बहुत से परिवार एक ऐसे स्थान पर बस गये जहाँ उन्होंने जल, रक्षा इत्यादि के दृष्टिकोण से दूसरों की अपेक्षा अच्छा समझा। ऐसे अच्छे स्थानों की संख्या सीमित थी। इसलिए परिवार उन पर अधिकार जमाने के लिए आपस में लड़ने लगे। उस संघर्ष में सबल की विजय हुई, निर्बल परास्त हो गये। विजेताओं ने पराजितों पर अपना स्थायी प्रभुत्व स्थापित करना चाहा और उस प्रक्रिया में वे स्वयं उन सरदारों की अधीनता में आ गये जिन्होंने कि लड़ाई में उनका नेतृत्व किया। इस प्रकार राज्य का जन्म हुआ। मानव इतिहास में इस बात का यथेष्ट प्रमाण है कि शक्ति को राज्य के जन्म का मुख्य आधार समझने में सत्य का काफी अंश है। राज्य के विकास में शक्ति चाहे एकमात्र या मुख्य साधन न रही हो, किन्तु एक महत्वपूर्ण साधन वह अवश्य रही है। सामाजिक शक्तियों का बोदाँ एक तीक्ष्ण विश्लेषणकर्ता था।

बोदाँ द्वारा की गई राज्य की परिभाषा में तीसरी बात ध्यान देने योग्य यह है कि राज्य पर सर्वोच्च शक्ति का शासन होता है। सर्वोच्च शक्ति राज्य का सार है, यह राज्य को अन्य समुदायों से अलग करती है। इसे खो देने पर राज्य का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। राज्य की इस सर्वोच्च शक्ति को बोदाँ सम्प्रभुता कह कर पुकारता है। सम्प्रभुता का सिद्धान्त राजनीतिक दर्शन को बोदाँ की सबसे बड़ी देन समझी जाती है। उसके मत का सार है कि कानूनों को बनाने तथा उन्हें लागू करने की राज्य की शक्ति ही संप्रभुता है।

चौथी बात यह है कि बोदाँ के अनुसार राज्य के निर्देशन में विवेक का भी बड़ा हाथ होता है। यह एक महत्वपूर्ण विचार है। उसका अर्थ यह है कि राज्य में सर्वोच्च शासन अधिकार को जो चीज न्यायसंगत बनाती है वह है उसका विवेकसम्मत होना। राज्य और लुटेरों के एक गिरोह में भेद करने वाली इसके अतिरिक्त अन्य कोई चीज नहीं है। विवेक के कानून से बोदाँ का अर्थ कदाचित प्रकृति के कानून से था। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि वह राज्य का मूल शक्ति में देखता था किन्तु उसके अनुसार शक्ति स्वयं अपना औचित्य नहीं है। राज्य बन जाने के पश्चात् शक्ति उसका आधारभूत गुण नहीं रह जाता। अपने आपको न्यायसंगत बनाने के लिए सम्प्रभु को विवेक तथा नैतिक नियन्त्रण के अधीन रहना चाहिए। इस प्रकार बोदाँ ने उस रिक्त स्थान को भरने का प्रयत्न किया जो कि दैविक अधिकार सिद्धान्त के तिरस्कार से उत्पन्न हो गया था।

10.6 जीन बोदाँ का नागरिकता सम्बन्धी विचार-

बोदाँ की नागरिकता सम्बन्धी सिद्धान्तों में स्पष्ट आधुनिक तत्व मिलते हैं। आरम्भ में ही हमें बोदाँ की प्रणाली में एक ऐसी कठिनाई मिलती है जो अन्यत्र नहीं पाई जाती। उसके लिये राज्य का प्रारम्भिक तत्व परिवार है, व्यक्ति नहीं। व्यक्ति राज्य में अपनी भूमिका आधारभूत सामाजिक समुदायों की अपनी सदस्यता द्वारा अदा करता है। इस कठिनाई को बोदाँ यह कहकर दूर करता है कि परिवार का प्रधान नागरिक का परिधान केवल तभी धारण करता है जबकि वह घरेलू कर्तव्यों को छोड़ता है और सार्वजनिक कार्यों को करने के लिये अन्य परिवारों के प्रधानों से मिलने के लिए घर के बाहर निकलता है जो चीज उसे नागरिक बनाती है वह उन अधिकारों तथा विशेषाधिकारों का उपभोग नहीं है जो कि प्राचीन यूनान तथा रोम में नागरिकता की धारणा से सामान्यतया सम्बद्ध थे और जो आज भी इस शब्द के अर्थ का एक भाग है, बल्कि वह है उसका राज्य की सम्प्रभुता की अधीनता स्वीकार करना। उसके अनुसार नागरिक वह स्वतन्त्र व्यक्ति है जो कि राज्य की प्रभुशक्ति के अधीन है। नागरिकता की इस प्रचलित परिभाषा में कि 'नागरिकता राज्य के प्रति शक्ति है' बोदाँ के सिद्धान्त का प्रभाव प्रतिबिम्बित है।

10.7 संप्रभुता (**Sovereignty**) सम्बन्धी विचार -

संप्रभुता का सिद्धान्त जो कि उसके राजनीतिक दर्शन का सबसे अधिक आधारभूत अंग तथा आधुनिक राजनीतिक विचार को उसकी मौलिक देन है। उससे पूर्व किसी भी राजनीतिक विचारक ने सम्प्रभुता की धारणा का प्रतिपादन नहीं किया। अरस्तु ने जिस सर्वोच्च शक्ति का उल्लेख किया है, उसे बोदाँ द्वारा प्रतिपादित सम्प्रभुता के विचार के अनुरूप समझा जा सकता है, वह कानून द्वारा परिमित थी जिसका स्रोत विवेक है। मध्य युग की परिस्थितियाँ इस धारणा के विकास के लिये अनुकूल न थीं। सम्राट की शक्ति एक ओर तो सामन्त सरदारों के अधिकारों द्वारा और दूसरी ओर पोप के श्रेष्ठतर शक्ति के दावों द्वारा सीमित थी। 16वीं शताब्दी में स्थिति सर्वथा भिन्न हो गई थी। इंग्लैण्ड तथा फ्रांस सरीखे राष्ट्र-राज्यों के राजाओं ने अभूतपूर्व एकबद्धता तथा केन्द्रीकरण प्राप्त कर लिया और अपने आपको पोप के नियन्त्रण से मुक्त कर लिया था। निःसन्देह यह सत्य है कि पवित्र रोमन सम्राट का अस्तित्व उस समय था और वह साम्राज्य के ऊपर नाममात्र का अधिकार जताता था। परन्तु बोदाँ के लिये उसका कोई महत्व न था उसके लिये फ्रांस का राजा हेनरी तृतीय ही सब कुछ था। अपने सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके बोदाँ उस प्रवृत्ति का सैद्धान्तिक औचित्य सिद्ध कर रहा था जो कि पश्चिमी यूरोप में सर्वत्र प्रधान हो उठी थी। फ्रांस, ब्रिटेन तथा स्पेन के राजा बोदाँ के मुख से यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुए होंगे कि ‘समस्त व्यक्तियों तथा समस्त विषयों’ पर उनका नियन्त्रण करने का प्रयत्न सम्प्रभुता के उन अदेय अधिकारों का ही प्रयोग था जो कि प्रत्येक राज्य में स्वाभाविक रूप से शामिल रहते हैं।

बोदाँ के अनुसार सम्प्रभुता एक राज्य में शासन करने की निरपेक्ष तथा स्थायी शक्ति है। वह नागरिक तथा प्रजाजन के ऊपर वह सर्वोच्च शक्ति है जिसके ऊपर कानून की कोई सीमायें नहीं है। इन शब्दों में बोदाँ का क्या तात्पर्य था, वह समझना आवश्यक है। यह कहकर कि राज्य अपने क्षेत्र के अन्तर्गत रहने वाले समस्त नागरिकों तथा प्रजाजन पर निरपेक्ष तथा अन्तिम शक्ति रखता है। बोदाँ दो उद्देश्यों की सिद्धि करना चाहता था। प्रथम, वह पोप तथा पवित्र रोमन सम्राट सरीखी किसी भी वाह्य सत्ता के राज्य के लौकिक विषयों के ऊपर अधिकार करने के दावे को निश्चित रूप से ठुकराता था। यह सम्प्रभुता का वाह्य स्वरूप था। दूसरे, उसने सामन्त सरदारों, नगरों तथा निगमों के किसी भी अदेय अधिकार को मानने से इन्कार कर दिया। उसके अनुसार वे सब साधारण नागरिकों के सदृश राजा की शक्ति के अधीन थे। उन्हें ऐसे अधिकार देना, जिनसे राजा भी उन्हें वंचित न कर सके, राज्य की सम्प्रभुता की निरपेक्षता को कम करना था। इसे हम सम्प्रभुता का आन्तरिक स्वरूप कह सकते हैं।

सम्प्रभुता को स्थायी बताकर बोदाँ यह सिद्ध करना चाहता था कि उसका प्रयोग समय-विशेष से सीमित नहीं है। उसके अनुसार वह राजा जो कि अपने जीवन-पर्यन्त निरंकुश शक्तियों का उपभोग करता है, बोदाँ के अनुसार प्रभुसत्ताधारी है, उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि वह ईश्वर को छोड़कर किसी को भी अपने से बड़ा नहीं समझता।

अन्तिम बात यह है कि बोदाँ के अनुसार ‘सम्प्रभुता पर कानून की कोई सीमायें नहीं होती। इसका अर्थ यह है कि वह व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह जो कि राज्य में सर्वोच्च शक्ति का उपभोग करता है स्वयं उन कानूनों से बाधित नहीं होता जिन्हें वह जनता के लिये बनाता है, वह कानून के ऊपर होता है। यदि शासक कानूनों से बाधित है तो फिर वह निरंकुश और सर्वोच्च कहाँ रहा? सचमुच निरंकुश तथा सर्वोच्च होने के लिये उसे कानूनों के ऊपर होना चाहिये। परन्तु बोदाँ एक क्षण के लिये भी यह नहीं सोचता कि राजा की सम्प्रभुता समस्त कानूनों से ऊपर है। वह केवल अपने बनाये हुए कानूनों के ऊपर है, अन्य प्रकार के कानूनों के नहीं। ‘समस्त शासक दैविक कानून,

प्राकृतिक कानून तथा इनसे निःसृत राष्ट्रों के सामान्य कानून से बाधित है। उसके यह मानने से कि सम्प्रभुता दैविक तथा प्राकृतिक कानून द्वारा सीमित है बोदाँ के सिद्धान्त में एक ऐसा तत्व आ जाता है जो उसे हॉब्स से एकदम भिन्न कर देता है, जिसका सिद्धान्त अन्य बातों में उसके बहुत निकट है। इससे प्रकट है कि वह अब भी 'उस महान मध्यकालीन परम्परा के निकट था जो कि राज्य तथा उसके कानूनों को न्यूनाधिक उस पूर्ण न्याय, शुभ, तथा सत्य के प्रतिबिम्ब के रूप में देखती थी जो कि प्रभु की नैतिक व्यवस्था में अभिव्यक्त होते हैं।

उपरोक्त जो भी कहा गया है उससे हम सम्प्रभुता की एक दूसरी विशेषता पर पहुँचते हैं। वह है नागरिकों की व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक रूप से कानून बनाने की शक्ति जिसके लिये किसी श्रेष्ठतर, हीनतर तथा समान श्रेणी वाले की अनुमति की आवश्यकता नहीं है। सम्प्रभुता ही कानूनों का एकमात्र स्रोत है जिसके द्वारा समाज के व्यापार, शासित तथा विनियमित होते हैं। बोदाँ के सिद्धान्त का यह एक आवश्क तत्व है कि प्रत्येक राज्य में एक ऐसा व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह होना चाहिये जो कि उसकी विधायनी क्रियाओं के ऊपर पूर्ण अधिकार रखता हो। अपने विधि-निर्माण के अधिकार के प्रयोग करने में प्रभुसत्ताधारी शासक को संसद सरीखे हीनतर अभिकरण के परामर्श को मानना आवश्यक नहीं है, उसके ऊपर कोई ऐसी उच्चतर शक्ति नहीं है जिसकी अनुमति उसके लिये आवश्यक हो या जो उसके बनाये हुये कानूनों को रद्द कर सके। यदि हम यह जानना चाहते हैं कि अमुक राज्य में सम्प्रभुता का निर्माण कहाँ है तो बोदाँ के अनुसार हमें यह पता लगाना चाहिये कि उसमें विधि-निर्माण करने की अन्तिम शक्ति कहाँ है।

बोदाँ के सम्प्रभुता के सिद्धान्त के विषय में भ्रान्त धारणा से बचने के लिये हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि बोदाँ के अनुसार सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग विवेक के अनुसार होना चाहिए। बोदाँ- लुटेरों के एक गिरोह की निरंकुशता तथा सम्प्रभुता के बीच बड़ा भेद करता है। अपने शासन-कार्य के लिये शासक ईश्वर के प्रति उत्तरदायी है, किन्तु किसी मानवी शक्ति के प्रति नहीं। प्राकृतिक या दैविक उच्चतर कानून का हॉब्स की कृतियों में कोई स्थान नहीं है। राज्य का प्रधान होने के नाते प्रभुत्ताधारी में अन्य गुण होते हैं, जैसे कि युद्ध की घोषणा करने, शान्ति स्थापित करने, न्याय-रक्षकों को नियुक्त करने, मुद्रा बनाने, अपराधियों को क्षमा प्रदान करने तथा कर लगाने के अधिकार।

इस प्रकार बोदाँ की सम्प्रभुता कोई अमूर्त अथवा अगम्य चीज नहीं रह जाती। यह एक साकार चीज है जिसकी परिभाषा की जा सकती है और जिसे व्यक्तियों को प्रदान किया जा सकता है। यह राज्य को समाज को शासित करने वाले कानूनों को बनाने की वैधानिक क्षमता है जो प्रत्येक राज्य में रहती है। यह सम्पूर्ण समाज में सामूहिक रूप से वर्तमान रह सकती है और उसी के द्वारा इसका प्रयोग किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में राज्य पूर्णरूपेण लोकतन्त्री होगा अथवा इसका स्वामित्व एक व्यक्ति में हो सकता है और वह वंशानुगत रूपसे उसके उत्तराधिकारियों को प्राप्त हो सकती है। ऐसी दशा में राज्य वंशानुगत राजतन्त्र हो जायेगा। किन्तु राज्य चाहे राजतन्त्री हो, कुलीनतन्त्र हो या लोकतन्त्री हो, उसमें प्रभुसत्ता जरूर होगी जो समस्त कानूनों का स्रोत है और जो स्वयं अपने बनाये हुये कानूनों से बाध्य नहीं है। वह अपनी इच्छानुसार उन कानूनो को बदल सकती है, उन्हें रद्द कर सकती है। यह सर्वोच्च सत्ता अविभाज्य और अदेय है। हथियाने (Prescription) का नियम भी उस पर लागू नहीं होता। समाज की इच्छा की सर्वोच्च अभिव्यक्ति होने के नाते यह अविभाज्य है, एक राज्य में दो या अधिक प्रभुसत्ताधरी नहीं हो सकते। यह अदेय है क्योंकि इसे राज्य से अलग करना राज्य को नष्ट कर देना है। अप्रयोग द्वारा यह भी नष्ट नहीं होती।

यह निरपेक्ष तथा सर्वोच्च शक्ति राज्य में स्वभावतः पाई जाती है। यह समाज की अपने हितों के लिए अपने सदस्यों के ऊपर अपनी इच्छा का प्रयोग करने की शक्ति है। यह नहीं कहा जा सकता कि इसे ईश्वर ने अपनी इच्छा की पूर्ति के लिये मनुष्य को दिया है। सारांश यह है कि सम्प्रभुता मूल रूप से मानव इच्छा की अभिव्यंजना है। समाज के बाहर इसका कोई स्रोत नहीं है।

10.7.1 सम्प्रभुता की सीमा सम्बन्धी विचार-

1. ईश्वरीय कानून की सर्वोच्चता-

बोदाँ इस बात के ऊपर बहुत जोर देता है कि सम्प्रभुता निरंकुश तथा अपरिमित है फिर भी वह मानता है कि उसकी कुछ सीमायें भी है। बोदाँ स्वीकार करता है कि सर्वोपरि कानून ऐसा है जिसके अधीन समस्त शासक होते हैं। वह है ईश्वरीय कानून प्राकृतिक कानून को इसी का एक अंग कहा जा सकता है। यह कानून सदाचार के कुछ अपरिवर्तनीय मापदण्ड निर्धारित करता है, जिनके अनुसार शासक को सदैव चलना चाहिए। इन्हीं मापदण्डों का अनुसरण करना एक राजा की शक्ति को वैध बनाता है। ईश्वरीय कानून, प्राकृतिक कानून तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून द्वारा लगाई गई सम्प्रभुता के ऊपर सीमाओं का यही सच्च अर्थ है। किन्तु इस प्रकार के कानून की व्याख्या करने का अधिकार स्वयं शासक को है, उसे शासक के ऊपर लागू करने के समुचित साधन नागरिकों के पास नहीं है। इसलिये ऐसे कानून द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों का कोई वैधानिक या राजनीतिक महत्त्व नहीं है। वे नैतिक है और इसीलिये स्वेच्छापूर्ण लगाए हुए हैं। स्वेच्छापूर्ण लगाये हुये प्रतिबन्धों को पारिभाषिक रूप से प्रतिबन्ध नहीं कहा जा सकता। इसलिये यह स्वीकार कर लेने से कि सम्प्रभुता ईश्वरीय कानून या प्राकृतिक कानून के अधीन है उसके निरंकुश तथा अपरिमित होने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता जो कि बोदाँ के विचार में उसका सबसे प्रमुख तत्व है।

किन्तु यथार्थ जगत में अधिकतर शासक ऐसे नहीं होते जैसे कि होने चाहिए। उनके बनाये हुए कानून सदैव उस उच्चतर ईश्वरीय कानून के अनुकूल नहीं होते जो कि विश्व में प्रत्येक चीज के ऊपर नियन्त्रण रखता है और जो मनुष्य को शुभाशुभ का ज्ञान प्रदान करता है। तब ऐसी स्थिति में जबकि शासक द्वारा बनाये हुए कानून और प्राकृतिक कानून में संघर्ष हो तो क्या होगा? क्या न्यायरक्षक को सम्प्रभु द्वारा बनाये गये कानून को लागू करने से इन्कार कर देना चाहिए? क्या नागरिकों को उसकी अवज्ञा करनी चाहिए। बोदाँ ने इन प्रश्नों का कोई प्रत्यक्ष उत्तर नहीं दिया, उसने ऐसी स्थितियों को केवल लघुत्तम सीमाओं के अन्दर बन्द कर दिया है किन्तु ऐसा करने से विडम्बना तो दूर नहीं हो जाती, वह तो बनी ही रहती है। ''कानून सम्प्रभु की इच्छा है और साथ ही साथ शाश्वत न्याय की अभिव्यंजना भी, तथापित दोनों में संघर्ष हो सकता है।

2.सांविधानिक कानून की प्रधानता

बोदाँ का कहना है कि राजा को राज्य के सांविधानिक कानून के विपरीत आचरण नहीं करना चाहिए। इस सिद्धान्त के अनुसार फ्रांस के राजा सिंहासन के उत्तराधिकार के कानून को नहीं बदल सकते थे जो कि सैलिक कानून (Salic Law) के अधीन था। वह कानून यह था कि ज्येष्ठतम पुत्र को अपने पिता का सिंहासन उत्तराधिकार में मिलना चाहिए। पुत्रियां उत्तराधिकार से सर्वथा वंचित थीं। राजसत्ता के ऊपर इस प्रतिबन्ध के औचित्य को सिद्ध करना पहले प्रतिबन्ध से कहीं अधिक कठिन है। बोदाँ ने इस प्रतिबन्ध को इसलिये स्वीकार कर लिया क्योंकि उस युग में प्रचलित कानूनी मत यह था कि राजसत्ता के प्रयोग से सम्बन्धित कुछ ऐसे कानून हैं जिन्हें राजसत्ताधारी नहीं बदल सकता। स्वभाव से तथा कानूनी शिक्षा-दीक्षा के कारण वह संविधानवादी था, इसलिए वह राज्य की प्राचीन

संस्थाओं को बनाये रखना चाहता था। परन्तु यदि शासक सचमुच सर्वोच्च है, यदि राजनीतिक समाज का शासक तथा प्रजा के सम्बन्ध के अतिरिक्त कोई अस्तित्व नहीं हो सकता तो समझ में नहीं आता कि शासक को उन कानूनों को बदलने का अधिकार क्यों नहीं होना चाहिए जिनके बनाने में उसका कोई हाथ न था। आगे चलकर हॉब्स ने ऐसा तर्क किया है इसके विपरीत, यदि राज्य एक ऐसा राजनीतिक समाज है जिसका अपना संविधान है और जिसके अपने काननू हैं जिन्हें शासक नहीं बदल सकता तो राजसत्ता तथा राजा को हमें एकरूप नहीं समझना चाहिए जैसा कि बोदाँ समझता था। इस प्रकार सांविधानिक कानूनों के इस बाध्यकारी स्वभाव को स्वीकार करने के बोदाँ के सिद्धान्त में एक दूसरी कठिनाई उत्पन्न हो गई।

3.निजी सम्पत्ति की अपहरणीयता-

सम्प्रभुता के ऊपर तीसरा प्रतिबन्ध है निजी सम्पत्ति की अपहरणीयता। बोदाँ निजी सम्पत्ति को पवित्र समझता था, उसका विश्वास था कि शासक सम्पत्ति को उसके स्वामी की इच्छा के बिना नहीं छू सकता। तात्पर्य यह है कि साधारण समय में बिना सहमति के राजा को प्रजा के ऊपर प्रत्यक्ष कर लगाने का कोई अधिकार नहीं है। एक ओर तो यह मानना कि राजा को मनमाने कानून बनाने का अधिकार है और दूसरी ओर यह कहना कि उसकी कर लगाने की शक्ति बहुत सीमित है, ये दोनों धारणायें एक दूसरे के साथ संगतिबद्ध नहीं हो सकती। यह कहना कि शासक की कर लगाने की शक्ति सीमित है, स्वयं अपना ही विरोध करना है। इस सम्बन्ध में हमें बोदाँ द्वारा की गई राज्य की परिभाषा को याद रखना चाहिये कि राज्य परिवारों तथा उनकी सामान्य सम्पत्ति का एक समुदाय है। जिन इकाइयों से मिलकर राज्य बना है वे अपनी सम्पत्ति सहित परिवार है। इस प्रकार बोदाँ की प्रणाली में सम्पत्ति के अधिकार एक आधारभूत महत्व रखते हैं। यही कारण है कि बोदाँ सम्पत्ति को सम्प्रभुता के ऊपर एक स्वाभाविक प्रतिबन्ध समझता है।

यह स्वीकार करने से निजी सम्पत्ति का अधिकार आधुनिक कानून तथा प्राकृतिक कानून शासक की निरपेक्ष शक्ति को सीमित करते हैं। एक आधारभूत प्रश्न खड़ा होता है, यदि शासक इन सीमाओं का उल्लंघन करे तो क्या नागरिकों को उसकी अवज्ञा करने का अधिकार है? उस युग के इस प्रमुख प्रश्न का बोदाँ ने कोई सीधा उत्तर नहीं दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि वह विद्रोह को उचित नहीं समझता था। शायद उसका विचार यह था कि जैसे जैसे सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं का विकास होता जायेगा, वैसे-वैसे वे प्राकृतिक कानून के अधिकाधिक अनुकूल होते जायेंगे जो कि उनके अनुसार कोई जटिल और कठोर विधि नहीं थी बल्कि अत्यन्त लचीली थी, नागरिकों का विद्रोह करना आवश्यक नहीं।

सम्प्रभुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला और उसका विश्लेषण करने वाला बोदाँ सर्वप्रथम राजनीतिक दार्शनिक था। इसलिए यदि उसकी इस आधारभूत धारणा की विवेचना में कुछ असंगतियाँ आ गई हैं तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। उसका यह आग्रह ठीक ही है कि सम्प्रभुता को निरंकुश तथा अपरिमित होना चाहिए, परन्तु वह यह भी अनुभव करता है कि यदि राज्य के उद्देश्य को समुचित रूप से पूरा करना है तो राजसत्ता के प्रयोग करने वाले व्यक्ति के ऊपर कुछ प्रतिबन्ध लगने चाहिये। दूसरे शब्दों में, उसके विचार की प्रवृत्ति यह थी कि राज्य की निरंकुश राजसत्ता तथा राज्य के प्रधान की सीमित शक्तियों में और प्रभुसत्ताधारी क्राउन (Crown) रूपी संस्था में तथा उसे वहन करने वाले सीमित शक्तियों वाले राजा में भेद है। वह इस महत्वपूर्ण विभेद पर इसलिए नहीं पहुँच सका क्योंकि राज्य की प्रभुसत्ता तथा शासन की प्रभुसत्ता को एकरूप मान लेने में उसने बहुत जल्दबाजी से काम लिया।

10.8 राज्य एवं सरकार सम्बन्धी विचार

राज्य तथा सरकार में बोदाँ विभेद करता तहै। उसका विचार था कि इस विभेद के न करने के कारण ही अरस्तु तथा अन्य विचारकों के सिद्धान्तों में कुछ दोष आ गये हैं। उसने कहा कि राज्य तथा सरकार दोनों के कई रूप हैं। राज्य का रूप सम्प्रभुता के निवास स्थान से निर्धारित होता है। सरकार का रूप इस बात के ऊपर निर्भर करता है कि सम्प्रभुता का प्रयोग किस प्रकार किया जाता है। यदि किसी राज्य में सम्प्रभुता एक व्यक्ति में है तो वह राजतन्त्र है यदि वह कुछ व्यक्तियों में है तो वह कुलीनतन्त्र एक व्यक्ति में है तो वह समस्त जनसाधारण में है तो वह लोकतन्त्र है। सम्प्रभुता को राज्य के विभिन्न तत्वों में विभाजित नहीं किया जा सकता, इसलिये बोदाँ मिश्रित राज्य की धारणा को स्वीकार नहीं करता। उसका यह कथन बहुत महत्वपूर्ण है कि सरकार का रूप राज्य के रूप के ऊपर निर्भर नहीं करता। एक राजतन्त्री राज्य में एक कुलीनतन्त्री अथवा लोकतन्त्री सरकार का होना नितान्त सम्भव है। कुलीनतन्त्री सरकार वह होती है जिसके अन्तर्गत राज्य के सम्मान तथा पद एक छोटे से वर्ग के सदस्यों का ही प्रदान किये जाते हैं और सर्वसाधारण को उनमें वंचित रखा जाता है। जनतन्त्री सरकार वह होती है जिसके अन्तर्गत राज्य के सम्मान तथा पद बिना वर्गगत भेदभाव के गुण के आधार पर प्रदान किये जाते हैं। इस कसौटी के अनुसार ब्रिटेन की सरकार गत शताब्दी के मध्य तक कुलीनतन्त्री थी और आज वह जनतन्त्री है। संसद द्वारा प्रभुत्व प्राप्त करने से पूर्व इंग्लैण्ड एक राजतन्त्री राज्य था, आज वह जनतन्त्री है।

राज्य के तीन रूपों राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा जनतन्त्र में से बोदाँ राजतन्त्र को, विशेष रूप से फ्रांसीसी ढर्रे के राजतन्त्र को सर्वश्रेष्ठ समझता था। क्योंकि उसके अनुसार राज्य की सर्वोच्च सत्ता को कुछ नागरिकों अथवा समस्त नागरिकों को सौंप देने से अराजकता आ जाने तथा प्रजा के नष्ट हो जाने का भय है। राजतन्त्र के इस मूल्यांकन को समझने के लिये हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि बोदाँ ने यह 16वीं शताब्दी के फ्रांस की परिस्थितियों में अपने राजनीतिक विचार प्रस्तुत किये थे।

10.9 सहिष्णुता सम्बन्धी विचार

‘सहिष्णुता’ ; वह विचार है जिसके लिए बोदाँ सुविख्यात है। उसने धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त का प्रचार उस समय किया जबकि धार्मिक दमन अपनी चरम सीमा पर था और कैथालिकों तथा प्रोटेस्टेण्टों में निरन्तर संघर्ष चल रहा था। परन्तु सहिष्णुता को उसने एक नीति के रूप में अपनाया, सिद्धान्त के रूप में नहीं। एक ऐसे राज्य में, जहाँ की कैथालिकों तथा प्रोटेस्टेण्टों की बड़ी-बड़ी संख्यायें हों, सरकार की ओर से सम्पूर्ण समाज पर एक ही धर्म को लादने का परिणाम घातक होगा, उसमें गृह-युद्ध छिड़ेगा और राज्य दुर्बल हो जायेगा। इस संकट से बचने के लिये यही उचित है कि राज्य धार्मिक विश्वास की विभिन्नताओं को सहन करें। परन्तु बोदाँ राज्य में नागरिकों को सहन करने के लिये तैयार नहीं, क्योंकि उसके मतानुसार वे अच्छे नागरिक बन ही नहीं सकते। वह यह भी चाहता है कि राज्य नये-नये सम्प्रदायों को न पनपने दें क्योंकि उनसे सामाजिक अव्यवस्था फैल सकती है। इस प्रकार बोदाँ की सहिष्णुता पर बहुत सी सीमायें थीं। जहाँ धार्मिक दमन में सफलता मिलने की बड़ी आशा है, वहाँ वह उसकी अनुमति दे देता है।

10.10 क्रान्ति सम्बन्धी विचार

अपनी कृतियों में क्रान्ति के विषय में भी बोदाँ विचार व्यक्त करते हैं जो कि अरस्तु के प्रभाव का संकेत करता है। किन्तु वह उससे काफी आगे जाता है। बोदाँ का आरम्भ बिन्दु यह विश्वास है कि मानव प्राणियों की भाँति राज्यों में परिवर्तन होते हैं। वे बढ़ते हैं, परिपक्व होते हैं, क्षीण होते हैं तथा नष्ट हो जाते हैं। ये परिवर्तन अपरिहार्य है। इसलिये एक बुद्धिमान शासक को उन्हें केवल नियमित करने का प्रयत्न करना चाहिये, उन्हें रोकने का नहीं। ये परिवर्तन धीरे-धीरे तथा शान्तिपूर्वक हो सकते हैं अथवा अकस्मात् और हिंसात्मक हो सकते हैं। उनका प्रभाव कानून, धर्म, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं के ऊपर पड़ सकता है या उससे भी आगे चलकर सम्प्रभुता के निवास स्थान को ही बदल सकता है। बोदाँ के अनुसार केवल उसी परिवर्तन को क्रान्ति कहा जा सकता है जिसके द्वारा राज्य का स्वरूप ही बदल जाता है जैसे कि राजतन्त्र का कुलीनतन्त्र अथवा लोकतन्त्र हो जाना या उसके विपरीत हो जाना। क्रान्तियों के वह तीन प्रकार के कारण बतलाता है- दैविक, प्राकृतिक तथा मानवीय। दैविक कारण सदा अदृश्य तथा अज्ञात रहते हैं। प्राकृतिक कारणों का जिनमें कि नक्षत्रों का प्रभाव भी सम्मिलित है हम पता लगा सकते हैं। किन्तु मानवीय कारणों के विश्लेषण में ही बोदाँ ने राजनीतिक चातुर्य का परिचय दिया है। इनकी रोकथाम के प्रसंग में उसने शासन की प्रत्येक शाखा पर विचार किया है। उसने इस बात के बड़े मूल्यवान सुझाव दिये हैं कि नागरिकां के साथ सम्बन्ध में, अंगरक्षकों की नियुक्ति में, धार्मिक मतभेद के विषय में तथा अन्य बहुत सी बातों में शासक को कैसा आचरण करना चाहिए। वाद-विवाद की असीम स्वतन्त्रता तथा शस्त्र रखने का अधिकार उसे पसन्द नहीं। इसी प्रसंग में वह भौतिक परिवेश तथा राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा उपरोक्त के जनता की सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं के ऊपर प्रभाव के अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। क्रान्तियों के कारणों के इस संक्षिप्त विवरण को समाप्त करने से पूर्व यह बताना आवश्यक है कि बोदाँ कोई समतावादी नहीं था, तथापित धनसम्बन्धी गहरी विषमताओं को वह राज्य के अन्दर विद्रोह का एक प्रमुख कारण समझता था। बोदाँ ने यह भी कहा कि शासक को कानून में बहुत जल्दी-जल्दी और बड़े-बड़े परिवर्तन नहीं करने चाहिये क्योंकि कानून में अत्यधिक हेर-फेर करने से क्रान्ति हो सकती है। बोदाँ के क्रान्ति सम्बन्धी विचारों पर टिप्पणी करते हुए मैक्सी ने कहा कि वह वास्तव में अनेक आधुनिक विचारकों से कहीं अधिक आधुनिक था।

10.11 राजा तथा प्रजा के बीच संविदा सम्बन्धी विचार

इकाई के अन्तिम पड़ाव पर बोदाँ के एक अन्य महत्वपूर्ण विचार का उल्लेख करेंगें। वह विषय है: प्रजा को दिये हुए वचन तथा सन्धियों का शासक को कहाँ तक पालन करना चाहिए? इस विषय का महत्व इसलिए है क्योंकि राजनीति तथा नीति के पारस्परिक सम्बन्ध पर इसका प्रभाव पड़ता है।

बोदाँ का कहना है कि शासक अपनी ली हुई शपथ तथा किये गये वादों से बाध्य नहीं है क्योंकि राजसत्ता को शपथ तथा वचन से परिमित नहीं किया जा सकता। परन्तु संविदा (ब्वदजतंबज) की बात दूसरी है। संविदा दो पक्षों के मध्य एक समझौता है और वह दोनों के लिये बाध्यकारी है। प्राकृतिक कानून का यह एक आदेश है कि संविदा का पालन होना चाहिए। इसलिये शासक को संविदा का पालन करना चाहिए। कानून राजसत्ता के क्षेत्र के अन्तर्गत आता है किन्तु संविदा नहीं। इसी प्रकार वह मैकियावेली की इस धारणा का विरोध करता है कि शासक को दूसरे शासकों के साथ की हुई संधियों के पालन करने की आवश्यकता नहीं, यदि वे उसके हितों के विरूद्ध हों। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में शासकों के आचरण को संयत रखने की आवश्यकता को वह स्वीकार करता है। इस प्रकार

हम कह सकते हैं कि यदि मैकियावेली राजनीति को नीतिशास्त्र से अलग करने का आग्रह करता था तो बोदाँ उन दोनों को मिलाने के लिए उतना ही संकल्पबद्ध था।

10.12 बोदाँ तथा मैकियावेली आधुनिकता के अग्रदूत-एक तुलना

राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में मैकियावेली व बोदाँ दोनों को ही आधुनिकता के अग्रदूत के रूप में स्वीकार किया जाता है किन्तु बोदाँ ने मैकियावेली के अनेक विचारों को विकसित किया, इस कारण वह उससे अधिक आधुनिक माना जाना चाहिए।

मैकियावेली ने मध्य युग की अनेक मान्यताओं और परम्पराओं का खण्डन किया। उसने राजनीति को व्यवहारिक बनाने का प्रयास किया। आधुनिक युग की अनेक मान्यताएँ व सिद्धान्त आज भी उसकी रचनाओं में दृष्टिगोचर होते हैं जैसे आधुनिक अध्ययन पद्धति का अनुसरण करना, राजनीति को नैतिकता से अलग करना आदि। इसी कारण डनिंग का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि ''यह कहना कि वह आधुनिक युग का प्रारम्भकर्ता है उसी प्रकार ठीक है जैसे यह कहना कि वह मध्ययुग को समाप्त करने वाला है। परन्तु यह भी ठीक ही है कि मैकियावेली के युग में बीज-रूप में जो विचार उत्पन्न हुए उनका विकास बोदाँ के ही युग में हो पाया। आधुनिकता के सम्बन्ध में दोनों की स्थिति निम्न आधार पर स्पष्ट हो जाती हैः-

1.अध्ययन पद्धति- मैकियावेली ने धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण अपनाया और मध्यकालीन इतिहास के माध्यम से अपने परिणामों को पुष्ट करने का प्रयास किया। मगर उसने इतिहास का निष्पक्ष आलोचनात्मक अध्ययन नहीं किया बल्कि अपनी धारणाओं को पुष्ट करने के लिए इतिहास से विभिन्न प्रमाण खोजने का प्रयास किया: मैकियावेली द्वारा राज्य के सम्बन्ध में अनेक ऐसे नियमों का प्रतिपादन किया गया जो शासन के संचालन से ही सम्बन्धित थे, वे राज्य के मौलिक सिद्धान्तों की श्रेणी में नहीं आते। बोदाँ ने इस स्थिति में सुधार किया। उसने ऐतिहासिक पद्धति को व्यापक रूप में अपनाया। साथ ही साथ उसने विधि-शास्त्र में तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन की आधुनिक पद्धति का भी श्री गणेश किया। परिणामस्वरूप उसकी पद्धति अधिक वैज्ञानिक बन गयी।

2.प्रभुसत्ता- मैकियावेली का राज्य तो प्रभुता सम्पन्न है कि वह प्रभुता का स्पष्ट विवेचन नहीं करता। किन्तु बोदाँ ऐसा प्रथम विचारक था जिसने राज्य का सैद्धान्तिक विवेचन करते हुए प्रभुसत्ता की धारणा पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला। प्रभुसत्ता की परिभाषा द्वारा उसने आधुनिक राजनीतिक चिन्तन को एक मौलिक धारणा प्रदान की। जार्ज केटलीन का मत है कि आधुनिक युग में 'सम्प्रभुता' (Sovereignty) का प्रयोग सबसे पहले बोदाँ ने अपने ग्रन्थ रिपब्लिक (Republic) में किया। प्रभुता-सम्पन्न शासक के बारे में बतलाते हुए उसने प्रभुसत्ता के तत्वों का भी वर्णन किया है। प्रभुसत्ता सम्बन्धी धारणा भी बोदाँ को मैकियावेली से अधिक आधुनिक बना देती है।

3.राज्य- मैकियावेली ने राज्य का कोई दर्शन प्रस्तुत नहीं किया, उसने राज्य के मौलिक तत्वों और सिद्धान्तों की उपेक्षा की। किन्तु बोदाँ ने राष्ट्र-राज्य की कल्पना का एक विकसित चित्र प्रस्तुत किया। इस प्रकार मध्यकाल के सार्वभौम साम्राज्य की कल्पना का अन्त करके राष्ट्रीय राज्य को राजनैतिक मानचित्र पर लाने का श्रेय बोदाँ को ही है। इसके साथ ही सम्प्रभुता का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में उसकी मौलिक देन है।

4.नागरिकता- मैकियावेली नागरिकता के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त नहीं करता। जबकि इस आधुनिक धारणा पर बोदाँ अपने स्पष्ट विचार व्यक्त करते हुए कहता है कि नागरिक वह स्वतन्त्र व्यक्ति है जो कि राज्य की प्रभु शक्ति के अधीन है। यह धारणा भी बोदाँ को मैकियावेली की तुलना में अधिक आधुनिक बनाती है।

5.नैतिकता और राजनीति- मैकियावेली ने राजनीति का नैतिकता से पृथक्करण किया। उसने राज्य को धर्म और नैतिकता दोनों से ही ऊपर उठाया। यह भी कहा जा सकता है कि उसने नैतिकता की भावना को तो लगभग त्याग ही दिया। बोदाँ ने इस क्षेत्र में अधिक तर्क संगत मार्ग अपनाया। उसने भी राजनीति को धर्म से पृथक किया मगर धर्म और नैतिकता को व्यक्तियों अथवा राज्य के लिए एक विजातीय वस्तु नहीं बनने दिया। उसने राज्य को धर्म का संरक्षक भी बनाये रक्खा और धार्मिक सहिष्णुता का आधुनिक विचार भी प्रदान किया। इस प्रकार बोदाँ ने मैकियावेली की अति और त्रुटि में सुधार किया। बोदाँ ने मध्य मार्ग अपनाया जिसमें उसे यह विश्वास था कि यह सच्चाई है।

6.भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव- प्लेटो और अरस्तु ने राजनीति पर भौगोलिक परिस्थितियों के प्रभाव को स्वीकार तो किया था परन्तु इस पर विस्तार से विचार नहीं किया। परन्तु इस सन्दर्भ में बोदाँ ने विस्तार से प्रकाश डाला। प्रो0 डनिंग के अनुसार भौगोलिक स्थिति के सामाजिक तथा राजनीतिक प्रभाव का बोदाँ का वर्णन सच्चे अर्थों में वैज्ञानिक है और इसमें बोदाँ मौलिकता का दावा कर सकता है। मैकियावेली ने इस विषय में वर्णन तक नहीं किया।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बोदाँ ने मैकियावेली के बीज रूप में उपलब्ध विचारों को विकसित किया और विभिन्न क्षेत्रों में अपनी मौलिकता और सूझ-बूझ का परिचय दिया। अतः कहा जा सकता है कि बोदाँ मैकियावेली की अपेक्षा अधिक आधुनिक था। किन्तु यह भी ठीक है कि बोदाँ अपने आपको मैकियावेली के समान मध्ययुगीन प्रभाव से मुक्त न रख सका जिसके कारण उसके विचारों में विरोधाभास दिखायी देता है।

अभ्यास प्रश्न

1.बोदाँ का जन्म किस देश में हुआ था?

a. फ्रांस b. ब्रिटेन c. जर्मनी d. भारत

2. बोदाँ अपने विचारों में मध्यकालीन तो नहीं रहा, किन्तु आधिनिक भी नहीं हो पाया। किसका कथन है-

.a लास्कीb. सेबाइन c. मैकाइवर d. गार्नर

3. निम्न में से कौन सा ग्रन्थ बोदाँ द्वारा लिखित है-

a. सिक्स लिवर्स डि-लॉ-रिपब्लिक b. यूनिवर्स नेचर थियेड्रम

c. हेप्टाप्लोमर्स d. उपरोक्त सभी

4. निम्न में से बोदाँ द्वारा लिखित ग्रन्थ कौन सा है-

A. रेसपॉन्स b. डेमीनोमैनी

c. उपरोक्त दोनों d. उपरोक्त दोनों नहीं

5. 'संप्रभुता' के सिद्धान्त का जनक कौन है-

a. हॉब्स b. मैकियावली c. बोदाँ d. लॉक

10.13 सारांश

निष्कर्षः हम कह सकते हैं कि यद्यपि बोदाँ का दर्शन भले ही प्रथम श्रेणी की कोई दार्शनिक संरचना नहीं थी किन्तु उन्होंने राजनीतिक चिन्तन के विकास को बड़ी हद तक प्रभावित किया था। बोदाँ ने मैकियावली के अधूरे कार्य को पूरा किया। मैकियावली के बीज रूप में उपलब्ध विचारों को विकसित किया और उनके विकास को करते समय उसने विभिन्न क्षेत्रों में अपनी मौलिकता और सूझ-बूझ का परिचय भी दिया। अतः कहा जा सकता है कि बोदाँ मैकियावली की अपेक्षा अधिक आधुनिक था किन्तु यह भी ठीक है कि बोदाँ अपने आपको मैकियावली के समान मध्यकालीन प्रभाव से मुक्त न रख सका, जिसके कारण उसके विचारों में विरोधाभास भी दिखाई देता है। इस तरह स्पष्ट होता है कि बोदाँ का सम्पूर्णर राजनीतिक दर्शन प्राकृति विधि के सिद्धान्त पर आधारित था।

10.14 शब्दावली

1. सम्प्रभुता- सम्प्रभुता राज्य का निर्माण करने वाले तत्वों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। वास्तव में यही वह कसौटी है जिसके द्वारा राज्य एवं अन्यान्य समुदायों के बीच भेद प्रकट होता है। सम्प्रभुता का तात्पर्य राज्य की उस सर्वोच्च शक्ति से है जो आदेश दे सकती है और उनका पालन करा सकती है। सम्प्रभुता के दो पहलू होते हैं- आंतरिक और वाह्य। आंतरिक रूप से राज्य सर्वोच्च होता है और वाह्य रूप से स्वतंत्र। राज्य के अन्दर निवास करने वाले प्रत्येक व्यक्ति एवं समुदाय के लिये आवश्यक है कि वह राज्य के आदेशों को शिरोधार्य करें। राज्य अपने से बाहर किसी शक्ति के आश्रित नहीं होता है।

2.नागरिकता- व्यक्ति तथा राज्य के बीच वैधिक सम्बन्ध जिसके आधार पर व्यक्ति की राज्य के प्रति निष्ठा होती है तथा राज्य व्यक्ति की रक्षा करता है। इस सम्बन्ध का निर्धारण राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत होता है और इसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त होती है।

3.क्रान्ति- अंग्रेजी का ''रेवोल्यूशन'' शब्द लैटिन के ''रेवोलूशियो'' से बना है जिसका अर्थ है सर्वाधिक प्रत्यावर्त्तन या नवीकरण। राजनीतिक इतिहास के क्षेत्र में ''रेवोल्यूशन'' शब्द को बल प्रयोग द्वारा राजनीतिक निर्णय की स्थितियों पर अधिकार करने के लिये और समाज की संरचना में आधारभूत परिवत्रन करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है। ''विप्लव'' और ''विद्रोह'', ''क्रान्ति'' से मिलते जुलते शब्द हैं जिनका तात्पर्य प्रायः असफल क्रान्ति से है।

10.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. a 2. b 3. d 4. c 5. c

10.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.राजनीति दर्शन का इतिहास-जॉर्ज एच0 सेबाइन

2.पॉलिटिकल थ्योरीज, एनसिएन्ट एण्ड मेडीवल-डनिंग

3.मास्टर्स ऑफ पॉलिटिकल थॉट- डब्ल्यू0 टी0 जोन्स

4.पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास-डा0 प्रभुदत्त शर्मा

5.राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा-ओ0पी0 गाबा

10.17 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.राजनीति-कोश- डा0 सुभाष कश्यप एवं विश्वप्रकाश गुप्त

2.पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक- आर0एम0 भगत

10.18 निबंधात्मक प्रश्न

1. बोदाँ के प्रभुसत्ता सिद्धान्त को विकसित कीजिए और उसका आलोचनातमक परीक्षण कीजिए।
2. बोदाँ का आधुनिक राजनीतिक चिन्तन के प्रति योगदानों का उल्लेख करिए।
3. राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में आधुनिक युग के आविर्भाव की सूचना मैकियावली नहीं बल्कि बोदाँ देता है। इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं।

टॉमस हॉब्स

इकाई की संरचना

11.1 प्रस्तावना
11.2 उद्देश्य
11.3 जीवन चरित्र, कृतियाँ
11.4 मानव स्वभाव
11.5 प्राकृतिक अवस्था
11.6 प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम
11.7 आत्मरक्षा की प्रकृति
11.8 राज्य की उत्पत्ति तथा उसकी प्रकृति
11.9 प्रभुसत्ता
11.10 नागरिक कानून
11.11 राज्य और चर्च
11.12 व्यक्तिवाद
11.13 आलोचना
11.14 सारांश
11.15 शब्दावली
11.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
11.17 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
11.18 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
11.19 निबंधात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

इस इकाई के पूर्व की इकाई १० में हमने बोंदा के राजनीतिक विचारों का अध्ययन किया है जिसके आधार पर हम यह कह सकते हैं कि यद्यपि बोदाँ का दर्शन भले ही प्रथम श्रेणी की कोई दार्शनिक संरचना नहीं थी किन्तु उन्होंने राजनीतिक चिन्तन के विकास को बड़ी हद तक प्रभावित किया था। बोदाँ ने मैकियावली के अधूरे कार्य को पूरा किया। मैकियावली के बीज रूप में उपलब्ध विचारों को विकसित किया और उनके विकास को करते समय उसने विभिन्न क्षेत्रों में अपनी मौलिकता और सूझ-बूझ का परिचय भी दिया। अतः कहा जा सकता है कि बोदाँ मैकियावली की अपेक्षा अधिक आधुनिक था किन्तु यह भी ठीक है कि बोदाँ अपने आपको मैकियावली के समान मध्यकालीन प्रभाव से मुक्त न रख सका, जिसके कारण उसके विचारों में विरोधाभास भी दिखाई देता है। इस तरह स्पष्ट होता है कि बोदाँ का सम्पूर्ण राजनीतिक दर्शन प्राकृति विधि के सिद्धान्त पर आधारित था।

अब हम इस इकाई ११ में हाब्स की राजनीतिक विचारों का अध्ययन करेंगे जिसमे हम यह देहेंगे कि किस प्रकार से हाब्स ने राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौते का सिद्धांत दिया है जिसमें उसने राज्य को एक साधन के रूप में स्थापित किया और उसे उपयोगिता के स्तर पर ले गया |

11.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम -

1.हाब्स की राजनीतिक विचारों के बारे में जान सकेंगे |

2.राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौते का सिद्धांत के बारे में जान सकेंगे |

3.व्यक्तिवादी विचार के सम्बन्ध में भी जान सकेंगे |

4.हाब्स के प्राकृतिक अवस्था और प्राकृतिक अधिकार के सम्बन्ध में भी जान सकेंगे |

11.3 जीवन चरित्र, कृतियाँ

हाब्स का नाम राज्य की उत्पत्ति के समझौतावादी विचारकों में प्रमुखता से लिया जाता है। इस सिद्धान्त का समर्थन सर्वप्रथम सोफिस्ट विचारकों ने किया था। हाब्स का जन्म 5 अप्रैल सन् 1588 को इग्लैण्ड के माजम्बरी नगर में हुआ था। इग्लैण्ड की ग्रह्युद्ध जनित स्थिति से डरकर वह फ्रान्स चला गया। यही पर उसने 'लेवियाथन' की रचना की। हॉब्स के विचारों को स्वागत इग्लैण्ड में 1650 में पुनः राजतन्त्र की स्थापना के बाद किया जाने लगा। क्योंकि हॉब्स अपनी लेखनी में अराजक स्थिति से निबटने के लिए राजतंत्र का समर्थन करता है। 1679 में उसका निधन हो गया।हाब्स के द्वारा निम्नलिखित पुस्कों की रचना गई है ----

Decive – 1642, De- corpora – 1642, Leviathan – 1651, Elements of Law – 1650,

11.4. मानव स्वभाव

- राज्य की उत्पत्ति के समझौतावादी सिद्धान्त के प्रतिवादन के क्रम में हॉब्स सर्वप्रथम मानव स्वभाव का चित्रण करता है। चूँकि गृहयुद्ध जनित और अराजक स्थिति को देखकर हॉब्स ने मानव स्वभाव के बुरे पक्ष का ही एहसास किया। इसलिए उसने मनुष्य को स्वभाव से असामाजिक प्राणी माना है। हाब्स मानता है मनुष्य अपनी दृष्टि और उसकी जरूरतों के अनुसार वस्तुओं को अच्छा या बुरा कहता है। मनुष्य का प्रत्येक व्यवहार स्वार्थ से प्रेरित होता है उसी से वह संचालित होता है। हाब्स के अनुसार प्रकृति ने सभी मनुष्यों को शारीरिक शक्तियों और बुद्धि में समान बनाया है। इसलिए किसी एक वस्तु की मांग कोई एक करता है तो उसी प्रकार के अन्य भी करते है। चूँकि वस्तुओं की संख्या सीमित है संघर्ष प्रारम्भ होता है। परिणामस्वरूप कभी न रूकने वाला संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। इन झगड़ों के पीछे हॉब्स तीन प्रमुख कारण मानता है-

1- प्रतिस्पर्द्धा 2- पारस्परिक अविस्वास 3- वेभव

हॉब्स के अनुसार चूँकि मनुष्य स्वार्थी है। इसलिए पारस्परिक संबंधों के सहयोग को कोई स्थान नहीं है। यदि है तो वह उसी सीमा तक जहाँ तक वह स्वार्थ सिद्धि सहायक है।

11.5 प्राकृतिक अवस्था

मानव स्वभाव के चित्रण के उपरान्त हाब्स प्राकृतिक अवस्था की विवेचना करता है और वह कहता है कि प्राकृतिक अवस्था पूर्व सामाजिक अवस्था है। जिसमें जीवन में सहयोग न होकर हिंसा प्रधान है। यह अवस्था जिसकी लाठी उसकी भैंस की है जिसमें अपने हितों की सिद्धि के लिए बल प्रयोग में विश्वास करते है। इस प्रकार से यह अवस्था प्रत्येक का प्रत्येक के विरूद्ध युद्ध की अवस्था हो जाती है। इस अवस्था में सभी के पास अपनी रक्षा के लिए अपनी चालाकि और शक्ति है। जो कि सभी में समान है। इसलिए इस अवस्था में संघर्ष भया वह होता है। जहाँ किसी की कोई सम्पत्ति नहीं होती, न ही इस असुरक्षित वातावरण में कोई उद्योग धन्धे संभव हैं। इस प्रकार हॉब्स की प्राकृतिक अवस्था की तीन प्रमुख विशेषताएं दृष्टिगोचन होती है -

1- नैतिकता का अभाव

2- न्याय, अन्याय की धारणा का अभाव

3- अनवरत संघर्ष की अवस्था होने के कारण सम्पत्ति का अभाव।

यहाँ एक तथ्य यह स्पष्ट करना नितांत आवश्यक है कि हॉब्स इस प्रकार के किसी प्राकृतिक अवस्था के ऐतिहासिक का दावा नहीं करता हैं। उसका उद्देश्य यह स्पष्ट करना था कि राजशक्ति के अभाव में लोगों के जीवन में इसी प्रकार की असुरक्षा और समाज में संघर्ष की स्थिति बनी रह सकती है इसलिए ऐसा अराजक और हिंसक स्थिति (जो कि ग्रहयुद्ध जनित वातावरण में दिखाई देता है) के निरक्षण के लिए एवं शक्तिशाली राजसत्ता का होना आवश्यक है।

11.6 प्राकृतिक अधिकार और प्राकृतिक नियम

हॉब्स अपने समझौतावादी सिद्धान्त के प्रतिदान के क्रम में जिस प्राकृतिक अवस्था की कल्पना करता है उस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति के पास कुछ भी प्राप्त करने का समान प्राकृतिक अधिकार देता है। परिणामस्वरूप प्रत्येक के विरूद्ध प्रत्येक के मूह का कारण प्राकृतिक अधिकार ही होता है। परन्तु प्राकृतिक अवस्था में भी व्यक्ति सुरक्षित जीवन जीने की लालसा रखते हुए, बुद्धि द्वारा कुछ नियम बना लेते है। इन प्राकृतिक नियमों को हॉब्स शान्ति की धाराएं कहता है। हॉब्स ने प्राकृतिक नियम को इस प्रकार परिभाषित किया है- ‘‘यह वह नियम है जो विवके द्वारा खोजा गया है, जिसके द्वारा मनुष्य के लिए वे कार्य प्रतिबंधित हैं जो उसके जीवन के लिए विनाशप्रद है और जिनके द्वारा उनको उन कार्यो को करने से कोई प्रतिबंध नहीं है, जो जीवन की रक्षा में सहयोग देते हैं। ’’ इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राकृतिक अधिकार प्राकृतिक अवस्था में अनवरत संघर्ष की स्थिति पैदा करते हैं तो , प्राकृतिक नियम, प्राकृतिक अवस्था के इस संघर्ष और अराजकता की स्थिति से उनकी रक्षा करते हैं। हॉब्स ने कुल 19 प्राकृतिक नियमों का उल्लेख किया है। जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं-

11.7 आत्मरक्षा की प्रकृति

चूँकि हाब्स अपने राज्य की उत्पत्ति के समझौतावादी सिद्धान्त में प्राकृतिक अवस्था का चित्रण करता है। और वह प्राकृतिक अवस्था ऐसी है जिसमें प्रत्येक के विरूद्ध युद्ध जैसी है। ऐसी स्थिति में हॉब्स के सामने सर्वप्रमुख प्रश्न आत्मरक्षा का है। जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर चुके है कि हाब्स ऐसी किसी प्राकृतिक अवस्था का ऐतिहासिक दावा तो नहीं करता है परन्तु यह स्पष्ट है कि उसके ऐसा कहने का तात्पर्य यह कि गृहयुद्ध जनित अवस्था या राज्यहीन व्यवस्था होने पर आत्मरक्षा का सवाल सर्वप्रमुख प्रश्न के रूप में सामने आता है। इसीलिए हाब्स ने आत्मरक्षा के सवाल पर विस्तार चर्चा की है। इसी क्रम में हॉब्स कहता है कि मनुष्य की मूलप्रकृति उसकी सुरक्षा की इच्छा है जिसके लिए वह सदैव प्रयत्नशील रहता है। तथा जो तथ्य इसमें सहायक होता है उसे वह अच्छा और जो सहायक नहीं होता है उसे बुरा कहता है।

इस प्रकार से स्पष्ट है कि मनुष्य अनवरत सुरक्षा की जरूरत महसूस करता हैं। इसी लिए वह अन्य सभी उपलब्धियाँ अर्जित करना चाहता है जिससे वह अपने सुरक्षा संबंधी चिन्ताओं का निराकरण कर सके। इसलिए किसी मनुष्य के

लिए अन्य मनुष्यों का वहीं तक महत्व है जहाँ तक वह उसकी सुरक्षा संबंधी विषयों को सकारात्मक या नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है।

हॉब्स मानव स्वभाव के दो पक्षों अभिलाषा और विवके की विस्तार से चर्चा करता है और कहता है कि अभिलाषा के कारण कोई मनुष्य सभी वस्तुओं को प्राप्त करना चाहता है, जिसकी चाहत अन्य लोग रखते है। चूँकि सभी शक्ति और बुद्धिमत्ता में समान है। इसलिए संघर्ष शुरू हो जाता है। जबकि विवेक के कारण मनुष्य आत्मरक्षा की प्रवृत्ति को महत्व देता है, जिससे वह शान्ति स्थापना पर बचन देता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जहाँ संकीर्ण अभिलाषा संघर्ष को बढ़ाती है वही विवेकपूर्ण स्वार्थ शान्ति स्थापना के लिए आधार तैयार करने का कार्य करता है।

हॉब्स कहता है कि चूँकि समाज में लोग विवेक के नियमों के अनुसार कार्य नहीं करते है वरन वे क्षणिक उद्वेगों से प्रेरित होकर आचरण करते है इसलिए मनुष्य अपने उद्वेगों को नियंत्रित करने की स्थिति में नहीं होता है। इसलिए हॉब्स कहता है कि एक ऐसी सर्वशक्तिशाली, प्रभुत्व सम्पन्न सत्ता की आवश्यकता है जो मनुष्य को विवेक के अनुरूप् आचरण करने के लिए विवश कर सकें परन्तु ऐसा होने के लिए आवश्यक है कि शासन प्रभवशाली हो, क्योंकि प्रभावशाली शक्ति सम्पन्न शासन पर ही सुरक्षा निर्भर करती है।

11.8 राज्य की उत्पत्ति तथा उसकी प्रकृति

हॉब्स मानता है कि मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी और संघर्षशील है। वह स्वभाव से शांतिपूर्ण रहने वाला नहीं है। इसलिए एक ऐसी सत्ता की आवश्कता होती होती हो जो उसे विवेक के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य कर सके तथा उल्लंघन पर दण्ड भी दे सके। हॉब्स मानता है कि ऐसी सत्ता केवल राज्य में ही संभव है जो सभी व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करती है और सभी को विवेक के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य कहर सकती है। तथा इसका उल्लंघन करने वाले को दण्डित भी कर सकती है। अन्ततः हॉब्स यह कहता है कि यह राज्य अपने अस्तित्व में सामाजिक समझौते के फलस्वरूप आता है।

यह समझौता सभी व्यक्तियों के बीच इस प्रकार से होता है कि जैसे हर एक व्यक्ति ने हर एक व्यक्ति से कहा हो कि ‘‘मैं इस व्यक्ति को या व्यक्तियों के समूह को अपना शासन, स्वयं कर सकने का अधिकार और शक्ति इस शर्त पर समर्पित करता हूँ कि तुम भी अपने इस अधिकार को किसी तरह (इस विशेष व्यक्ति या व्यक्ति समूह) समर्पित कर दो।

इस प्रकार सम्पूर्ण समुदाय एक व्यक्ति या समूह में संयुक्त हो जाता है सत्ता प्रयोग के संदर्भ में, इसे हाब्स राज्य (commonwealth) या लैटिन में सिविटास (Civitas) कहते है। हाब्स के अनुसार यही वह लेवियावन या महान देवता है जो हमें शान्तिपूर्ण और सुरक्षित जीवन प्रदान करता हैं इस प्रकार के समझौते से उत्पन्न सम्राट या प्रभुसत्ता (सर्वोच्चसत्ता) समझौते में कोई वचन नही देती है जिसका परिणाम यह होता है कि शासन व्यवस्था खराब होने के बाद भी जनमानस को शासन के विरूद्ध बोलने या विद्रोह का अधिकार नहीं होता है। क्योंकि यही शासन है जो शान्तिपूर्ण और सुरक्षित जीवन प्रदान करता है। जिसके विरूद्ध जाने का मतलब है प्राकृतिक अशान्त व्यवस्था में जाना।

उपरोक्त विवेचन के आधर पर हॉब्स के राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक समझौते सिद्धान्त की निम्नलिखित विशेषताएं हैः-

1- हॉब्स का यह समझौता सिद्धान्त सामाजिक और राजनीतिक दोनों है यह सामाजिक इसलिए है कि सभी लोग अपन व्यक्तिगत मनोवृत्त को त्यागकर एक साथ सामाजिक बन्धन को स्वीकार करते है जबकि राजनीतिक इसलिए है कि इसके फलस्वरूप सर्वशक्तिमान राजसत्ता की उत्पत्ति होती है।

2- इस समझौते में सम्प्रभु शामिल नहीं है। इसलिए यह सरकारी समझौता नहीं है क्योंकि यह समझौता तो व्यक्तियों के मघ्य होता है।

3- सम्प्रभु की सत्ता असीमित है अभर्यादित है क्योंकि वह समझौते अंग नहीं है वरन समझौते का परिणाम है वह किसी प्रकार की शर्तो से बधा नहीं है इसलिए वह निरंकुश भी है।

4- एक बार समझौता हो जाने पर उससे अलग होने का अधिकार किसी को नहीं है। इस समझौते के बाद किसी भी व्यक्ति के कोई अधिकार व स्वतंत्रता नहीं होती है क्योंकि समझौते के समय सभी ने अपने अधिकार और स्वतंत्रता का त्याग किया है। इसलिए उन्हें निरंकुश सत्ता के विरूद्ध किसी प्रकार के दावे को रखने का कोई अधिकार नहीं है।

5- समप्रभुत्ता विभाजित नहीं है। क्योंकि यह समझौते का परिणाम है वह सम्प्रभु चाहे एक व्यक्ति हो या व्यक्तियों का समूह।

7- चूँकि सम्प्रभुत्ता अभर्यादित, अविभाज्य है। इसीलिए वह विधियों का स्रोत भी है। उसका आदेश ही कानून है। किसी भी विशेष पर अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार सम्प्रभुसत्ता को ही है। युद्ध की घोषणा और सन्धि करने का अधिकार केवल इसी को है।

यद्यपि हॉब्स ने सम्प्रभुसत्ता को अमर्योदित और निरंकुश सत्ता सम्पन्न बताया। जिसके विरूद्ध जाने का अधिकार जनमानस को नहीं है परन्तु कुछ स्थितियों में हॉब्स ने राजा के आदेश की अवहेलना करने का अधिकार प्रदान करता है। हॉब्स कहता है कि यदि राजा व्यक्ति को अपने आपको मारने, घायल करने या जीवन रक्षक उपमाओं को प्रयोग करने का आदेश दे तो ऐसी आज्ञाओं का उल्लंघन करने का अधिकार है। क्योंकि शासन को जनमानस सुरक्षा की आवाश्यकता की पूर्ति के लिए ही स्वीकार करते है। इस प्रकार से हॉब्स अपने राज्य के सिद्धान्त की चरमव्याख्या में व्यक्तिवादी हो जाता और राज्य को उपयोगिता के स्तर पर ले जाता है जो कि कृतिम संख्या है, जिसे जनता ने अपनी आत्म रक्षा के लिए बनाया है।

11.9 प्रभुसत्ता

हॉब्स के प्रभुसत्ता के सि़द्धान्त को समझने के लिए यह आवश्यक है उसके समझौते वादी सिद्धान्त को समग्रता में समझने का प्रयास किया जाए। यहाँ यह पुनः बताना आवश्यक है कि चूँकि समझौते सिद्धान्त में जिस अराजक प्राकृतिक अवस्था की कल्पना हॉब्स करता है। उससे निजात पाने के लिए सभी ने एक दूसरे से किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह को अपने ऊपर शासन करने की सत्ता सौंप दी। इसके फलस्वरूप सम्प्रभुसत्ता की उत्पत्ति होती है जो स्वयं समझौते का अंग न होने के कारण किसी प्रकार से मर्यादित नहीं है। उस पर किसी प्रकार को कोई बन्धन नहीं है इस प्रकार से स्पष्ट है कि हॉब्स सम्प्रभुसत्ता का प्रबन्ध समर्थक था उसका सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न शासक पूर्णतः

निरंकुश है। उस पर किसी भी प्रकार की कोई मर्यादा नहीं है। उसने उन सभी मर्यादाओं को समाप्त कर दिया जिसे बोंदा ने सम्प्रभुता पर आरोपित किये थे।

हॉब्स के अनुसार सम्प्रभुता सभी कानूनों का स्रोत है। क्योंकि वही शान्ति व्यवस्था और सुरक्षा के लिए उत्तरदायी हैं। क्योकि ऐसी सत्ता समझौते के दौरान लोगों ने उसे दी है। सम्प्रभुत्ता निरपेक्ष है उसे जनसाधारण पर असीमिति अधिकार प्राप्त है जो किसी भी मानवीय शक्ति से मयादित नहीं है। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि वह प्राकृतिक कानूनों के भी अधीन नहीं क्योंकि वे तो कानून न होकर विवेक के आदेश है।

हॉब्स ने अपने सम्प्रभुता के सिद्धान्त शक्ति के विभाजन तथा नियंत्रण और सन्तुलन के सिद्धान्त को कोई महत्व नहीं पदान किया है क्योंकि वह मानता है कि सभी सत्ता का स्रोत स्वयं सम्प्रभु है तो सत्ता का विभाजन कैसे।

हॉब्स ने, बोंदा द्वारा सम्प्रभुता पर सम्पत्ति संबंधी अधिकार का बंधन अस्वीकार किया क्योंकि सम्पत्ति का सृजनहार भी वह सम्प्रभुता को ही मानता है क्योंकि बिना शांति और सुरक्षा के सम्पत्ति का सृजन संभव नहीं है। इसलिए संपत्ति के संबंध में कानून निर्माण का अधिकार भी सम्प्रभु को ही है।

इसके आगे हॉब्स कहता है कि सम्प्रभु के अधिकार बदले नहीं जा सकते (अपरिवर्तनीय) किसी को दिये नहीं जा सकते (अदेय) इनका विभाजन नहीं किया जा सकता (अभिभाज्य) है। ऐसा करना सम्प्रभुता को नष्ट करना होता है जिसका परिणाम होगा पुनः असुरक्षा का वातावरण जो कोई भी नहीं चाहेगा। अतः उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते है कि हॉब्स के सम्प्रभुता के सिद्धान्त में विरोधामास है। वह यह कि एक तरफ तो वह सम्प्रभुता को अभिभाज्य, अमर्यादित और हस्तान्तरणीय बताता है तो दूसरी तरफ वह जनमानस को सम्प्रभु के ऐसे आदेश का उल्लंघ करने की शक्ति प्रदान करता है जो उसकी आत्मरक्षा के विपरित है। साथ ही यह भी दुविधा है कि यह निर्णय कौन करेगा कि अब ऐसी स्थिति आ गई है। जब विरोध किया जा सकता है।

बोंदा की भॉति हॉब्स ने भी सम्प्रभुता के निवास के आधार पर ही शासन प्रणाली का वर्गीकरण किया है।

प्रभुसत्ता का निवास	शासन का स्वरूप
एक व्यक्ति में	राजतंत्र
कुछ व्यक्तियों में	कुलीनतंत्र
सब लोगों में	लोकतंत्र

हॉब्स कहता है कि मिश्रित एवं सीमित शासन प्रणाली की बात करना व्यर्थ है क्योंकि प्रभुसता अभिभाज्य अपरिवर्तनीय और उद्देश्य है।

यहाँ पर यदि हम हॉब्स और बोदा के प्रभुसत्ता सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो यह पाते हैं कि बोंदा ने अपने प्रभुसत्ता सिद्धान्त में प्रभुसत्ता पर कई प्रतिबंध आरोपित किये है। जैसे ईश्वरीय नियम, प्राकृतिक नियम और राज्य के मूलभूत नियम। परन्तु हॉब्स ने अपने सम्प्रभु पर ऐसे किसी प्रतिबंध को आरोपित नहीं किया है जो आरेपित किये भी है वह बंधन वैधानिक नहीं है। इस प्रकार से स्पष्ट है कि बोंदा के सम्प्रभु की तुलना में हॉब्स का सम्प्रभु अधिकार सम्पन्न है।

11.10 नागरिक कानून

हॉब्स कानून को सम्प्रभु का आदेश कहता है। और इन विधियों में को ही परम्परा या रीति प्रदान नहीं है, प्रधान है तो वह है सम्प्रभु की इच्छा। यही नहीं उस सम्प्रभु में अपनी इच्छा से निर्मित कानून को पालन करने की शक्ति भी निहित है। इसकी इच्छा से निर्मित किसी भी विधि को नैतिक मानदण्डों पर नहीं परखा जा सकता है। क्योंकि ये विधियाँ ही व्यवहार की मानदण्ड तय करती है।

हॉब्स ने विधि के दो प्रकार स्वीकार किये है

1- वितरणात्मक या निषेधात्मकः- इसके अंतर्गत नागरिकों के वैधानिक या अवैधानिक कार्यो का विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

2- अज्ञात्मक या दण्डात्मकः- इसके अंतर्गत एक तरफ निर्देश होते है जिनका पालन अनिवार्य होता हे जिनके उल्लंघन की दशा में दण्ड का प्रावधान भी होता हैं।

हॉब्स प्राकृतिक विधि और विधि में अन्तर भी करता है। वह कहता है कि विधि तो सम्प्रभु का आदेश है सम्प्रभु ही ऐसी विवियों का स्रोत भी है। और व्याख्याकार भी है। जबकि प्राकृतिक विधि विवेक का आदेश है। इसके पीछे कोई दण्डात्मक शक्ति नहीं होती जबकि विधि के पीछे दण्डात्मक शक्ति होती है जिसका पालन न किया जाने की स्थिति में उल्लंघनकर्ता, उल्लंघन कही मात्रा तक दण्ड का पात्र होगा।

यहाँ एक सवाल उठता है कि यदि सम्प्रभु का आदेश ही कानून है जिसका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता यह आज के लोकतान्त्रिक युग में कहाँ तक सम्भव है। इसका उत्तर शायद नहीं ही होगा। क्योंकि किसी भी लोकतान्त्रिक देश में अन्तिम सत्ता में निहित होती है। जिसे नियतकान्त्रिक चुनाव के आधार पर प्रभुसत्ता के परियोग करने वाले को बदलने का अधिकार प्राप्त होता है।

इसके साथ ही हॉब्स सम्प्रभु के उन आदेशों की अवहेलना करने का अधिकार जनता को प्रदान करता है। जो उसकी आत्मरक्षा के विरूद्ध हो।

इसके आगे हॉब्स सम्प्रभु को अधिक कानूनों के निर्माण न करने की बात करता है। क्योंकि इससे उनके अनुपालन को सुनिश्चित करने में अनेकानेक समस्या उत्पन्न होगी इस प्रकार हम देखते है कि एक तरफ कानून को सम्प्रभु का आदेश मानता है, जिसे सम्प्रभु सद्विवेक की अभिव्यक्ति कहता तो दूसरी तरफ आत्मरक्षा हेतु तलवार उठाने तक की अनुमति जनता को देता है। इस प्रकार हॉब्स का सम्प्रभुता सिद्धान्त में निरपेक्षता का पुट जितना दिखाई देता है, उतना है नहीं। हॉब्स के सम्प्रभुता सिद्धान्त में जो निरंकुशता दिखाई देती है वह भी उपयोगिता के कारण है और उपयोगिता है आत्मरक्षा जनमानस। इस प्रकार हॉब्स के इस निरंकुश प्रभुसत्ता में उदारवादी तत्व निहित प्रतीत होते है।

11.11 राज्य और चर्च

जैसा कि हम ऊपर यह स्पष्ट कर चुके है कि हॉब्स सर्वशक्तिशाली, प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य का समर्थन करता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि वह राज्य के समान्तर किसी भी ऐसी सत्ता को स्वीकार नहीं कर सकता जो

राज्य सत्ता को चुनौती दे। जैसा कि तत्कालीन समय में उसने यह देखा कि पादरी और पोप के दावे ऐसे थे कि यदि उन्हें छुट दी जाती तो वे धार्मिक क्षेत्र से बाहर जाकर शासकों को पदच्युत करने की सत्ता भी अपने हाथ में केन्द्रित करना चाहते थे। इसलिए हॉब्स ने स्पष्ट रूप से कहा है कि चर्च, राज्य के समकक्ष सत्ता न होकर उसके अधीन है। क्योंकि उस समय वह देख रहा था कि किस प्रकार से तत्कालीन पादरी और पोप ने समाज में अव्यवस्थाएं फैला रखी थी।

इसलिए हॉब्स धार्मिक सत्ता को, राजसत्ता के अधीन मानता है राज्य में सम्प्रभु ही सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्ता भी है, विशेय उसकी अनुकम्पा से ही आध्यात्मिक सत्ता प्राप्त करते हैं। हॉब्स इसके आगे कहता है कि जब निर्णय का आधार बुद्धि न होकर आलौकिक अनुभूति हो तो समाज में अराजकता का वातावरण होता है। इसीलिए हॉब्स ने चर्च को अंधकार का राज्य कहा है।

हॉब्स कहता है कि धर्म का आधार अदृष्ट शक्ति के प्रतिमय है। इसका फायदा आध्यात्मिक जगत उठाता है। अतः राज्य का दायित्व है कि अपने लोगों की इस भय की स्थिति से रक्षा करें। इस प्रकार हॉब्स ने चर्च को पूरी तरह से राजसत्ता के अधीन कर दिया है। यहाँ पर मार्सिलियों ऑफ पडुवा का जिक्र करना आवश्यक है कि इन्होंने आध्यात्मिक सत्ता और लौकिक सत्ता को पृथक कर, चर्च को नागरिक शासन के अधीन करने की जिस प्रक्रिया को आरम्भ किया था, हॉब्स ने उसे अंजाम तक पहुँचा दिया। अन्ततः हम कह सकते है कि हॉब्स ने आध्यात्मिक जगत को पूरी तरह से कानून और राज्य के अधीन कर दिया है।

11.12 व्यक्तिवाद

अभी तक हमने जितना अध्ययन किया है। उसको देखकर यह लगता है कि हॉब्स निरंकुश राजसत्ता का समर्थन करता है। परन्तु जब इसके आगे हम देखते है कि क्यों वह निरंकुश राजसत्ता का समर्थन करता है तो स्पष्ट होता है कि वह व्यक्तिवादी भी है क्योंकि ऐसा समर्थन वह व्यक्ति के लिए करता है उसकी सुरक्षा के लिए करता हैं। अर्थात अपने सिद्धान्त प्रतिवादन में मूलरूप से वह व्यक्तिवादी है और इस व्यक्ति की सुरक्षा के लिए राज्य को उपयोगिता स्तर पर ले जाता है।

हॉब्स ने चिन्तन में व्यक्ति अलग-अलग हैं जिनके हितो में टकराहट भी है। इनमें सामंजस्य बैठाने के लिए राजसत्ता का उद्भव होता है, समझौते के फलस्वरूप वह हित है आत्मरक्षा के अधिकार। इस अधिकार की रक्षा के लिए वह व्यक्ति को राज्यसत्ता के विरोध का अधिकार भी प्रदान करता है।

इस प्रकार जब हॉब्स राज्य को समझौते का परिणाम और कृत्रिम मानता है, जिसका दायित्व जनमानस की रक्षा करना है तो वह प्रबल व्यक्तिवादी हो जाता है। हॉब्स पहला विचारक है जिसने व्यक्ति के आत्मरक्षा के अधिकार को सर्वपरि महत्व दिया, और राज्य का दायित्व इस अधिकार की रक्षा करना माना, जो राज्य की उत्पत्ति का कारण और अस्तित्व का आधार है। इस प्रकार व्यक्ति अपने आप में साध्य है और राज्य साधन।

11.13 आलोचना

हॉब्स एक ऐसा विचारक था जिसे अपने समय में समाज और सत्ता के सभी पक्षों के आलोचना का शिकार होना पड़ा। उसकी आलोचना निरंकुश राजतंत्र वादियों के साथ लोकतंत्र वादियों ने भी की। साथ ही धार्मिक चिन्तकों ने

भी आलोचना की। क्लेरेडन ने तो हॉब्स की पुस्तक को जलाकर यहाँ तक कहा कि ‘‘मैंने कभी कोई ऐसी पुस्तक नहीं पढ़ी जिसमें इतना राजद्रोह विश्वासघात और धर्मद्रोह भरा हो।’’

निम्न आधार पर हॉब्स की आलोचना की जाती है:-

1.हॉब्स के चिन्तन की एक प्रमुख आलोचना उसके द्वारा मानव स्वभाव के विकृत स्वरूप के चित्रण के कारण की जाती है। क्योंकि उसने मनुष्य को स्वार्थी और झगड़ालू कहा है। जबकि मनुष्य में दया, प्रेम, सहयोग, त्याग आदि सामाजिक गुण भी पाये जाते हैं।

2.हॉब्स का समझौता सिद्धान्त भी भ्रम उत्पन्न करता है। एक तरफ तो मनुष्य को झगड़ालू और स्वार्थी कहता था जिससे प्राकृतिक अवस्था संघर्ष की अवस्था हो जाती है, फिर विवेक लोगों को प्राकृतिक अवस्था से मुक्ति के लिए समझौते के लिए तैयार करता है। फिर एक अन्य दुविधा कि समझौते में सम्प्रभु शामितन नहीं है जबकि सैद्धान्तिक दृष्टि से समझौता के लिए दो पक्ष होते हैं।

3.एक तरफ हॉब्स प्राकृतिक अवस्था की अराजकता से निराकरण के लिए निरंकुश राजसत्ता का समर्थन करता है तो दूसरी तरफ व्यक्ति को आत्मरक्षा के विरूद्ध किसी भी आदेश के विरूद्ध जाने का अधिकार भी देता है।

अभ्यास प्रश्न

१.हाब्स का हाब्स का किस सन में हुआ ?

२.हाब्स ने ‘लेवियाथन’ की रचना कहाँ पर की की।

, ३.Elements of Law पुस्तक की रचना किसने की ?

11.14 सारांश

उपरोक्त विवेचन के आधार पर हम यह कह सकते है कि हाब्स ने राज्य के उत्पत्ति के दैवीय सिद्धांत के विपरीत ,राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौता सिद्धान्त दिया है जिसमें राज्य अब एक साधन के समान है जो व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए लोंगों ने आपसी समझौते से बनाया है | जिसका यह संप्रभु समझौते में शामिल न होने के कारण सभी प्रकार की मर्यादाओं से मुक्त है | लेकिन इसी के साथ हाब्स यह भी कहता है यदि राज्य व्यक्ति को ऐसे कार्य करने के आदेश देता है जो उसके अस्तित्व के विपरीत है या उसे संकट में डालता है तो व्यक्ति को राज्य का विरोध भी करने का अधिकार है क्यों कि राज्य के निर्माण का उसका प्रमुख ध्येय आत्मरक्षा ही है |इस प्रकार से हाब्स व्यक्तिवादी विचारक के रूप में सामने उभरकर आता है |

11.15 शब्दावली

प्राकृतिक अवस्था - यह समाज हीन और राज्यहीन अवस्था है |

11.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१.1588 २.फ्रान्स ३.हाब्स

11.17 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.राजनीति दर्शन का इतिहास-जॉर्ज एच0 सेबाइन

2.पॉलिटिकल थ्योरीज, एनसिएन्ट एण्ड मेडीवल-डनिंग

3.मास्टर्स ऑफ पॉलिटिकल थॉट- डब्ल्यू0 टी0 जोन्स

4.पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास-डा0 प्रभुदत्त शर्मा

5.राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा-ओ0पी0 गाबा

11.18 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.राजनीति-कोश- डा0 सुभाष कश्यप एवं विश्वप्रकाश गुप्त

2.पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक- आर0एम0 भगत

11.19 निबंधात्मक प्रश्न

1.हाब्स के राज्य के उत्पत्ति के सिद्धांत की विवेचना कीजिये |

2.हाब्स एक व्यक्तिवादी विचारक था |इस कथन की व्याख्या कीजिये |

इकाई 12 जॉन लॉक

इकाई की संरचना

12.1 प्रस्तावना
12.2 उद्देश्य
12.3 जॉन लॉक के विचारों की पृष्ठभूमि
12.4 लॉक के सहिष्णुता सम्बन्धी विचार
12.5 लॉक का अनुभववाद
12.6 मनुष्य स्वभाव सम्बन्धी लॉक के विचार
12.7 प्राकृतिक अवस्था का चित्रण
12.8 लॉक का सामाजिक संविदा का सिद्धान्त
12.9 हॉब्स लॉक एक तुलनात्मक अध्ययन
12.10 लॉक के शासन सम्बन्धी विचार
12.11 सरकार के कार्य
12.12 व्यक्तिवाद
12.13 सम्पत्ति का अधिकार
12.14 लॉक के विचारों की आलोचना
12.15 सारांश
12.16 शब्दावली
12.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.18 संदर्भ ग्रन्थ सूची
12.19 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
12.20 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

इसके पहली की इकाई में हम हॉब्स के समझौतावादी राजनीतिक विचारों का अध्ययन कर चुके है। आपने यह देखा कि हॉब्स के अनुसार राज्य किसी देवीय शक्ति से उत्पन्न न होकर के समजिक आपसी समझौते का परिणाम है। जिसे आत्मरक्षा के लिए बनाया गया है।

इस इकाई में हम समझौतावादी विचारक लॉक के राजनीतिक विचारों का अध्ययन करेंगें। जिससे स्पष्ट होगा कि लॉक भी राज्य को समझौते का परिणाम मानता है। साथ ही यह भी देखेंगें कि हॉब्स के विपरित लॉक ने मानव स्वभाव के सकारात्मक पक्षों पर बल दिया है।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप समझ सकेंगें कि

1. लॉक हॉब्स के विपरित मानव के उदार पक्षों पर बल देता है।

2. आप जान सकेगें कि लॉक उदारवादी प्रजातान्त्रिक व्यवस्था का समर्थक है।

3. लॉक ने प्राकृतिक अवस्था को शान्ति, सदभावना पारस्परिक सहायता ओर संरक्षण की अवस्था बताया है।

4. सरकार का प्रमुख कार्य प्रत्येक सदस्य के जीवन स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा करना है।

12.3 जॉन लॉक के विचारों की पृष्ठभूमि

1642 ई0 में इंग्लैण्ड का गृह युद्ध इस कारण आरम्भ हुआ क्योंकि तत्कालीन राजा चार्ल्स प्रथम अपने शाही अधिकारों पर ब्रिटिश ससंद के किसी भी प्रकार के अंकुश को स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं था। यह विवाद राजा की शक्तियों और संसद की शक्तियों के बीच था। चार्ल्स प्रथम की हत्या, राजतंत्र का पतन, कॉमवैल की अध्यक्षा में कामनवैल्थ की स्थापना, आलिवर कामवैल का निरंकुश गणतंत्रीय शासन कॉमवैल का पतन तथा चार्ल्स द्वितीय को राजा बनाकर पुनः इंग्लैण्ड में राजतन्त्र की स्थापना, जेम्स द्वितीय को राजा बनाकर उसके विरूद्ध पुनः जनाक्रोश और विद्रोह तथा राजा जेम्स द्वितीय को विस्थापित कर उसके स्थान पर आरेन्ज के प्रिंस विलियम को इंग्लैण्ड की राजगद्दी पर बिठाया जाना, ये इन 47 वर्षो की प्रमुख घटनाएँ थी। 1688 ई0 की रक्तहीन क्रांन्ति के साथ प्रिंस विलियम को इंग्लैण्ड का राजा बनाएं जाने की घटना के साथ राजा निरंकुश शक्तियों का अन्त तथा

ससंद की शक्तियों का उदय हुआ। राजनीतिक चिन्तन के इतिहास के विधार्थियों के लिए याद रखने योग्य यह तथ्य है कि इस गृह यृद्ध की घटनाओं में हॉब्स का झूकाव राजतन्त्र एवं निरंकुश शासनतन्त्र के पक्ष में था इसके विपरित, लॉक संसदीय दल के समर्थक के रुप में रक्तहीन क्रांन्ति का समर्थन करता है। 1688 ई0 की रक्तहीन क्रांन्ति के जिन राजनीतिक दर्शन में आदर्शो की प्रस्थापना की थी। लॉक ने इन्ही आदर्शो का प्रतिपादन अपने राजनीतिक दर्शन में किया है। ऐसा लगता है। मानों लॉक रक्तहीन क्रांन्ति का समर्थन कर्ता दार्शनिक है। लॉक के राजनीतिक चिन्तन का सार यही है कि शासक की शक्तियाँ न्यास के समान है अतः शासन का कार्य समाज द्वारा सौपी हुई सत्ता रूपी धरोहर की रक्षा करना है।

12.4 लॉक के सहिण्णुता सम्बन्धी विचार

लॉक व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था। उसकी मान्यता थी कि राज्य अथवा किसी व्यक्ति/व्यक्ति समूह को दूसरे व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लॉक यह तर्क प्रस्तुत करता है कि मानवीय ज्ञान न तो जन्मजात और न ही यह ईश्वरीय रहस्योदघाटन है। मानवीय ज्ञान मनुष्य के विचारों की उपज है जन्म के समय मनुष्य का मस्तिष्क उस साफ सुधरी स्लेट के समान है जिस पर कुछ भी लिखा नहीं गया है। किन्तु अनुभव से उत्पन्न होने वाले विचारक था जो यह मानता था कि मनुष्य के विचार जन्मजात नहीं होते अनुभवों के साथ पेदा होते है। सत्ता को यह अधिकार कदापि नहीं हो सकता कि वह अपने विचारों को सही अथवा नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ मानकर दूसरों के ऊपर अपने विचारों को थोपे। सत्ता को सहिण्णु होकर दूसरों के विचारों का दमन नहीं करना चाहिए। लॉक के धार्मिक सहिण्णुता सम्बन्धी विचारों की पृष्ठिभूमि में ईसाई धर्म के विवाद थे जिनमें कुछ धार्मिक विचारकों ने यह प्रतिपादित किया था। कि जो व्यक्ति धर्म की आज्ञाओं का पालन नहीं करते, अथवा जो धर्म द्रोह का माप करते है, ऐसे व्यक्तियों को राज्य द्वारा दंडित किया जाना चाहिए। लॉक के अनुसार राज्य की शक्ति का उद्देश्य लौकिक शक्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना करना तथा सम्पत्ति की रक्षा करना, है न कि धर्म की स्थापना करना अथवा उसकी रक्षा करना राजा अपनी शक्ति को समाज के सदस्यों से प्राप्त करता है। इन विचारों से स्पष्ट होता है कि लॉक के धर्म सम्बन्धी विचार उदारवादी है। सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में सहिण्णुता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के कारण लॉक को राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में उदारवादियों की अन्तिम पंक्ति में स्थान दिया जाता है।

12.5 लॉक का अनुभववाद

लॉक के विचारों का स्वरूप अनुभववादी है। वह ज्ञान का अनुभव जन्य मानता है। उसके ज्ञान सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि वह मनुष्य के ज्ञान को जन्मजात नहीं मानता उसकी यह मान्यता है कि मानवीय मस्तिष्क में कोई जन्मजात प्रयत्न नहीं होते। जन्म के समय मानवीय मस्तिष्क साफ होता है जिस पर कुछ भी अेकित नहीं होता। मनुष्य को ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होता है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त अनुभव मनुष्य के मस्तिष्क में प्रवेश करता है जो उसमें चेतना एवं प्रतिबम्ब पैदा करतें है। मस्तिष्क में उनके विश्लेषण की तुलना करने की तथा उनको एकीकृत करने की प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया में विचारों की उत्पत्ति होती है। संक्षेप में लॉक के मतानुसार मनुष्य के विचारों का जन्म अनुभवों से होता है। विचारों को ज्ञान नहीं कहा जा सकता हाँ ये ज्ञान के साधन अवश्य है। ज्ञान का जन्म तब होता है जब मस्तिष्क द्वारा अनेक विचारों की तुलना करके सहमति अथवा इसके विपरित असहमति व्यक्त की जाती है। ज्ञान को अनुभव जन्म मानने के कारण लॉक को एक अनुभववादी विचारक माना जाता है।

12.6 मनुष्य स्वभाव सम्बन्धी लॉक के विचार

हॉक्स के अनुसार मनुष्य प्रकृति से ही स्वार्थी, झगड़ालू और आसामाजिक प्राणी है। किन्तु लॉक की मनुष्य स्वभाव सम्बन्धी मान्यताएँ हॉक्स से सर्वथा भिन्न है वह मानता है कि मनुष्य में स्वाभाविक अच्छाई होती है। प्रकृति ने मनुष्य को एक महान गुण से विभूषित किया है और वह गुण है मनुष्य की विवेकशीलता मनुष्य में सहयोगी भवना होती है, वह सामाजिक प्राणी है। प्रकृति ने ही मनुष्य को शक्ति-प्रिय, नीति नियमों का आस्थावान तथा एकता और अच्छाई की चाह करने वाला प्राणी बनाया है। इसके अतिरिक्त, प्रकृति से ही मनुष्यों में समानता होती है। प्राकृतिक अवस्था समानता की अवस्था है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति एवं उसका क्षेत्राधिकार पारस्परिक होता है। तथा जिसमें किसी के पास दूसरे से अधिक शक्ति नहीं है। लॉक के मतानुसार मनुष्य की समानता शारीरिक अथवा मानसिक समानता नहीं है। अपितु वह नैतिक दृष्टि से दूसरे के समान होता है। मनुष्य स्वभाव सम्बन्धी लॉक के ये विचार उसके राजनीतिक विचारों के मूल में अवास्थित है।

12.7 प्राकृतिक अवस्था का चित्रण

हमें ज्ञात है कि हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था को एकाकी, दीन हीन कुत्सित, जंगली एवं क्षणिक बताया है। इसके विपरित लॉक ने प्राकृतिक अवस्था को शान्ति सदभावना, पारस्परिक सहायता और संरक्षण की अवस्था बताया है। सामाजिकता मनुष्य का वह मूल गुण है जिसके कारण वह प्राकृतिक अवस्था में अन्य सदस्यों के साथ रहता है एवं सहयोग करता था। प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य में भ्रातृत्व भवना एवं न्याय की भवना थी। उस अवस्था में मनुष्य निश्छल था और इसीलिए सुखी था। प्राकृति ने उन्हें समानता और स्वतन्त्रता का आशीर्वाद प्रदान किया था। अतः कोई किसी की मर्जी पर निर्भर नहीं करता था। मनुष्य अपने जीवन का यापन एवं अपनी धन सम्पत्ति का उपयोग स्वेच्छानुसार करता था। मनुष्य में मैत्री न्याय और सदभावना के गुण थे। लॉक का कथन है कि ‘‘प्राकृतिक अवस्था को शासित करने वाला एक प्राकृतिक कानून है और उस कानून को हम विवेक कहते है।

प्राकृतिक अवस्था का चित्रण करते हुए लॉक बताता है कि उस अवस्था में मनुष्य को कुछ नैसर्गिक अधिकार प्राप्त थे। लॉक की नैसर्गिक अधिकारों की धारणा का आशय यह है कि इन अधिकारों का निर्माता अथवा दाता राज्य

नहीं है। यह अधिकार नैसर्गिक है। प्रकृति ने ही मनुष्य को कुछ जन्मजात अधिकार प्रदान किये है। प्राकृतिक अधिकारों की धारणा को प्रस्तुत करने में लॉक का स्पष्ट मन्तव्य यह स्थापित करना है कि राज्य उत्पत्ति के पूर्व भी व्यक्तियों के अधिकार नैसर्गिक एवं राज्य से पूर्व है अतः राज्य की सत्ता इन अधिकारों का अपहरण नहीं कर सकता। लॉक के राजदर्शन की यह मूल मान्यता है कि राज्य की स्थापना व्यक्ति सिर्फ इसलिए करते है जिससे कि राज्य उनके अधिकारों की रक्षा करे।

लॉक के अनुसार इस अवस्था में प्राकृतिक विधि का शासन था जिसकी छत्रछाया में विवेक और समानता स्थापित थी तथा जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपने प्राकृतिक अधिकारों का स्वामी था। वह यह भी स्वीकार करता है कि दूसरे व्यक्ति के भी ऐसे ही प्राकृतिक अधिकार थे जिनका सम्मान किया जाता था। अतः प्राकृतिक अधिकार थे जिनका सम्मान किया जाता था अतः प्राकृतिक अवस्था में स्वतन्त्रता थी, स्वच्छन्दता नहीं।

यदि प्राकृति अवस्था इतनी अच्छी थी तब प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि उस अवस्था में रहने वाले लोगों ने उसे छोड़ कर राज्य की स्थापना क्यों की ? लॉक ने इसका उत्तर दिया है कि प्राकृतिक अवस्था में प्रत्येक मनुष्य प्राकृतिक नियम की अपने हित के अनुसार व्याख्या करता था जिसके परिणाम स्वरूप प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार था कि वह व्यवस्था अथवा कानून का उल्लंघन करने वालों को दंडित कर सके। प्राकृतिक अवस्था में दो व्यक्तियों के महत्व विवादों का निपटारा वह व्यक्ति स्वंय अपनी धारणानुसार कर लेता था, जबकि सही न्यायपूर्ण अवस्था में ऐसे विवादों का निपटारा तीसरी निष्पक्ष न्यायिक सत्ता के द्वारा किया जाना आवश्यक है। किन्तु प्राकृतिक अवस्था में तीसरी निष्पक्ष सत्ता का अभाव था। लॉक के विचारानुसार प्राकृतिक अवस्था में तीन प्रमुख असुविधाएँ थी।

1. प्राकृतिक अवस्था में प्राकृतिक विधि की कोई स्पष्ट परिभषा नहीं थी, अतः प्रत्येक व्यक्ति अपने मन के अनुकूल कानून को परिभाषित करता था।

2. प्राकृतिक विधि की स्पष्ट परिभाषा करने वाले किसी निष्पक्ष न्यायधीश का अभाव था।

3. ऐसी सत्ता का अभाव था जो प्रभावशाली रुप से उस विधि को लागू कर सके। क्योंकि प्राकृतिक कानून के क्रियान्वयन का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति में निहित था इसके परिणामस्वरुप प्रत्येक व्यक्ति अपने विवाद का स्वंय ही न्यायकर्ता बन जाता है। जिससे समाज का सहयोग टुटता है।

12.8 लॉक का सामाजिक संविदा का सिद्धान्त

सामाजिक संविदा:- प्राकृतिक अवस्था की असुविधाओं से मुक्ति पाने का मार्ग सामाजिक संविदा द्वारा प्राप्त होता है। लॉक के शब्दों में प्राकृतिक अवस्था को त्यागने के लिए मनुष्यों ने स्वेच्छा से समझौता किया जिससे कि वे एक समाज में सम्मिलित हो और संगठित हों ताकि उनका जीवन सुखी सुरक्षित और शान्तिपूर्ण हो जहाँ वे अपनी सम्पत्तियों का सुरक्षित रुप से आनन्द ले सकें।

लॉक द्वारा प्रतिपादित सामाजिक संविदा के स्वरुप के बारे में विचारकों के भिन्न -2 मत है । कुछ लेखक मानते है कि समाज और शासक के बीच एक ही समझौता हुआ जिससे राजनीतिक समाज अर्थात राज्य की स्थापना की गयी। इसके विपरित कुछ लेखकों कर मत है कि लॉक ने दो स्तर पर समझौतों के होने की कल्पना है। इनके

मतानुसार पहला समझौता सामाजिक था जो प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले मनुष्य के बीच पारस्परिक स्तर पर हुआ था जिसके परिणामस्वरूप समाज की स्थापना हुई। लॉक के कथनानुसार मूल संविदा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति प्राकृतिक कानून की स्वंय दंड देने के प्राकृतिक अधिकार का परित्याग करके ऐसा अधिकार सम्पूर्ण समाज को प्रदान करता है। दूसरा समझौता राजनीतिक था जो समाज और शासक के बीच हुआ जिसके द्वारा सिविल शासन की स्थापना की गई। लॉक के लेखन में यह पूर्णतः स्पष्ट नहीं है कि उसने एक या दो समझौतो की कल्पना की है। किन्तु उसने मूल समझौता शब्दों का प्रयोग किया है जिससे यह संकेत मिलता है कि इसके अलावा भी कोई दूसरा समझौता हुआ हो। मूल संविदा के द्वारा प्राकृतिक अवस्था के लोग समाज की स्थापना करते है। दूसरा समझौता समाज के सदस्यों तथा शासक के बीच होता है। जिससे राज्य जैसी संस्था की स्थापना होती है। पहले समझौते के द्वारा व्यक्ति यह निर्धारित करते हैं कि वे अपवने सम्बन्ध में व्यवस्था करने का अधिकार समाज को प्रदान करते है। इस प्रकार समझौता कर लेने के बाद समाज के व्यक्ति शासक के साथ समझौता कर उसे शासन करने का अधिकार कुछ शर्तो के साथ प्रदान करते है। शासक का समझौते द्वारा निर्धारित यह कर्तव्य है कि वह नागरिकों के नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा करेगा। यदि शासक संविदा की शर्तो का उल्लंघन करे अथवा सार्वजनिक हित के विरूद्ध शासन करे तब समाज को यह अधिकार होगा कि उल्लंघनकर्ता को अपदस्थ कर उसके स्थान पर नये शासन को स्थापित करे।

12.9 हॉब्स लॉक एक तुलनात्मक अध्ययन

संविदा द्वारा शासन के निमार्ण की लॉक की धारणा हॉब्स के विचारों से ठीक विपरित है। हॉब्स के मतानुसार सम्प्रभु शासक संविदा से बधा हुआ नहीं अपितु उसके बाहर एवं ऊपर है जिसके परिणाम स्वरूप राजनीतिक सत्ता का स्वरूप निरंकुश हो जाता है तथा जिसका कभी प्रतिरोध नहीं किया जा सकता है। इसके विपरित लॉक शासक को संविदा की शर्तो से प्रतिबंधित मानता है इस प्रकार लॉक सीमित शासन तन्त्र का समर्थन करता है। लॉक प्रजा को यह अधिकार देता है कि वह शासक का प्रतिरोध करे यदि शासक प्रजा के नैसर्गिक अधिकारों का अपहरण करने की कुचेष्टा करता है। हॉब्स का मत है कि प्रजा द्वारा संविदा के माध्यम से अपने समस्त प्राकृतिक अधिकारों को केवल आत्म संरक्षण के अधिकार को अपने पास रखते हुए सम्प्रभु को समर्पित कर दिया जाता है। तत्पश्चात नागरिकों के केवल वे ही अधिकार रहते है जिन्हें सम्प्रभु द्वारा प्रदान किया जाता है। इसके विपरित लॉक के मतानुसार नागरिक द्वारा राजसत्ता को केवल एक अधिकार सौंपा जाता है और वह अधिकार है, प्राकृतिक कानून को स्वाहितानुसार लागू करने का अधिकार। ऐसी धारणाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि हॉब्स की संविदा की धारणा निरंकुशवाद का और लॉक की धारणा व्यक्तिवाद का समर्थन करती है।

12.10 लॉक के शासन सम्बन्धी विचार

लॉक का कथन है कि शासन संविदा द्वारा निर्मित संस्था है लेकिन शासन का क्या स्वरूप है एवं उसके कार्य - कलाप क्या है, उसके कार्य - कलापों की क्या सीमाएँ है। लॉक के मतानुसार सरकार के कार्य मर्यादित होते है। सरकार की स्थापना करने में लॉक समुदाय और सरकार के बीच एक न्यायधारी न्यास के द्वारा सरकार की स्थापना की जाती है। सरकार को न्यासी बताकर लॉक यह प्रतिपादित करना चाहता है कि समाज ने समूचे समाज की शक्ति को धरोहर के रुप में सरकार को सौपा है। अतः सरकार का यह वैधिक दायित्व है कि वह उस धरोहर की रक्षा एक न्यासी के रुप में करे। यदि सरकार इस दायित्व का निर्वाह नहीं करे, अर्थात नागरिकों के जीवन स्वतन्त्रता ओर

सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा नहीं करे अथवा उनका अपहरण करे, तब समुदाय को यह अधिकार है कि उस धरोहर की अनचाही सरकार से पुनः अपने हाथों में लेकर उसे दूसरी सरकार को सौंप दे जो अधिकारों को सुरक्षित रख सके। लॉक यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि सरकार की शक्तियाँ समाज कह शक्ति की अपेक्षा सीमित है सरकार स्वहित के लिए नही अपितु समाज के हितों की रक्षा के लिए स्थापित की जाती है, तथा सरकार पर समाज का नियंत्रण सदा बना रहता है। सामाजिक हित का भाव वह अंकुश है जो शासन पर सदा लगा रहता है। लॉक की मान्यता है कि सरकार समुदाय के हितों की रक्षा के लिए समुदाय के प्रति उत्तरदायी है किन्तु समुदाय का सरकार के प्रति ऐसा कोई दायित्व नहीं होता। सरकार के स्वरूप में सम्बन्ध में लॉक की यही धारणा है कि सरकार समाज की धरोहर की रक्षा एक न्यासी के रुप में करती है। सरकार द्वारा इस धरोहर को हड़पने पर अथवा वचन भंग करने पर उसे अपदस्थ कर नये न्यासी की नियुक्ति का अधिकार सदा समुदाय के हाथों में रहता है।

12.11 सरकार के कार्य

लॉक का कथन है कि जिस महान एवं प्रमुख उद्देश्य से प्रेरित होकर मनुष्य अपने आपकों शासनाधीन करते है, एवं राज्य के रुप में संगठित करते है, वह उद्देश्य है, अपनी सम्पत्ति का संरक्षण सम्पत्ति शब्द से उसका तात्पर्य जीवन, स्वास्थ, स्वतन्त्रता और सम्पदा के अधिकारों की रक्षा करना है। आखिर ये ही वे प्राकृतिक अधिकार है जिनका उपभोग व्यक्ति प्राकृतिक अवस्था में करता था किन्तु इन अधिकारों की समुचित व्याख्या तथा उनका समुचित क्रियान्वयन करने वाली संस्था के अभाव में ये अधिकार असुरिक्षत थे। सरकार की स्थापना इसी उद्देश्य से की जाती है कि ऐसे प्राकृतिक अधिकार प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुरक्षित एवं स्थायी रहें। अतः सरकार का यह प्रथम कार्य हो जाता है। कि ऐसे सामान्य मापदण्डों की स्थापना करे जिसके द्वारा उचित अनुचित तथा न्यायपूर्ण अन्यायपूर्ण का बोध हो सके।

सरकार का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य ऐसी निष्पक्ष सत्ता का प्रावधान करना है जो व्यक्तियों के बीच के विवादों का स्थापित कानून के आधार पर निपटारा कर सके। आधुनिक भाषा में हम इसे सरकार के न्यायिक कार्य कह सकते है।

लॉक के अनुसार सरकार का तीसरा प्रमुख कार्य फैडरेटिव हैं। जिस कार्य करे आज हम सरकार के कार्यकारिणी कार्य कहते है। लॉक ने इन्ही कार्यो को फैडरेटिव कृत्य कहा है। लॉक के अनुसार सरकार के फैडरेटिव कार्य इस प्रकार है अपराधों को रोकना, समुदाय के हितों की रक्षा करना, नागरिकों के बीच के सम्बन्धों को नियमित करना युद्ध और शान्ति का संचालन करना तथा अन्य राज्यों से संधिया इत्यादि करना है। इस प्रकार लॉक सरकार के कार्यो को तीन भागों में बाँटता है विधायिनी, न्यायिक एवं कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य।

लॉक की ऐसी मान्यता है कि विधायी एवं कार्यकारिणी शक्तियों को सदैव पृथक रखा जाना चाहिए। ऐसी मान्यता है कि जो व्यक्ति कानून बनाते है उन्हीं व्यक्तियों के हाथों में उन कानूनों को लागू करने की शक्ति प्रदान नहीं की जानी चाहिए। इस प्रकार हम देखते है कि लॉक शक्ति पृथक्करणके सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए दिखायी पड़ते है। लॉक कहते है विधायनी एवं कार्यकारिणी शक्तियाँ पृथक होनी चाहिए एक ही संस्था में केन्द्रित नहीं होनी चाहिए। इसी प्रकार लॉक न्यायिक शक्तियों को भी विधायनी एवं कार्यकारिणी की शक्तियों से पृथक पृथक होनी चाहिए एक ही संस्था में केन्द्रित नही होनी चाहिए। इसी प्रकार लॉक न्यायिक शक्तियों को भी विधायनी एवं

कार्यकारिणी की शक्तियों से पृथक करने का पक्षधर है। विधि की व्याख्या करने का कार्य स्वतन्त्र न्यायपालिका का है हम देखते है कि लॉक के इन विचारों में शक्ति पृथक्करण के तत्व निहित है।

12.12 व्यक्तिवाद

लॉक के विषय में यह कहा जाता है कि लॉक की पद्धति में प्रत्येक वस्तु वयक्ति के चारों ओर घूमती है, प्रत्येक वस्तु को इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है कि व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता सब प्रकार से सुरक्षित रहे। व्यक्तिवाद लॉक के राजनैतिक विचारों का आधार है। उसके राजदर्शन में व्यक्ति परमसाध्य है और राज्य और समाज दोनों उसके अधिकारों को बनाये रखने के साधन है। जहाँ कहीं राज्य व्यक्ति के अधिकार में किसी प्रकार से बाधक होता है वहाँ उस पर प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए। इस प्रकार शासक जनता का प्रतिनिधि मात्र है। व्यक्ति समाज अथवा राज्य का किसी भी प्रकार का ऋणी नहीं है। इस वाक्य में लॉक का व्यक्तिवाद की परमसीमा दिखलाई पड़ती है।

लॉक राज्य को व्यक्ति के अधिकारों का संरक्षक तथा जनसेवा का माध्यम मानकर व्यक्ति को राज्य व्यवस्था का केन्द्र बिन्दु बना देता है। व्यक्ति के नैसर्गिक अधिकारों का संरक्षण करना, यही राज्य का दायित्व है। उसके विचारों में राज्य केन्द्रीय नहीं है, उसके दर्शन का केन्द्र बिन्दु व्यक्ति है यही लॉक का व्यक्तिवाद है। लॉक के दर्शन में व्यक्ति के लिए समूची राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण किया गया है । व्यक्ति के नैसर्गिक अधिकारों की रक्षा के लिए राज्य की स्थापना करना, व्यक्ति के अधिकारों का शासक द्वारा अपहरण करने पर ऐसे शासन को अपदस्थ करना व्यक्ति की सहमति को राज्य का आधार मानना इत्यादि ऐसे विचार है जिनका प्रतिपादन करने के कारण लॉक को व्यक्तिवादी दर्शन का प्रणेटा माना जाता है। अरस्तु यह कहना उचित नहीं है कि लॉक पूर्णतया और असीम रुप से व्यक्तिवादी था। इस सम्बन्ध में बोदाँ का जो कथन पीछे दिया गया है वह एकांगी सत्य है।

12.13 सम्पत्ति का अधिकार

लॉक व्यक्ति के निजी सम्पत्ति के अधिकार का प्रबल समर्थक है। उसके अनुसार व्यक्ति का सम्पत्ति का अधिकार प्रकृति प्रदत्त है। लॉक का मत है कि मनुष्य संविदा द्वारा सिविल समाज की रचना अथवा सरकार की स्थापना मात्र इसी उद्देश्य से करते है कि सरकार उनकी सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करे।

लॉक के अनुसार प्राकृतिक अवस्था में प्राकृति की वस्तुओं पर सभी का समान अधिकार था। तब भी किसी एक व्यक्ति का प्राकृतिक सम्पदा पर एकाधिकार नहीं था। जिस एक चीज पर उसको प्रकृति ने एकाधिकार प्रदान किया था, वह उसका स्वंय का निजी व्यक्तित्व किन्तु जब व्यक्ति ने अपने परिश्रम को प्रकृति की किसी वस्तु को संजोया संभाला अर्थात प्रकृति की सम्पदा के साथ अपने परिश्रम को मिश्रित किया तब वह वस्तु उस व्यक्ति की निजी सम्पत्ति बन गयी। लॉक का मत है कि सम्पत्ति का अधिकार किसी समझौते का परिणाम नहीं है क्योंकि व्यक्ति अपने जन्म के साथ साथ ही इसे प्रकृति से प्राप्त कर समाज में अवरित होता है। राज्य अथवा समाज ने इस अधिकार का निर्माण नहीं किया है। अतः सरकार अथवा समाज को किसी व्यक्ति से सम्पत्ति को छीनने का अधिकार भी नहीं है। लॉक के मान्यतानुसार सम्पत्ति व्यक्ति कर अनुलंघनीय अधिकार है।

लॉक के प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त का, विशेषतः सम्पत्ति के अधिकार का राजनीतिक चिन्तन को महत्वपूर्ण योगदान है। इस सिद्धान्त द्वारा लॉक ने यह प्रतिपादित किया था कि शासन प्राकृतिक अधिकारों से मर्यादित रहता

है तथा राज्य का दायित्व है कि वह व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा करे। इस अधिकार का समर्थन करके लॉक ने व्यक्तिवादी दर्शन की प्राण प्रतिष्ठा की। राजकीय हस्तक्षेप के सिद्धान्त ने लॉक के सरकार सम्बन्धी विचारों से गहरी प्रेरणा प्राप्त की है। दूसरी और लॉक के सम्पत्ति के सिद्धान्त की धारणा ने एडम स्मिथ तथा समाजवादी दर्शन के मूल्य सिद्धान्त को भी प्रभावित किया।

12.14 लॉक के विचारों की आलोचना

लॉक की सीमित राजतंत्र के उपरोक्त सिद्धान्तों के विरूद्ध निम्नलिखित तर्क उपस्थित किये गये है।

1. लॉक के सिद्धान्त में प्रभुता राज्य में नहीं बल्कि व्यक्ति में रहती जान पड़ती है। प्रभुशक्ति के अभाव में राज्य की विशेषता नष्ट हो जाती है।

2. लॉक राज्य को विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए बनी हुई एक लिमिटेड कम्पनी का रुप देता है राज्य के स्वरुप की उसकी कल्पना यथार्थ नहीं है।

3. प्राकृतिक दशा में मानव समाज का लॉक द्वारा खीचा गया चित्र अच्छा होने पर भी वास्तविकता से दूर है। जब प्रकृति में राज्य में मनुष्य को कोई कठिनाई नहीं थी तो केवल कानून की व्याख्या और उसे लागू करने के लिए राज्य की उत्पत्ति की कल्पना राज्य का पर्याप्त कारण नहीं है।

4. अनेक विचारक लॉक के सिद्धान्तों में कोई मौलिकता नहीं मानते। सामाजिक संविदा, प्राकृतिक नियम, प्राकृतिक अधिकार और क्रांन्ति के अधिकार आदि के विषय में लॉक के सिद्धान्त उसके पहले से चले आते हुए विचारों पर आधारित है।

लॉक का योगदान

पाश्चात्य राजशास्त्र के इतिहास मं लॉक का स्थान महत्वपूर्ण है। उसके शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त को आगे चलकर मान्टेस्क्यू ने विकसित किया। उसके सिद्धान्तों के आधार पर रुसो ने लोकप्रिय प्रभुता का सिद्धान्त बनाया। उसके सिद्धान्त अधिक व्यवहारिक थे। उसका यह कहना आज भी सब कही मान्य है कि शासन जनता की इच्छा पर आधारित है। उसका लोकप्रिय प्रभुता का सिद्धान्त आधुनिक जनतंगीय राज्य का आधार है। उसकी निरपेक्ष राज्य की कल्पना अधिकतर आधुनिक राज्यों में साकार हुई है। प्राकृतिक अधिकारों के विषय में उसका सिद्धानत आधुनिक राज्यों में नागरिक के मौलिक अधिकारों का आधार है।

अभ्यास प्रश्न -

1. 'ए लैटर ऑन टॉलरेशन' नामक ग्रन्थ के लेखक कौन है ?

2. इंग्लैण्ड की रक्तहीन क्रांन्ति कब हुई ?

3. लॉक व्यक्ति के .... अधिकार का प्रबल समर्थक है

4. लॉक को आधुनिक काल में ....का प्रतिपादक माना जाता है।

5. 'टू ट्रीटाइजेज ऑफ गर्वनमैट' की रचना किसने की।

6. ज्ञान को अनुभव जन्म मानने के कारण लॉक को एक ....विचारक माना जाता है।

7. लॉक सरकार के कार्यो को .... भागो में बाटता है।

12.15 सारांश

उक्त इकाई के अध्ययन से यह आप समझ गये होगें कि किसी भी राजनीतिक विचारक के राजनीतिक चिंतन पर उसके समय की परिस्थितियां प्रभावित करती है। आप ने देखा कि जहाँ हॉब्स मानव स्वभाव का बुरा चित्रण करता है वही लॉक मानव के स्वभाव के उदान्त और सकारात्मक पक्षों पर बल देता है। ऐसा इसलिए संभव हो सका क्योंकि लॉक ने इंग्लैण्ड के गौरपूर्ण क्रांन्ति को देखा कि किस प्रकार बड़ड्ढ परिवर्तन भी शांतिपूर्ण तरीके से हो सकता है। साथ ही लॉक ने प्राकृतिक अवस्था में भी जीवन स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के अधिकारों को स्वीकार कर व्यक्ति को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया है और राज्य के उत्पत्ति के प्रमुख कारण के रुप में इन अधिकारों की रक्षा को माना यदि कोई सरकार इन अधिकारों की रक्षा नहीं कर पाती है तो उसे अपदस्थ करने का अधिकार जनता को देता है। ऐसा करके वह प्रतिनिधि सरकार का समर्थन करता है। सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता देकर वह तत्कालीन समय में उभरते हुए पूंजीवाद को समर्थन प्रदान करने का कार्य किया स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शासन के अंगो में शक्तियों के पृथक्करण की बात कर वह मैकियावली का पूर्व संकेत देता है।

12.16 शब्दावली

प्रतिनिधि सरकार:- जब सरकार के गठन में जनता की प्रत्यक्ष या परोक्ष भागीदारी हो, और वह सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी हो तो उसे ....कहते है।

सीमित सरकार:- निरकुश सरकार के विपरीत कानून का शासन अर्थात सरकार भी कानून से नियंत्रित होती है।

प्राकृतिक अधिकार:- प्राकृतिक अधिकार वे अधिकार है जो मनुष्य को जन्मजात प्राप्त होते है

जैसे जीवन, स्वास्थ, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति के अधिकार।

फैडेरेटिवे:- वर्तमान समय में जिसे हम कार्यपालिका द्वारा किया जाने वाला कार्य कहते है। लॉक इन्हीं कार्यो को फैडेरेटिव कहता है।

12.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. लॉक 2. 1688 ई0 3. सम्पत्ति का अधिकार 4. संविधानवाद 5. 6. अनुभववादी 7. तीन

12.18 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1.राजनीति दर्शन का इतिहास-जॉर्ज एच0 सेबाइन

2.पॉलिटिकल थ्योरीज, एनसिएन्ट एण्ड मेडीवल-डनिंग

3.मास्टर्स ऑफ पॉलिटिकल थॉट- डब्ल्यू0 टी0 जोन्स

4.पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास-डा0 प्रभुदत्त शर्मा

5.राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा-ओ0पी0 गाबा

12.19 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1.राजनीति-कोश- डा0 सुभाष कश्यप एवं विश्वप्रकाश गुप्त

2.पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक- आर0एम0 भगत

12.20 निबंधात्मक प्रश्न

1. लॉक के राजनीतिक विचारों की विशेषताऐं बताइये।

2. लॉक के प्राकृतिक अवस्था के सिद्धान्त का पीक्षण कीजिए।

3. लॉक के सामाजिक संविदा सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

इकाई-13 : जीन जेक्स रूसो :(Jean Jacques Rousseau) (1712-1778)

इकाई की संरचना

13.1 प्रस्तावना
13.2 उद्देश्य
13.3 रूसो की कृतियाँ
13.4 रूसो का जीवन परिचय एवं पद्धति
13.5 रूसो का प्राकृतिक अवस्था के सम्बन्ध में विचार
13.6 रूसो का मानव स्वभाव के सम्बन्ध में विचार
13.7 रूसो का सामाजिक संविदा सम्बन्धी विचार
13.7.1 रूसो की प्राकृतिक अवस्था और सामाजिक संविदा की आलोचना
13.8 रूसो की सामान्य इच्छा सम्बन्धी विचार
13.8.1 यथार्थ इच्छा
13.8.2 वास्तविक इच्छा
13.8.3 सामान्य इच्छा का निर्माण
13.8.4 सामान्य इच्छा, जनमत और समस्त की इच्छा में अन्तर
13.8.5रूसो की सामान्य इच्छा की विशेषताएं
13.8.6 रूसो की सामान्य इच्छा और विधि निर्माण के सम्बन्ध में विचार
13.8.7 रूसो की सामान्य इच्छा सिद्धान्त की आलोचना
13.8.8 रूसो की सामान्य इच्छा सिद्धान्त का महत्व
13.9 रूसो की सम्प्रभुता सम्बन्धी अवधारणा
13.10 रूसो के शासन सम्बन्धी विचार
13.11 रूसो के कानून, स्वतंत्रता, समानता, धर्म एवं शिक्षा सम्बन्धी विचार
13.11.1 रूसो का कानून सम्बन्धी विचार
13.11.2 रूसो का स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार
13.11.3 रूसो का समानता सम्बन्धी विचार
13.11.4 रूसो का धर्म सम्बन्धी विचार

13.11.5 रूसो का शिक्षा सम्बन्धी विचार
13.12 रूसो की हाब्स तथा लॉक के साथ तुलना
13.13 सारांश
13.14 शब्दावली
13.15 अभ्यास के लिय प्रश्न
13.16 सन्दर्भ ग्रन्थ/सहायक पुस्तकें
13.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
13.18 निबंधात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

हाब्स, लॉक एवं रूसो ये तीनों नाम आधुनिक राजनीतिक चिंतन में सामाजिक संविदा सिद्धान्त से सम्बद्ध है। पिछली इकाईयों में हम हाब्स तथा लॉक के बारे में सम्यक रूप से विवेचना कर चुके हैं। इस इकाई में हम रूसो के बारे में अध्ययन करेंगे-

सामाजिक संविदा के विचारकों में रूसो का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह एक प्रख्यात दार्शनिक एवं क्रान्तिकारी विचारों का प्रणेता, शिक्षा-शास्त्री आदर्शवादी, मानवतावादी और युग-निर्माता साहित्यकार था। उसके ग्रन्थों ने प्राचीन शासन के सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचे को झकझोर दिया और एक नवीन लोकतन्त्रीय व्यवस्था लिए मार्ग तैयार कर दिया। व्यक्तिवाद, आदर्शवाद और अद्वैतवादी लोकप्रिय सम्प्रभुता के विभिन्न सिद्धान्तों को उसकी लेखनी से नया समर्थन और नया दिशा निर्देशन मिला। सर्वव्यापी सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा उसने राजनीति में स्थायी सावयवी समाज की कल्पना को बल दिया। रूसो ने संविदा सिद्धान्त के आधार पर एक पूर्णरूपेण जनप्रिय सम्प्रभुता का सिद्धान्त खड़ा कर दिया। लोकप्रियता, सम्प्रभुता, विधि, सामाजिक स्वीकृति, प्रशासन, क्रान्ति आदि विषयों पर अपने निर्भीक और स्पष्ट विचारों के कारण रूसो ने अमर ख्याति अर्जित की।

13.2 उद्देश्य

रूसो का मुख्य उद्देश्य मानव के आंतरिक स्वभाव के लिये अपेक्षित सच्ची स्वतन्त्रता दिलाना था। जबकि तत्कालीन फ्राँस में राज्य के पाशविक बल और प्राधिकार में नितान्त असंगति थी। उन दिनों फ्राँस पर व्यक्तियों का शासन था, कानून का नहीं। फ्राँस की जनता को कोई स्वतन्त्रता नहीं थी। फ्राँस की जनता को अपने प्रभुओं की प्रत्येक उचित, अनुचित आज्ञा का पालन करना पड़ता था। जबकि ऐसे में रूसो का मुख्य उद्देश्य एवं विश्वास यह था कि समाज के एक सच्चे संगठन में न कोई स्वामी होगा और न कोई आदेश। ऐसे समाज में सभी सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकेंगे। अब प्रश्न उठता है कि क्या कोई ऐसा राजनीतिक संगठन सम्भव है। रूसो का उद्देश्य यह था कि इस कठिन समस्या का समाधान वह अपने सामाजिक संविदा सिद्धान्त द्वारा दे सके। अपने ग्रन्थ 'सोशल कान्ट्रैक्ट' में वह इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये विभिन्न राजनीतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है जिसका अध्ययन हम इकाई में आगे करेंगे।

13.3 रूसों की कृतियाँ

1. ''हैज द रिवाइवल ऑफ द साइन्स एण्ड द आर्ट्स हेल्प्ड टू प्यूरीफाई ऑर टू करप्ट मोराल्स'' पर निबन्ध- 1749।

2. डिस्कोर्सेस ऑन द ओरिजिन एण्ड फाउण्डेशन ऑफ इनइक्वालिटी पर निबन्ध- 1754

3. सोशल कान्टैक्ट अथवा प्रिंसिपल ऑफ पॉलिकल राइट्स- 1762 में प्रकाशित।

4. लॉ नॉवेल हेलॉयज-1761 में प्रकाशित।

5. इमाइल-1762 में प्रकाशित। 6. कन्फैशन्स 7. डाइलॉग्स 8. रिवरीज

13.4 जीवन-परिचय, कृतियाँ एवं पद्धति

रूसो का जन्म सन् 1712 में निर्धन आइजक नामक घड़ी-बनाने वाले के यहाँ जेनेवा में हुआ। जन्म के समय ही माता का देहान्त हो गया और पिता ने पुत्र को अपने दुर्व्यसनों का साथी बना दिया। इस प्रकार जन्म से ही वह उपेक्षित और स्नेहविहीन रहा। इन्हीं परिस्थितियों में 10 वर्ष की अवस्था में ही वह जेनेवा छोड़कर भाग गया। तत्पश्चात् लगभग 14 वर्ष की अल्पावस्था में ही रूसो को एक कठोर संगतराश (खुदाई का काम करने वाला) के पास काम करना पड़ा जो उसके साथ बड़ा ही पाशविक व्यवहार करता था। वहाँ रूसो को पेट भरने के लिए केवल कठोर परिश्रम ही नहीं करना पड़ा बल्कि उसने चोरी करने और झूठ बालने की कला भी सीखी। आखिर अपने मालिक से तंग आकर रूसो घर से भाग निकला। तब उसकी आयु 16 वर्ष की थी।

जीवन के अगले कुछ वर्ष रूसों ने फ्राँस में आवारागर्दी में बिताए। वह न केवल बुरी संगति में पड़ गया बल्कि उसका स्वभाव ऐसा बन गया कि वह हमेशा वर्तमान में ही रहता था, न भूत के लिए पछताता था और न भविष्य के लिए चिन्ता करता था। बाजारू औरतों के साथ उसके प्रेम-सम्बन्ध चले, किन्तु ये सम्बन्ध स्थायी मैत्री का रूप कभी नहीं ले सके। पेरिस में उसका मित्र वर्ग उसे आर्थिक सहायता देता रहा। वह मजदूरों की गन्दी बस्तियों में जीवनयापन करने लगा। जीवनभर वह अविवाहित ही रहा, किन्तु उसके अवैध सम्बन्ध सदा बने रहे। उसे वेनिस में फ्रेन्च दूतावास में नौकरी भी मिली किन्तु अपने खराब मिजाज के कारण उसे पदच्युत होना पड़ा।

आवारा, प्रताड़ित और पीड़ित होने पर भी रूसो बहुत करीब से जीवन के हर पहलू को देखता रहा। धर्म के सम्बन्ध में रूसो अस्थिर रहा। उसने कभी कैथोलिक धर्म को अपनाया तो कभी प्रोटेस्टेन्ट मत को। इतना सब होने के बाद आखिर उसके भाग्य ने पलटा खाया। सन् 1749 में उसने एक प्रतियोगिता का समाचार पढ़ा। प्रतियोगिता का विषय था Has the revival of the Sciences and the Arts helped to purify or to corrupt morals रूसो ने इस प्रतियोगिता में भाग लिया। उसे प्रथम पुरस्कार मिला। अपने निबन्ध में बिलकुल मौलिक और सनसनीखेज विचार प्रकट करते हुए उसने लिखा कि विज्ञान तथा कला की तथाकथित प्रगति से ही सभ्यता का ह्रास, नैतिकता का विनाश और चरित्र का पतन हुआ है। अब रूसो एकाएक ही प्रसिद्ध हो गया। पेरिस के

साहित्यिक क्षेत्रों में उसे सम्मान मिला, किन्तु उसने भद्र समाज और धनाढ्‌य महिलाओं के संसर्ग में लौटने की कोशिश नहीं की।

अब रूसो की सोई हुई साहित्यिक प्रतिभा और बौद्धिक चेतना जाग्रत हो गई थी। अब लिखना ही उसका व्यवसाय और जीवन बन गया। सन् 1754 में उसने 'डीजॉन की विद्यापीठ' (Academy of Dijon) की ही एक अन्य निबन्ध प्रतियोगिता में भाग लिया जिसका विषय था ''मनुष्यों में विषमता उत्पन्न होने का क्या कारण है? क्या प्राकृतिक कानून इसका समर्थन करता है।'' यद्यपि रूसो पुरस्कार नहीं जीत सका, तथापि उसने निजी सम्पत्ति और तत्कालीन फ्राँस के कृत्रिम जीवन पर कठोर प्रहार किये। सन् 1754 ई0 में रूसो पुनः जेनेवा लौट गया जहाँ वह कैथोलिक प्रोटेस्टेन्ट बन गया और उसे फिर से जेनेवा गणतन्त्र की नागरिकता दे दी गई।

कुछ समय बाद रूसो पुनः पेरिस चला गया। विख्यात लेखिका मदाम ऐपिने (Madam Epinay) द्वारा पेरिस के निकट मौण्ट मेरेन्सी में रूसो के लिए निवास और भोजन की व्यवस्था कर दी गई। पेरिस के कृत्रिम जीवन से दूर प्रकृति की गोद में रहते हुए रूसो ने Lock Nouvelle Heloise, The Emile तथा Social Contract नामक विख्यात ग्रन्थों की रचना की जिनसे उसका नाम चारों और फैल गया। उसके 'इमाइल' ग्रन्थ ने तो फ्राँस में क्रान्ति सी उत्पन्न कर दी। उसके क्रान्तिकारी विचारों से शासक और पादरीगण क्रुद्ध हो गए। सन् 1762 में उसकी गिरफ्तारी का आदेश निकाला गया। रूसो ने पेरिस छोड़ दिया तथा जीवन के अन्य 16 वर्ष एक खानाबदोश के रूप में बिताए। उसका स्वास्थ्य गिरता रहा, किन्तु लेखन कार्य जारी रहा। प्राण रक्षा के लिए वह जर्मनी, इंग्लैण्ड आदि देशों में भटकता रहा। 1766 में इंग्लैण्ड में दार्शनिक ह्यूम ने उसे शरण दी। वहाँ बर्क भी उसका मित्र बन गया। लेकिन रूसो के मित्र उसकी अभिमानशीलता को सहन नहीं कर सके। अतः मित्रों के प्रति शंकालु होकर रूसो पुनः गुप्त रूप से फ्राँस भाग गया। ह्यूम अपने प्रतिभाशाली मित्रों की सहायता से यह व्यवस्था कर दी कि रूसो को बन्दी बनाने की आज्ञा क्रियान्वित न की जाए।

रूसो की अध्ययन पद्धति बहुत कुछ हॉब्स के समान थी। उसने इतिहास का सहारा लेकर अनुभूतिमूलक पद्धति (Empirical Method)का अनुमान किया। उसकी पद्धति हॉब्स की ही तरह मनोविज्ञानयुक्त थी। मैकियावली, बोदाँ, अल्युसियस, हॉब्स, लॉक, ग्रोशियस, सिडनी, मॉण्टेस्क्यू, वाल्टेयर आदि का उस पर पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है। यूनानी और रोमन साहित्य तथा काल्विन के धार्मिक विचारों से भी वह प्रभावित हुआ।

13.5 रूसो की प्राकृतिक अवस्था के सम्बन्ध में विचार

रूसो की प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य प्रकृति की गोद में स्वच्छन्दतापूर्वक जीवनयापन करता था। वह अवस्था भय और चिन्ता से मुक्त थी। प्राकृतिक अवस्था में रूसो का मनुष्य भला असभ्य जीव (Noble Savage) था, जो प्रारम्भिक सरलता और सुखपूर्ण रीति से जीवन बसर करता था। वह स्वतन्त्र, संतुष्ट, आत्मतुष्ट, स्वस्थ एवं निर्भय था। उसे न तो साथियों की आवश्यकता थी और न वह समाज के व्यक्तियों को दुःख देना चाहता था। उसकी सहज वृत्ति और सहानुभूति की भावना ने ही उसका दूसरों के साथ गठबन्धन किया। वह न तो सही को जानता था और न ही गलत को। वह गुण और अवगुण की सब भावनाओं से अछूता थां उस दशा में केवल नैसर्गिक शक्तियों से युक्त था। बुद्धि एवं विवेक की करतूतों का उसमें अभाव था। प्राकृतिक अवस्था में ऊँच-नीच तथा मेरे-तेरे का कोई भेदभाव नहीं था। व्यक्ति स्वयं अपना स्वामी था। वह आत्मनिर्भर होता था। सभ्यता का विकास न होने से उसकी आवश्यकताएँ बहुत कम थीं और जो थीं वह प्रकृति क माध्यम से सहज ही पूरी हो जाती थीं। मनुष्य अपने वर्तमान

से ही सन्तुष्ट था, उसे भविष्य के लिए संचय की चिन्ता नहीं थी। रूसो की प्राकृतिक अवस्था वाला समाज सभ्यता के प्रभावों से सर्वथा मुक्त था। वह समाज ऐसी प्रसन्नता का इच्छुक था। जिसमें सामाजिक नियम और सामाजिक संस्थाओं का प्रभाव बिलकुल न हो।

रूसो की प्राकृतिक अवस्था ऐसे स्वर्णिम युग सी थी जिसमें नियन्त्रणों से मुक्त व्यक्ति एक भोले और निर्दोष पक्षी की तरह प्राकृतिक सौन्दर्य का उपभोग करता हुआ मस्ती से स्वच्छन्दतापूर्वक विचरता रहता था। उसे जंगली कहना आसान था, क्योंकि वह पहाड़ों-जंगलों में ही अधिवास करता था लेकिन जंगली होते हुए भी वह सज्जन तथा नेक था। सादगी उसका गुण था और भोलापन उसका जीवन।

किन्तु स्वर्णिम युग छिन्न-भिन्न हो गया। प्राकृतिक दशा की अवस्थाएँ चिरकाल तक स्थिर नहीं रह सकीं। रूसो की प्राकृतिक दशा को नष्ट करने के लिए दो तत्व उत्पन्न हुए। एक तो जनसंख्या की वृद्धि था और दूसरा था तर्क का उदय। जनसंख्या की वृद्धि से आर्थिक विकास तेजी से होने लगा। सरलता और प्राकृतिक प्रसन्नता से प्रारम्भिक जीवन का लोप हो गया। सम्पत्ति का अभ्युदय हुआ और मनुष्यों में परिवार एवं वैयक्तिक सम्पत्ति बनाने की इच्छा उत्पन्न हुई। परिव्राजक की तरह स्वच्छन्द घूमने वाले वनचारी ने भूमि के हिस्से पर अपना अधिकार सहज, स्नेहवश या अस्थायी आवास की तरह जमाया। धीरे-धीरे वहाँ उसका स्थाई आवास बन गया। दूसरे सदस्यों ने, जो निश्छल थे, व्यक्ति विशेष के इस आधार को निःसंकोच मान लिया। वाद-विवाद या प्रतिरोध उनकी प्रकृति से परे था। जनसंख्या की वृद्धि के साथ-साथ यह प्रक्रिया बढ़ती गई। परिवार और सम्पत्ति की व्याख्या घर कर गई। अब विषमता का जन्म हुआ। मानवीय समानता नष्ट होने लगी। मनुष्य ने मेरे और तेरे के भाव से सोचना आरम्भ किया जिससे निजी सम्पत्ति की व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ। रूसो के अनुसार, ''वह प्रथम मनुष्य ही नागरिक समाज का वास्तविक संस्थापक था जिसने भूमि के एक टुकड़े को घेर लेने के बाद यह कहा था कि वह मेरा है और उसी समय समाज का निर्माण हुआ था जब अन्य लोगों ने उसकी देखा-देखी स्थानों और वस्तुओं को अपना समझना प्रारम्भ किया।'' परिणामस्वरूप अपेक्षाकृत बलवान आदमी अधिक मात्रा में काम करता था, किन्तु दस्तकार को अधिक अंश मिलता था। इस विकास क्रम का यह परिणाम हुआ कि अब एक विकृति सी सारी दशा पर छा गई। मनुष्य सहज सुख-शान्ति से हाथ धो बैठा। जीवन कलुषित हो उठा।

यहाँ उल्लेखनीय है कि रूसो ने प्राकृतिक अवस्था के तीन प्रकार माने हैं। सबसे पहले आदिम प्राकृतिक अवस्था थी। उस समय मनुष्य निपट जंगली था, फिर मध्यवर्ती प्राकृतिक अवस्था आई। तब असमानता का प्रारम्भ हुआ और संचयवृत्ति बढ़ गई। तत्पश्चात् दमन एवं अत्याचार की पोषिका अन्तिम अवस्था आई जो असहनीय थी और जिसमें मनुष्य की गति बुरे से सर्वनाश की ओर (From bad to wrose and still wrose) थी। इस कुचक्र को रोकने के लिए ही सामाजिक संविदा की आवश्यकता महसूस हुई। इसी समय मनुष्य 'प्रकृति' की ओर वापिस (Back to nature) चलने का नारा दिया। किन्तु रूसो हमें सभ्यता की समस्त देनों का परित्याग करके पूर्व-राज्य की अवस्था में नहीं ले जाना चाहता अपितु प्राकृतिक दशा को आदर्श अवस्था तक पहुँचाना चाहता है। वह जानता है कि समाज में आगे बढ़े हुए रथ को पीछे लौटना सम्भव नहीं है पर साथ ही वह प्रकृति-सुलभ सौन्दर्य, सरलता और सहानुभूति का उपासक है। ''विवेक तथा तार्किक बुद्धि को वह प्रकृति के प्रतिकूल मानता है। रूसो का 'Natural Men' वह आदर्श है जिसको विकास करते-करते हमें प्राप्त करना है। हमें एक ऐसे प्रतिष्ठान की आवश्यकता है जो व्यक्ति और संस्थाओं का पुनर्निर्माण करेगी।

रूसो ने प्राकृतिक दशा के बारे में यह दावा नहीं किया कि निश्चित रूप से कभी किसी जगह वैसी दशा रही होगी। अनुमान से वह उस दशा की कल्पना करता है। अपने विचारों में आगे चलकर वह संशोधन और परिवर्तन करता है जिससे कई असंगतियाँ पैदा हो गयी हैं लेकिन रूसो स्वयं कहता है, ''मैं पक्षपात या पूर्वाग्रह की बजाय विरोधाभास (Paradoxes) का प्रेमी हूँ।''

13.6 रूसो का मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में विचार

मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में रूसो के अनुसार मनुष्य स्वभावतः सदाशय और अच्छा होता है। वह मनुष्य को स्वभावतः भोला मानता है जिसे किसी बात की चिन्ता नहीं है। उसका जीवनयापन प्रकृति की गोद में होता है। संसार में पाये जाने वाले पाप, भ्रष्टाचार, दुष्टता आदि गलत एवं भ्रष्ट सामाजिक संस्थाओं की उत्पत्ति है। मनुष्य के पतन के लिए भ्रष्ट और दूषित सामाजिक संस्थाएँ दोषी हैं। मनुष्य स्वभाव से बुरा नहीं होता अपितु भ्रष्ट कला के कारण बुरा बन जाता है।

अपने विचारों को सिद्ध करने के लिए रूसो मानव स्वभाव की दो मौलिक नियामक प्रवृत्तियाँ बताता है। मानव-स्वभाव के निर्माण में सहायक प्रथम प्रवृत्ति है-आत्म-प्रेम अथवा आत्म-रक्षा की भावना, जिसके अभाव में वह कभी का नष्ट हो गया होता। मानव स्वभाव निर्माण से दूसरी सहायक प्रवृत्ति है सहानुभूति अथवा परस्पर सहायता की भावना जो सभी मनुष्यों में पाई जाती है और जो सम्पूर्ण जीवनधारी सृष्टि का सामान्य गुण है। इसके कारण ही जीवन संग्राम इतना कठिन प्रतीत नहीं होता है। ये सभी भावनाएँ शुभ हैं इसलिए स्वभावतया मनुष्य को अच्छा ही माना जाना चाहिए।

रूसो का कहना है कि मनुष्य की उपरोक्त दोनों मूलभूत भावनाओं में कभी-कभी संघर्ष होना स्वाभाविक है। पारिवारिक हित की कामना कभी-कभी ऐसे कार्यों की माँग करती है जो समाज के हितों से तालमेल नहीं खाते। चूँकि ये दोनों भावनाएँ पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं की जा सकतीं, अतः व्यक्ति समझौता करने के लिए विवश होता है। आत्म-रक्षा और परमार्थ के कार्यों में संघर्ष होने से पैदा होने वाली नई समस्या का समाधान वह समझौतावादी प्रवृत्ति से करना चाहता है। इस प्रकार के समझौते से एक नवीन भावना उत्पन्न होती है जिसे अन्तःकरण कहते हैं। अन्तःकरण प्रकृति का उपहार है, यह केवल एक नैतिक शक्ति है, नैतिक मार्गदर्शन नहीं। मार्गदर्शन के लिए व्यक्ति को विवेक नामक स्वयं में विकसित होने वाली एक अन्य शक्ति पर निर्भर रहना पड़ता है। विवेक व्यक्ति को यह सिखाता है कि उसे क्या करना चाहिए। विवेक मनुष्य का नैतिक पथ-प्रदर्शन करता है और अन्तःकरण उसको उस मार्ग पर प्रेरित करता है। रूसो इस तरह बतलाता है कि आत्म-रक्षा एवं सहानुभूति इन दो भावनाओं में सामंजस्य और अन्य भावनाओं के विकास करने में अन्तःकरण तथा विवेक दोनों का योग होता है। रूसो ने विवेक की अपेक्षा अन्तःकरण को अधिक महत्त्व सम्भवतः इसलिए दिया है कि उस युग में अन्तःकरण की बहुत उपेक्षा की जा रही थी। अन्तःकरण पर इतना अधिक बल देने के कारण ही उसे विवेक-विरोधी एवं रोमांचकारी तक कह दिया गया है। वास्तव में रूसो ने विवेक पर बड़े आक्षेप किए हैं। उसने बुद्धि एवं विज्ञान का विरोध करके इसके स्थान पर सद्भावना और श्रद्धा को प्रतिष्ठित किया है। उसके अनुसार बुद्धि भयानक है क्योंकि वह श्रद्धा को कम करती है। विज्ञान-विनाशक है क्योंकि वह विश्वास को नष्ट करता है और विवेक बुरा है क्योंकि वह नैतिक सहज ज्ञान के विरोध में तर्क वितर्क को प्रधानता देता है। किन्तु विवेक के प्रति उसका विरोध पूर्ण अथवा निर्मम नहीं है। वह मानव व्यक्तित्व के विकासमें विवेक को उचित स्थान प्रदान करता है, हाँ उसे असीम अधिकार नहीं देता।

स्पष्ट है कि रूसो के विवेचन का आधार मुख्यतया यह सिद्ध करना है कि मनुष्य स्वभाव से ही अच्छा होता है। तो फिर प्रश्न उठता है कि पथ-भ्रष्ट क्यों हो जाता है? रूसो का तर्क है कि मनुष्य पथ-भ्रष्ट उस समय होता है जब उसका आत्म-प्रेम , दम्भ में परिवर्तित हो जाता है। अतः शुभ एवं स्वाभाविक बने रहने के लिए दम्भ का परित्याग कर देना आवश्यक है। विवेक को दम्भ के चंगुल में नहीं फँसने देना चाहिए।

13.7 रूसो का सामाजिक संविदा सम्बन्धी विचार

रूसो के अनुसार प्राकृतिक अवस्था के अन्तिम चरण की अराजकता से जब व्यक्ति दुखी हो गए तब उन्होंने स्वयं को एक ऐसी संस्था में संगठित कर लेने की आवश्यकता अनुभव की जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की जान-माल की रक्षा हो सके और साथ ही व्यक्तियों की स्वतन्त्रता भी अक्षुण्ण बनी रहे। अतः उन्होंनें परस्पर मिलकर यह समझौता किया कि प्रत्येक मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता, अधिकार एवं शक्ति समाज को अर्पण कर दे। रूसो के शब्दों में, व्यक्तियों ने समझौते की शर्तों को इस प्रकार व्यक्त किया है-''हम में से प्रत्येक अपने शरीर को और अपनी समूची शक्ति को अन्य सबके साथ संयुक्त सामान्य इच्छा के सर्वोच्च्व निर्देशन में रखते हें और अपने सामूहिक स्वरूप में हम प्रत्येक सदस्य को समष्टि के अविभाज्य अंश के रूप में स्वीकार करते हैं।'' रूसो आगे लिखता है कि, ''समझौता करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तिगत व्यक्तित्व के स्थान पर, समूह बनाने की इस प्रक्रिया में, एकदम नैतिक तथा सामूहिक निकाय का जन्म होता है जो कि उतने ही सदस्यों से मिलकर बना है जितने कि उसमें मत होते हैं। समुदाय बनाने के इस कार्य से ही निकाय को अपनी एकता, अपनी सामान्य सत्ता अपना जीवन तथा अपनी इच्छा प्राप्त होती है। समस्त व्यक्तियों के संगठन से बने हुए इस सार्वजनिक व्यक्ति को पहले नगर कहते थे, अब उसे गणराज्य अथवा राजनीतिक समाज कहते हैं। जब यह निष्क्रिय रहता है तो उसे राज्य कहते हैं और जब सक्रिय होता है तो सम्प्रभु तथा ऐसे ही अन्य निकायों से इसकी तुलना करने में इसे शक्ति कहते हैं।''

स्पष्ट है कि रूसो के अनुसार मनुष्य अराजक दशा को दूर करने के लिए जो समझौता करते हैं, वह दो पक्षों के बीच किया जाता है। एक पक्ष में मनुष्य अपने वैयक्तिक रूप में होते हैं और दूसरे पक्ष में मनुष्य अपने सामूहिक रूप में होते हैं। इस तरह समझौते के परिणामस्वरूप राज्य-संस्था के संगठित हो जाने पर मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता अधिकार एवं शक्ति को अपने से पृथक नहीं कर देते। वे इन्हें अपने पास रखते हैं पर व्यक्ति रूप से नहीं अपितु सामूहिक रूप से अर्थात् समाज के अंग के कारण। अब मनुष्य की जान और माल की रक्षा का उत्तरदायित्व अकेले अपने ऊपर नहीं रह जाता, वरन् सम्पूर्ण समाज का कर्तव्य हो जाता है कि वह प्रत्येक मनुष्य की स्वतन्त्रता और अधिकारों की रक्षा करे। राज्य-संस्था के संचालन की शक्ति जनता में निहित होती है क्योंकि जनता स्वयं प्रभुत्व शक्ति-सम्पन्न होती है। राज्य-शक्ति के प्रयोग का अधिकार जिस शासक वर्ग को दिया जाता है, वह जनता की आकांक्षा के अनुसार ही कार्य करता है, क्योंकि वह जनता की इच्छा को क्रिया रूप में परिणत करने का साधन मात्र है और अपने कर्त्तव्यों का भली-भाँति पालन न करने पर अपने पद से पृथक किया जा सकता है तथा उसके स्थान पर दूसरे शासक वर्ग को नियुक्त किया जा सकता है यदि वह जनता की इच्छानुसार कार्य करने का वचन दे।

रूसो के समझौता सिद्धान्त की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं

प्राकृतिक अवस्था के पहले चरण में सभी व्यक्ति निश्छल और सरल होते हैं, किन्तु कालान्तर में जनसंख्या में वृद्धि, तर्क के उदय और सम्पत्ति के प्रवेश के कारण वे संघर्षरत होते हैं। इस अराजकता को समाप्त करने और पुनः अपनी स्वतन्त्रता की स्थापना के लिए वे एक समझौता करते हैं। यह समझौता दो सार्वभौमिक लक्ष्यों पर आधारित

होता है पहला यह कि मनुष्य जो समूह बनाते हैं उसके अपने धन-जन की रक्षा में सम्पूर्ण समाज की सहायता उन्हें प्राप्त हो सके और दूसरे वे अधिकतम स्वतंत्र हो सकें।

सामाजिक समझौते के क्रियाशीला एवं केन्द्रीय भाग का अर्थ है कि प्रत्येक सदस्य अपने सम्पूर्ण अधिकार एवं शक्तियाँ समाज को समर्पित कर देता है। इस हस्तान्तरण की शर्त है समता, अर्थात सभी के साथ एक ही-सी शर्त। अतः इस समझौते से प्रत्येक को लाभ है। इस समझौते के फलस्वरूप उत्पन्न हुआ समाज कभी भी दमनकारी एवं स्वतन्त्रता विरोधी नहीं हो सकता। इस समूहीकरण से एक नैतिक और सामूहिक निकाय का जन्म होता है।

यद्यपि सभी व्यक्ति अपने अधिकारों का पूर्ण समर्पण करते हैं तथापि जो अधिकार विशुद्ध रूप से व्यक्तिगत हैं, मनुष्य उन्हें अपने पास रख सकते हैं। उदाहरणार्थ समाज का इस बात से कोई सम्बन्ध नहीं होता कि व्यक्ति क्या खाता है, क्या पहनता है। पर कोई विषय सार्वजनिक महत्त्व का है अथवा नहीं इसका निर्णय समाज ही करता है।

इस समझौते के फलस्वरूप हुई एकता पूर्ण है, क्योंकि ''प्रत्येक व्यक्ति सबके हाथों में अपने आपको समर्पित करते हुए किसी के भी हाथों में अपने को समर्पित नहीं करता'' एवं ''प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व और अपनी पूर्ण शक्ति को सामान्य प्रयोग के लिए, सामान्य इच्छा के सर्वोच्च निर्देशन के अधीन समर्पित कर देता है और एक समूह के अविभाज्य अंग के रूप में उन्हें प्राप्त कर लेता है। अतः समाज की सामान्य इच्छा सभी व्यक्तियों के लिए सर्वोच्च हो जाती है और प्रत्येक व्यक्ति उसके अधीन हो जाता है।'' रूसो के समाज में किसी भी सदस्य को विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है, सबका स्थान समान है। इस तरह राज्य में नागरिक स्वतन्त्रता ही नहीं अपितु समानता भी प्राप्त करते हैं।

रूसो के अनुसार यह समझौता निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है जिससे प्रत्येक व्यक्ति सामान्य इच्छा में निरन्तर भाग लेता रहता है और इस तरह राज्य को निरन्तर सहमति प्रदान करता रहता है।

संविदा के कारण मनुष्य अपने शरीर को अपने अधिकारों और शक्तियों को जिस सार्वजनिक सत्ता को समर्पित करता है, वह सब व्यक्तियों से मिलकर ही निर्मित होती है। इसी को प्राचीनकाल में नगर राज्य कहते थे और अब गणराज्य या राज्य-संस्था या राजनीतिक समाज कहते हैं। इसका निर्माण जिन व्यक्तियों से मिलकर होता है उन्हीं को सामूहिक रूप से 'जनता' कहा जाता है। जब हम उन्हें राजशक्ति की अभिव्यक्ति में भाग लेते हुए देखते हैं तब हम उन्हें 'नागरिक' कहते हैं और जब राज्य के कानून पालकों के रूप में देखने हैं तो उन्हें हम 'प्रजा' की संज्ञा देते हैं। संक्षेप में, रूसो के अनुसार सामूहिक एकता 'राज्य', 'शक्ति', 'जनता', 'नागरिक' एवं 'प्रजा' सब कुछ है।

रूसो के अनुसार समझौता व्यक्ति के दो स्वरूपों के मध्य होता है। मनुष्य एक ही साथ निष्क्रिय प्रजाजन भी हैं और क्रियाशील सम्प्रभु भी। एक सम्प्रभुता पूर्ण संघ का सदस्य होने के नाते प्रत्येक व्यक्ति केवल उतना ही स्वतन्त्र नहीं रहता जितना वह पहले था बल्कि सामाजिक स्थिति के अन्तर्गत उनकी स्वतन्त्रता और भी अधिक बढ़ जाती है तथा सुरक्षित बन जाती है।

समझौते के फलस्वरूप समाज अथवा राज्य का स्वरूप सावयिक होता है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य का अविभाज्य अंग होने के कारण राज्य से किसी भी प्रकार से अलग नहीं हो सकता और न वह राज्य के विरूद्ध आचारण ही कर सकता है। रूसो का समाज हॉब्स एवं लॉक की धारणा के समान व्यक्तिवादी नहीं है। रूसो का यह समझौता एक नैतिक तथा सामूहिक प्राणी का निर्माण करता है जिसका अपना निजी जीवन है, अपनी निजी इच्छा है तथा अपना निजी अस्तित्व है। रूसो इसे सार्वजनिक व्यक्ति कहकर पुकारता है। राज्य या समाज का सावयविक रूप बतलाते

हुए रूसो ने एक स्थान पर लिखा है कि विधि निर्माण शक्ति सिर के समान, कार्यकारिणी बाहु के समान, न्यायपालिका मस्तिष्क के समान, कृषि, उद्योग तथा वाणिज्य पेट के समान और राजस्व रक्त-संचार के समान है।

समझौते द्वारा व्यक्ति के स्थान पर समष्टि और व्यक्ति की इच्छा के स्थान पर सामान्य इच्छा आ जाती है। सामान्य इच्छा का सिद्धान्त रूसो के सामाजिक समझौते का सर्वाधिक विशिष्ट अंग है। सामान्य इच्छा सदैव न्याययुक्त होती है और जनहित इसका लक्ष्य होता है।

सामाजिक समझौते से उत्पन्न होने वाला समाज अथवा राज्य ही स्वयं सम्प्रभुता सम्पन्न होता है। अपने निर्माण की प्रक्रिया में समाज स्वयं सम्प्रभुताधारी बन जाता है और समाज का प्रत्येक सदस्य इस प्रभुता-सम्पन्न निकाय का एक निर्णायक भाग होता है। समझौते से किसी प्रकार की स्थापना नहीं होती, अपितु सामान्य इच्छा पर आधिारित सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न समाज की स्थापना होती है और सरकार इस प्रभुतव शक्ति द्वारा नियुक्त यन्त्रमात्र होती है।

13.7.1 रूसो की प्राकृतिक अवस्था और सामाजिक संविदा की आलोचना

रूसो की प्राकृतिक अवस्था और सामाजिक संविदा सिद्धान्त की आलोचना के मुख्य बिन्दु निम्नांकित हैं-

रूसो ने प्राकृतिक अवस्था का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह निराधार एवं काल्पनिक है। ऐतिहासिक तथ्य यह प्रमाणित नहीं करते कि मनुष्य कभी ऐसा शान्तिमय, सुखमय और आदर्श जीवन यापन करते थे। रूसो की प्राकृतिक अवस्था मानव-स्वभाव की गलत धारणा पर आधारित है।

रूसो प्रगति के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहता है कि मानव-समाज का निरन्तर ह्रास हो रहा है किन्तु यह विचार तर्क-सम्मत नहीं है। बल्कि मनुष्य की जिज्ञासा वृत्ति उसे नित्य नवीन क्षेत्रों की ओर उन्मुख करती है, पीछे की ओर नहीं धकेलती।

रूसो के अनुसार समझौता व्यक्ति एवं समाज में होता है, किन्तु दूसरी ओर समाज समझौते का परिणाम है-यह स्पष्टतः एक विरोधात्मक है और इस दृष्टिकोण से समझौता असंगत हो जाता है।

रूसो की यह धारणा भी गलत है कि राज्य का जन्म किसी समझौते का परिणाम है। राज्य का जन्म तो मानव के क्रमिक विकास द्वारा हुआ है।

रूसो समझौते के द्वारा व्यक्ति की खुशियों, कामनाओं और स्वतन्त्रता को, सामान्य इच्छा की आड़ में राज्य की इच्छा पर न्यौछावर कर देता है।

रूसो का समझौता राज्य-संस्था के अभाव में सम्भव नहीं है। समझौते के लिए यह आवश्यक है कि उसका प्रतिपादन करा सकने वाली कोई शक्ति विद्यमान हो अतः राज्य-संस्था के प्रादुर्भूत होने के बाद तो मनुष्य आपस में कोई समझौता कर सकते हैं, उसके पहले नहीं। अराजक दशा में भी मनुष्य परस्पर मिलकर कोई समझौता कर सकते हैं, यह कतई युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।

रूसो के सामान्य इच्छा की जो व्याख्या की है, वह राज्य को स्वेच्छाचारी बना देती है। चूँकि विधि निर्माण इसी सामान्य इच्छा का अबाध अधिकार है, अतः यह अन्याय भी कर सकती है। इसकी आड़ में निरंकुशता एवं अन्याय को प्रोत्साहन मिल सकता है।

13.8 रूसो की सामान्य इच्छा सम्बन्धी विचार

रूसो के सामाजिक संविदा के सिद्धान्त में 'सामान्य इच्छा' का बहुत अधिक महत्व है। 'सामान्य इच्छा' का सिद्धान्त राजनीतिक चिन्तन के लिए रूसो की अमर देन है। लेकिन जहाँ जनतन्त्र के समर्थकों ने मुक्त हृदय से इसका स्वागत किया है वहाँ निरंकुश शासकों ने इसका दामन पकड़ कर जनता पर मनमाने अत्याचार भी ढाए हैं। शायद ही कोई सिद्धान्त इतना विवादास्पद रहा है जितना की सामान्य इच्छा का सिद्धान्त।

रूसो की सामान्य इच्छा को भली-भाँति समझने के लिए सबसे पहले हमें इच्छा के स्वरूप को समझना चाहिए। रूसो के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की दो प्रमुख इच्छाएँ होती हैं-

1. यथार्थ इच्छा (Actual Will)
2. वास्तविक इच्छा (Real Will)

13.8.1 यथार्थ इच्छा-

यथार्थ इच्छा वह इच्छा है जो स्वार्थगत, संकीर्ण एवं परिवर्तनशील है। जब मनुष्य केवल अपने लिए ही सोचता है तब वह यथार्थ इच्छा के वशीभूत होता है। रूसो के अनुसार मनुष्य की यह इच्छा भावना-प्रधान होती है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य विवेकहीनता से कार्य करता है। इनमें व्यक्ति का दृष्टिकोण संकीर्ण तथा अन्तर्द्वन्द्वमयी होता है।

13.8.2 वास्तविक इच्छा-

इसके विपरीत वास्तविक इच्छा वह इच्छा है जो विवेक, ज्ञान एवं सामाजिक हित पर आधारित होती है। रूसो के अनुसार यही एकमात्र श्रेष्ठ इच्छा है एवं स्वतन्त्रता की द्योतक है। यह व्यक्ति की वह उत्कृष्ट इच्छा है जो सुसंगठित, स्वार्थहीन, कल्याणकारी एवं सुसंस्कृत होती है। यह इच्छा व्यक्ति में स्थाई रूप से निवास करती है। इस इच्छा से संचालित व्यक्ति यथार्थ इच्छा की भाँति अस्थाई परिणामों की ओर आकर्षित न होकर स्थाई निर्णयों को स्वीकार करता है। इसके लिए व्यक्ति सार्वजनिक हित का चिन्तन करते हुए स्वार्थ को निम्न स्थान देता है। मनुष्य की इस इच्छा का अभिव्यक्तिकरण व्यक्ति और समाज के मध्य होता है।

रूसो के अनुसार यथार्थ इच्छा व्यक्ति के 'निम्न स्व' पर आधारित होती है तथा आदर्श इच्छा उसके 'श्रेष्ठ स्व' पर।

यथार्थ और वास्तविक इच्छा के भेद पर ही 'सामान्य इच्छा' का विचार आधारित है। वास्तव में सामान्य इच्छा समाज के व्यक्तियों की आदर्श इच्छाओं का निचोड़ अथवा उनका संगठन और समन्वय है। सामान्य इच्छा सब नागरिकों की इच्छा है, जबकि वे अपने व्यक्तिगत हितों के लिए नहीं बल्कि सामान्य कल्याण के इच्छुक होते हैं। यह सबकी भलाई के लिए सबकी आवाज है। इस प्रकार से सामान्य इच्छा सामूहिक कल्याण का प्रतिनिधित्व करती है।

सामान्य इच्छा की व्याख्या करते हुए रूसो कहता है- ''मेरी सामान्य इच्छा के अनुबन्ध में सभी लोग अपना सर्वस्व राज्य को सौंप देते हैं। राज्य का हित सभी नागरिकों का सर्वश्रेष्ठ हित हैं।'' वह आगे कहता है- ''हमारे समस्त क्रियाकलाप हमारी इच्छा के परिणाम है किन्तु राज्य के कल्याणार्थ जो मेरी इच्छा है वह व्यक्तिगत लाभों की इच्छा से या समाज के कल्याण की इच्छा से अधिक नैतिक है, क्योंकि व्यक्तिगत लाभों या समाज के लोगों की

इच्छा का ध्येय बदल सकता है। चूँकि 'सामान्य इच्छा' समस्त नागरिकों की सर्वश्रेष्ठ इच्छाओं का योग है, अतः वह सर्वसाधारण की पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न इच्छा ही है।'' आगे चलकर रूसो पुनः लिखता है, ''चूँकि सामान्य इच्छा मेरी ही सर्वश्रेष्ठ इच्छा है अतः मुझे इस इच्छा का पालन अवश्य ही करना चाहिए। यदि मैं किन्हीं स्वार्थोवश उस इच्छा को पूरा नहीं करता तो समस्त समाज की सामान्य इच्छा मुझे मजबूर कर सकती है कि मैं तदनुसार आचरण करूँ। क्योंकि सामान्य इच्छा के आदर्शों का पालन करने में स्वयं अपने आदर्शों का ही पालन कर रहा हूँ और इस प्रकार सच्ची स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहा हूँ।''

रूसो के मतानुसार संसदीय प्रशासन प्रणाली में सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व सम्भव नहीं है, क्योंकि ''जब राष्ट्र अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर देता है तब सामान्य इच्छा स्वतन्त्र नहीं रह जाती है। सत्य यह है कि सामान्य इच्छा का अस्तित्व ही नहीं रहता।'' रूसो का कहना है कि प्रदत्त सामान्य इच्छा का अर्थ तो मृत सामान्य इच्छा है।

स्पष्ट है कि रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा व्यक्ति का ही विशिष्ट रूप नहीं वरन राज्य का भी है। प्रत्येक समुदाय एवं संस्थान, जिसके सदस्यों में सार्वजनिक भावना होती है, एक सामूहिक मस्तिष्क की विद्यमानता को इंगित करता है। यह सामूहिक मस्तिष्क व्यक्तियों के मस्तिष्कों के योग से उच्चतर होता है। इस प्रकार राज्य को, जो कि सबसे उच्च समुदाय है, सामूहिक मस्तिष्क भी उच्चतर होगा एवं एक नैतिक अस्तित्व रखेगा। रूसो का विचार है कि जिस अनुपात में लोक सार्वजनिक हित को सामने रख सकेंगे और अपने व्यक्तिगत हितों को भुला सकेंगे उसी अनुपात में सामान्य इच्छा पूर्ण होगी।

13.8.3 सामान्य इच्छा का निर्माण

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा के निर्माण की प्रक्रिया 'सर्वसाधारण की इच्छा' से प्रारम्भ होती है। व्यक्ति समस्याओं को पहले स्वयं के दृष्टिकोण से देखते हैं जिसमें उनकी यथार्थ एवं वास्तविक दोनों इच्छाएँ शामिल रहती हैं, किन्तु राजनीतिक चेतना वाला व्यक्ति अपने विवेक के प्रकाश में इन इच्छाओं का अशुद्ध और अनैतिक भाग समाप्त कर देता है और तब केवल वास्तविक इच्छा ही बची रहती है। इच्छाओं का ऐसा शुद्ध समन्वय ही सामान्य इच्छा बन जाती है। सामान्य इच्छा के निर्णय आदर्श होते हैं जिनका पालन सभी व्यक्ति करते हैं। सार्वभौमिकता का प्रतिनिधित्व सामान्य इच्छा ही करती है। जब सार्वभौमिकता लोककल्याण के हित में कार्य करती है तो सामान्य इच्छा का पालन होता है।

13.8.4 सामान्य इच्छा, जनमत और समस्त की इच्छा में अन्तर

सामान्य इच्छा में सामान्य हित पर बल दिया जाता है जबकि जनमत में संख्या बल पर। सामान्य इच्छा एक व्यक्ति या थोड़े व्यक्तियों की इच्छा भी हो सकती है, किन्तु जनमत का आधार यह है कि किस विषय पर जनता को कितना समर्थन प्राप्त है।

रूसो के अुनसार सामान्य इच्छा केवल सामान्य हितों का विचार करती है, समस्त इच्छा वैयक्तिक हितों का विचार करती है और विशेष इच्छाओं का योग मात्र है। सामान्य इच्छा का 'सम्पूर्ण' के रूप में (व्यक्तियों के एक समूह मात्र के रूप में नहीं) समाज की इच्छा को अभिव्यक्त करती है, वह सदस्यों की परस्पर विरोधी इच्छाओं के बीच समझौता नहीं है बल्कि यह एकल तथा एकात्मक इच्छा है। हॉब्स का यह कथन कि 'लेवियाथन' की सर्वोच्च इच्छा सबकी इच्छाओं से कहीं अधिक है और वह एक ही व्यक्ति में उन सबका एकीकृत हो जाना है, रूसो की सामान्य इच्छा पर भी लागू होता है। सामान्य इच्छा केवल वास्तविक इच्छा का सार है और सदैव सामान्य हित की

ओर ही संकेत करती है। सामान्य इच्छा समाज के उच्चतम विचार की अभिव्यक्ति होती है और यह आवश्यक नहीं है कि समाज की बहुसंख्या द्वारा यह निर्धारित हो। सामान्य इच्छा में भावना की प्रधानता है जबकि सर्वसम्मति अथवा समस्त की इच्छा में सम्मति देने वाले व्यक्तियों की संख्या का महत्व है। वास्तविक इच्छा की प्रधानता होने पर जनहित में वृद्धि होगी और यथार्थ इच्छा की प्रधानता होने पर केलव वर्ग विशेष की स्वार्थ-सिद्धि होगी। सामान्य इच्छा में अहित की कोई गुंजाइश ही नहीं है। वह तो सदा श्रेष्ठ और शुभ है।

13.8.5 रूसो की सामान्य इच्छा की विशेषताएँ-सामान्य इच्छा विवेकयुक्त एवं बुद्धिजन्य होने के कारण वह आत्म-विरोधी नहीं होती। इस इच्छा का अभिप्राय ही यह है कि विभिन्नता में एकता स्थातिप हो जाए। रूसो के स्वयं के शब्दों में-''यह राष्ट्रीय चरित्र की एकता को उत्पन्न और स्थिर करती है और उन समान गुणों में प्रकाशित होती है जिनके किसी राज्य के नागरिकों में होने की आशा की जाती है''

सामान्य इच्छा स्थायी एवं शाश्वत है। ज्ञान और विवेक पर आधारित होने के कारण इसमें स्थिरता होती है। रूसो के शब्दों में-''इसका कभी अन्त नहीं होता, यह कभी भ्रष्ट नहीं होती। यह अनित्य, अपरिवर्तनशील तथा पवित्र होती है।''

सामान्य इच्छा सदैव शुभ, उचित तथा कल्याणकारी होती है और सदैव जनहित को लेकर चलती है। यह इच्छा श्रेष्ठ इच्छा है क्योंकि यह सबकी वास्तविक इच्छाओं का योग है। सामान्य इच्छा के होते हुए प्रथम तो कोई दोषपूर्ण निर्णय हो ही नहीं सकता और यदि ऐसा हो भी जाए तो दोष सामान्य इच्छा का नहीं वरन् उसके संचालन करने वालों का होता है।

सामान्य इच्छा सम्प्रभुताधारी है। सम्प्रभुता के समान ही वह अविभाज्य अदेय है। यह छोटे-छोटे समूहों में विभक्त नहीं हो सकती। इसे सरकार के विभिन्न अंगों-कार्यपालिका, न्यायपालिका आदि में भी विभक्त नहीं किया जा सकता। इसके विभाजन का अर्थ इसे नष्ट करना है। सामान्य इच्छा का प्रतिनिधित्व भी इसके अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता। सम्प्रभुता के समान ही सामान्य इच्छा भी निरपेक्ष है। रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा द्वारा प्रेरित कार्य सदैव निष्काम होते हैं। यह निष्काम दो प्रकार से होती है-प्रथम, इसका ध्येय सदैव सामान्य हित होता है और द्वितीय, यह सामान्य हित की बातों में जनसेवा भाव से प्रेरित होती है।

सामान्य इच्छा को राज्य का अधिकार मान लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य शक्ति से नहीं, अपितु जनता की सहमति से संचालित होता है।

13.8.6 रूसो की सामान्य इच्छा और विधि-निर्माण के सम्बन्ध में विचार

रूसो के अनुसार सामान्य इच्छा का महत्वपूर्ण कार्य विधि-निर्माण करना है। रूसो के ही शब्दों में संविदा राज्य को अस्तित्व एवं जीवन प्रदान करता है और व्यवस्थापन द्वारा हमें उसे गति तथा इच्छा प्रदान करनी होती है, क्योंकि जिस मूल संविदा के द्वारा राज्य का निर्माण तथा संगठन होता है, वह किसी भी प्रकार यह निर्धारित नहीं करता कि राज्य को अपने प्रतिक्षण के लिए क्या करना चाहिए।''

विधि-निर्माण का कार्य सम्प्रभुताधारी का है और सम्प्रभुता सामान्य इच्छा में निहित है, अतः विधि-निर्माण एकमात्र सामान्य इच्छा का ही कार्य होना चाहिए। सामान्य इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा विधायी कार्य नहीं किया जा सकता और चूँकि विधि सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है अतः प्रत्येक मनुष्य के लिए उसकी आज्ञा

का पालन करना आवश्यक है। विधि अन्यायपूर्ण नहीं हो सकती क्योंकि वह उस सामान्य इच्छा का आदेश होती है। जिसका उद्देश्य सर्वसाधारण का वास्तविक कल्याण होता है। रूसो के अनुसार विधि के अधीन रहने पर भी हम स्वतन्त्र रह सकते हैं, यदि विधि स्वयं हमारी इच्छा को ही अभिव्यक्त करती हो। विधि का अस्तित्व भी तभी है जब सब लोग तद्नुसार कार्य करते रहें। रूसो के विचारों में यहाँ एक विरोधाभास है। वह सामान्य इच्छा द्वारा अभिव्यक्त विधि की सर्वोच्चता का भी उतना ही समर्थक है जितना व्यक्तिगत अधिकारों का। वह स्वयं कहता है, ''राज्य अपने सदस्यों पर ऐसा कोई बन्धन नहीं लगा सकता जो समाज के लिए बेकार हो।''

चूँकि सामान्य इच्छा सदैव सद् होती है, किन्तु उसका निर्देशन करने वाली निर्णयबुद्धि पूर्ण ज्ञानयुक्त नहीं होती अतः जनता को सद-असद या शुभ-अशुभ का ज्ञान कराने के लिए और दूरदर्शितापूर्ण एवं विवेक-सम्म्त विधि निर्माण करने के लिए रूसो विधि निर्माता का विधायक (स्महपेसंजवत) की भी व्यवस्था करता है। इस विधायक को अद्वितीय प्रतिभा सम्पन्न और उचित विधियों एवं संस्थाओं की व्यवस्था करने में समर्थ होना चाहिए। उसे एक ऐसा विद्वान दार्शनिक होना चाहिए जो जनसाधारण की विभिन्न आवश्यकताओं को समझता हो और परिस्थितियों के अनुरूप विधियों की रूपरेखा बना सकता हो। उसका कार्य मात्र एक विशेषज्ञ परामर्शदता का है। विधियों को कार्यान्वित करने का कार्य सम्प्रभुताधारी ही करेगा।

13.8.7 रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की आलोचना

रूसो की सामान्य इच्छा राजदर्शन को एक अमूल्य देन है तथापि इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर कटु आलोचना की गई है-

रूसो की सामान्य इच्छा का सिद्धान्त बड़ा अस्पष्ट और जटिल है। यह बताना कठिन है कि यह सामान्य इच्छा कहाँ है। रूसो की सामान्य इच्छा की परिभाषा में हमको कहीं भी स्पष्ट प्रकाश नहीं मिलता।'' वेपर - कहता है कि ''जब रूसो सामान्य इच्छा का पता ही हमको नहीं दे सकता तो इस सिद्धान्त के प्रतिपादन का लाभ ही क्या हुआ? यद्यपि रूसो ने हमको सामान्य इच्छा के बारे में बहुत कुछ बतलाया है फिर भी जो कुछ बतलाया गया है वह पूर्णतः अपर्याप्त है।

रूसो के बचाव में हम यहीं कह सकते हैं कि वह पूर्णतः दोषी नहीं है। यह विषय ही बड़ी जटिलता लिए हुए है। 'सामान्य इच्छा' कितनी भी वास्तविक क्यों न हो, वह साकार नहीं हो सकती और उसका यह निराकार स्वरूप ही उसके विश्लेषण को बड़ा कठिन बना देता है।

सामान्य इच्छा जिस सार्वजनिक हित पर आधारित है उसे जानना कठिन है। सार्वजनिक हित की व्याख्या शासकगण अपनी इच्छानुसार करते हैं। ऐसे में सामान्य इच्छा के माध्यम से शासकगण इसका दुरूपयोग भी कर सकते हैं।

मानवीय इच्छा को यथार्थ और वास्तविक इच्छा में बाँटना सम्भव नहीं है। क्योंकि मानवीय इच्छा तो ऐसी जटिल, पूर्ण, अविभाज्य समष्टि है यदि ऐसे विभाजन की कल्पना कर भी ली जाय तो यह निर्णय करना असम्भव सा होगा कि कौन सी इच्छा यथार्थ है और कौन सी वास्तविक?

'सामान्य इच्छा' का सिद्धान्त एक ओर तो राज्य की निरंकुशता की स्थापना करता है और दूसरी ओर क्रान्ति के औचित्य को सिद्ध करता है। रूसो के सिद्धान्त में व्यक्ति अपने समस्त अधिकार 'सामान्य इच्छा' को समर्पित कर

देता है जो सर्वोच्च शक्ति के रूप में शासन करती है। यद्यपि उसका उद्देश्य वैयक्तिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना है तथापि बहुमत से असहमत होने वाले व्यक्तियों के लिए बचाव के सभी मार्ग बन्द हैं। रूसो ने व्यक्ति की तुलना में राज्य और सरकार के हाथ में असाधारण सत्ता और शक्ति सौंप दी है। पुनश्च, रूसो लिखता है कि, ''जनता सदैव अपना हित चाहती है, किन्तु वह सदैव इसे नहीं देख सकती।'' अतः जनता को उसका हित बतलाने वाले नेता और पथ-प्रदर्शक सम्पूर्ण सत्ता हथियाकर निरंकुश शासक बन सकते हैं। जोन्स का कहना है कि ''सामान्य इच्छा की धारण के प्रयोग में मनुष्य का भय यह है कि राज्य में तानाशाही की प्रवृत्ति का उदय हो जाता है।''

सामान्य इच्छा का सिद्धान्त छोटे राज्यों में भले ही सफल हो सके, पर आधुनिक विशाल और विविध हितों से परिपूर्ण जनसंख्या वाले राज्यों में सफल नहीं हो सकता। आधुनिक राज्यों में सामान्य हित का निर्धारण करना लगभग असम्भव ही है।

रूसो सामान्य इच्छा के निर्धारण के लिए राजनीतिक दलों की सत्ता और प्रतिनिधि मूलक शासन-व्यवस्था का विरोध करता है जबकि इनका होना आधुनिक प्रजातान्त्रिक राज्यों की सफलता के लिए अनिवार्य है।

रूसो की सामान्य इच्छा न तो सामान्य है और न इच्छा ही, वरन् निराधार एवं अमूर्त चिन्ता मात्र है।

वस्तुतः रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की गम्भीरतम आलोचना यही लगती है कि न तो ''यह सामान्य है और न इच्छा ही'' इस आपत्ति का अर्थ यह है कि इच्छा सामान्य होने पर इच्छा ही नहीं रहती। दूसरे शब्दों में इच्छा किसी विशेष की हो सकती है। व्यक्ति अपनी जन्मजात शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करने के लिए तथा अपनी जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुछ कामना करता है और कुछ चीजें चाहता है और यही वास्तव में उसकी इच्छा है। इस प्रकार की इच्छा अलग-अलग व्यक्तियों में निवास करती है क्योंकि अलग-अलग व्यक्तियों का अपना-अपना जीवन होता है। वास्तव में सामान्य जीवन जैसी कोई चीज नहीं है और जब सामान्य जीवन ही नहीं है तो सामान्य इच्छा कैसे हो सकती है? हो सकता है कि एक व्यक्ति अपने कल्याण की इच्छा करे और अपने ही सरीखे दूसरे लोगों के कल्याण की इच्छा करें किन्तु इन दोनों ही सूरतों में इच्छा विशिष्ट होगी, सामान्य नहीं।

13.8.8 रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त का महत्व

रूसो की सामान्य इच्छा के सिद्धान्त की विभिन्न आलोचनाओं के बावजूद राजदर्शन में इसका महत्वपूर्ण स्थान है-

रूसो की सामान्य इच्छा ने आदर्शवादी विचारधारा की नींव डाली जिसे आधार मानकर टी.एन. ग्रीन ने राज्य का मुख्य आधार बल न मानकर इच्छा को माना। उसने इसी सिद्धान्त की सहायता से यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि जनतन्त्र बहुमत की शक्ति का परिणाम नहीं है वरन् सक्रिय निःस्वार्थ इच्छा का फल है।

रूसो की सामान्य इच्छा राजनीतिक कार्यों में पथ-प्रदर्शन का कार्य करती है। उसके अनुसार सामान्य इच्छा का प्रमुख कार्य विधि निर्माण और शासनतन्त्र की नियुक्ति और उसे भंग करना है।

अपने सिद्धान्त के द्वारा रूसो ने व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा सामान्य हित को उभारा है और बतलाया है कि सामान्य उद्देश्य की सामान्य चेतना ही समाज को स्वस्थ और परिष्कृत बनाती है।

रूसो ने एक ऐसे समाज की स्थापना की जिसमें नागरिक नैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके। रूसो के अनुसार व्यक्ति के अधिकार-स्वतन्त्रता और नैतिकता, सामान्य इच्छा के द्वारा प्राप्त हो सकते हैं। रूसो के इस सिद्धान्त के आगे चलकर कल्याणकारी राज्य सिद्धान्त के विकास में बड़ा योग दिया। सामान्य इच्छा के सिद्धान्त ने इस विचार का पोषण किया कि राज्य एक नैतिक संगठन है जो मानव की असामाजिक एवं स्वार्थी प्रवृत्तियों का परिष्कार करते हुए सामूहिक कल्याण पर ध्यान देता है।

सामान्य इच्छा का सिद्धान्त समाज एवं व्यक्ति में शरीर तथा उसके अंगों का सम्बन्ध स्थापित करके मानव के सामाजिक स्वरूप को दृढ़ करता है।

रूसो की सामान्य इच्छा स्पष्ट करती है कि राज्य एक प्राकृतिक संस्था है और हम उसका पालन इसलिए करते हैं क्योंकि सामान्य इच्छा हमारी आन्तरिक इच्छा का प्रतिनिधित्व मात्र है।

13.9 रूसो की सम्प्रभुता सम्बन्धी अवधारणा

रूसो का सम्प्रभुता सिद्धान्त हॉब्स, लॉक तथा बोदाँ के विचारों से प्रभावित है। उसने सम्प्रभुता की व्याख्या हॉब्स की पूर्णता और संक्षिप्तता के साथ तथा लॉक की विधि के आधार पर की है।

रूसो ने सम्प्रभुता को सामान्य इच्छा में केन्द्रित माना है। यह समाज अथवा समुदाय में निवास करती है। सम्प्रभुता को जनता में प्रतिष्ठित करके रूसो निरंकुशवाद के विरूद्ध एक बहुत बड़ा शस्त्र प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति प्रभु शक्ति का हिस्सेदार है। चूँकि समाज स्वयं सम्प्रभु है, अतः वहीं सर्वोच्च शक्ति है और उस शक्ति का कोई शत्रु नहीं हो सकता। जनता सरकार के कार्यो पर कड़ी और सचेत निगाह रखती है। यहाँ विद्रोह का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि जनता स्वयं सम्प्रभु है।

रूसो ने सम्प्रभुता को 'सामान्य इच्छा' में निहित करके एक असीम, अविभाज्य और अदेय सार्वभौमिकता का समर्थन किया है। हॉब्स की भाँति निरंकुशता के स्तर में उसने कहा है कि ''जिस प्रकार प्रकृति मनुष्य को अपने अंगों पर निरंकुश सत्ता देती है उसी प्रकार सामाजिक समझौता भी राज्य को अपने अंगों पर सम्पूर्ण निरंकुश सत्ता प्रदान करता है।'' किन्तु हॉब्स की निरंकुशता और रूसो की निरंकुशता में एक बहुत बड़ा अन्तर है। जहाँ हॉब्स की निरंकुशता शासक से सम्बद्ध है वहाँ रूसो की जनता से। रूसो ने हॉब्स की निरंकुश प्रभुता और लॉक की सार्वजनिक इच्छा को एक साथ मिलाकर लोकप्रिय सम्प्रभुता को जन्म दिया है।

रूसो के अनुसार सम्प्रभुता सम्पूर्ण जनता में सामूहिक रूप से निवास करती है अथवा यह 'सामान्य इच्छा' को प्रदर्शित करती है, अतः इसका प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। वास्तव में यह सम्प्रभुता ही विधियों का मूल स्रोत है।

रूसो की सम्प्रभुता सिद्धान्त भी विराधाभासों से पूर्ण है। एक ओर तो वह सम्प्रभुता को असीमित बतलाता है। दूसरी ओर यह भी विचार रखता है कि सम्प्रभुता कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकती जो सामान्य हित के विरोध में हो। सम्प्रभु को सर्वोच्च शक्तियाँ देने पर भी रूसो का आग्रह है कि शासक को उचित प्रकार से शासन करना चाहिए तथा न्याय और समानता का नियम सदैव लागू होना चाहिए। यह विरोधाभास लोकप्रिय शासन के प्रति रूसो के अगाध प्रेम के कारण ही है।

निष्कर्ष रूप में, रूसो लोकप्रिय प्रभुसत्ता में विश्वास रखता है। उसके राजनीतिक दर्शन का रहस्य 'एक राजा के स्थान पर लोकप्रभुत्व को स्थापित करने में है। क्योंकि समाज ही सम्प्रभुता का स्रोत और स्वामी है।

13.10 रूसो के शासन सम्बन्धी विचार

लॉक की भाँति ही रूसो भी राज्य और शासन अथवा सरकार के मध्य अन्तर स्पष्ट करता है। उसके शब्दों में ''सामाजिक समझौते द्वारा निर्मित सम्पूर्ण समाज जिसमें कि सामान्य इच्छा का वास होता है राज्य है। जबकि शासन अथवा सरकार केवल वह व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह है जिसको समाज द्वारा यह अधिकार दिया जाता है कि वह सम्प्रभुता की इच्छा लागू करे।'' अर्थात् यहाँ स्पष्ट है कि व्यक्ति एक बुरे शासक का विरोध कर सकता है, राज्य का नहीं।

रूसो के विचार से स्पष्ट है कि सामाजिक समझौते द्वारा राज्य अथवा सम्प्रभुता का जन्म होता है, शासन या सरकार का नहीं। शासन तो एक मध्यवर्ती संस्था (।द प्दजमतउमकपंजम ठवकल) है जिसकी स्थापना सम्प्रभुता ओर जनता के बीच की जाती है ताकि लोगों की नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा हो सके। इसी क्रम में शासन के निर्माण के लिए 'एकत्रित सम्प्रभु जनता' ने पहले शासन का स्वरूप निर्धारित किया और तब यह निश्चित किया कि इस प्रकार स्थापित पदों पर किन व्यक्तियों की नियुक्ति की जाए। रूसो का विश्वास है कि प्रत्येक शासन का रूप जनतन्त्र से ही आरम्भ होता है।

रूसो के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि राज्य पूरे समाज का सूचक है जो अनुबन्ध द्वारा बना है और सामूहिक इच्छा को अभिव्यक्त करता है। इसके विपरीत शासन केवल शक्ति या व्यक्ति-समूह का सूचक है जो समाज द्वारा आदेश पाकर सामान्य इच्छा को कार्यान्वित करने में तत्पर है। रूसो ने सरकार को न्याय-रक्षक मण्डल अथवा राजा कहकर पुकारा है। सरकार या शासन सम्प्रभु सम्पन्न जनता की नौकर मात्र है और सम्प्रभु जनता द्वारा दी गई शक्तियों को प्रयोग ही कर सकता है। जनता अपनी इच्छानुसार सरकार की शक्ति को सीमित या संशोधित कर सकती है और उसे वापिस भी ले सकती है। यहाँ हॉब्स और रूसो की धारण में स्पष्ट अन्तर है। हॉब्स के अनुसार शासन को न तो बदला जा सकता है और न उसके विरूद्ध विद्रोह ही हो सकता है क्योंकि जनता और शासन के सम्बन्ध में आधार संविदा है। इसके विपरीत रूसो के शासन या सरकार का निर्माण किसी संविदा द्वारा नहीं बल्कि सम्प्रभु सम्पन्न जनता के प्रत्यादेश द्वारा होता है।

रूसो ने शासन का वर्गीकरण किया है, किन्तु यह वर्गीकरण रूसो के राजनीतिक चिन्तन की सबसे कमजोर कड़ी है। उसके अनुसार शासन के निम्न रूप हो सकते हैं:-

(1) राजतन्त्र (Monarchy) (2) कुलीनतन्त्र (Aristocracy)

(3) जनतन्त्र (Democracy) (4) मिश्रित (Mixed)

जिस सरकार की बागडोर एक व्यक्ति के हाथ में होती है तो उसे राजतन्त्र, कुछ व्यक्तियों के हाथ में होती है तो उसे कुलीनतन्त्र और समस्त जनता या उसके बहुमत के हाथ में होती है तो उसे जनतन्त्र कहा गया है। सरकार के इन तीनों प्रकारों की रूपरेखा बदलती रहती है। चौथा वर्ग मिश्रित सरकार का है। सरकार के इन रूपों में सर्वोत्तम कौन-सा है, सैद्धान्तिक रूप से यह बताना सम्भव नहीं है। परिस्थितियों और देशकाल के अनुसार कोई भी शासन सर्वोत्तम या निकृष्टतम हो सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि शासन की प्रगति का निश्चित चिन्ह् जनसंख्या है। जिस

राज्य में जनसंख्या बढ़ती जाएगी, समझना चाहिए कि वह प्रगति की ओर बढ़ रहा है। रूसो की यह बात आज के युग में निश्चय ही विचित्र लगती है।

उल्लेखनीय है कि शासन के विविध प्रकारों में रूसो का सुझाव यूनानी नगर राज्यों के प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की ओर है। वह प्रतिनिधि सभाओं को राजनीतिक पतन का चिन्ह् मानता है। प्रतिनिधित्व का अर्थ है- स्वतन्त्रता का हनन। ब्रिटेन की निवा्रचन प्रथा के विषय में उसका मत था कि वहाँ नागरिक केवल निर्वाचन काल में ही स्वतन्त्र होते हैं, इसके बाद दास बन जाते हैं। रूसो ने देखा कि सरकार में लोक नियन्त्रण से बचने और अपनी शक्तियों का प्रसार करने की प्रवृत्ति होती है। अतः उसने यह मत प्रकट किया कि सरकार द्वारा शक्ति के अपहरण को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि प्रभुत्व सम्पन्न जनता की समय-समय पर सभाएँ हुआ करें जो यह निश्चय करे कि वर्तमान शासन व्यवस्था और अधिकारियों में कोई परिवर्तन किया जाना उचित है अथवा नहीं। उसका यह भी कहना था कि जब जनता प्रभुत्व सम्पन्न सभा के रूप में एकत्रित होती है तो सरकार का क्षेत्राधिकार समाप्त हो जाता है। रूसो के दृष्टिकोण में इस विचार का पूर्वाभास मिलता है कि निश्चित अवधि पर संविधान की तथा सरकारी अधिकारियों के कार्यों की समीक्षा की जानी चाहिए।

13.11 रूसो के कानून, स्वतंत्रता, समानता, धर्म एवं शिक्षा सम्बन्धी विचार

13.11.1 रूसो का कानून सम्बन्धी विचार

रूसो ने अपनी रचना 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' में कानून के विशेष महत्त्व देते हैं। कानून ही से प्रत्येक व्यक्ति को यह शिक्षा मिलती है कि वह अपने निर्धारित विचारों के अनुरूप कार्य करे और अपने से असंगत रूप के कार्य से बचे। यदि कानून का पालन नहीं किया जाएगा तो नागरिक समाज की व्यवस्था समाप्त हो जाएगी और मनुष्य को पुनः प्राकृतिक अवस्था में लौट जाना पड़ेगा। अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सामाजिक अनुबन्ध में रूसो ने चार प्रकार के कानूनों का वर्णन किया है-(1) राजनीतिक कानून जिनके द्वारा सम्प्रभुता का राज्य के साथ सम्बन्ध निर्धारण होता है, (2) दीवानी कानून जिनसे नागरिकों के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित होते हैं, (3) फौजदारी कानून जो कानून की आज्ञा के उल्लंघन का दण्ड निश्चिय करते हैं और (4) जनमत नैतिकता तथा रीति-रिवाज। रूसो के अनुसार ये राज्य के वास्तविक संविधान हैं और के हृदय-पटल पर अंकित हैं।

रूसो के अनुसार कानून सामान्य इच्छा की अभिव्यक्ति है। सामान्य इच्छा सदैव जनता के कल्याण की कामना करती है, अतः यह कभी भी कानून द्वारा अन्याय करने की इच्छा नहीं कर सकती। ''कानून हमारे आन्तरिक संकल्प की अभिव्यक्ति है अतः स्वतन्त्रता और कानूनों की आज्ञाकारिता में कोई विरोध नहीं है।''

रूसो के अनुसार कानून ही समाज में समानता लाता है और कोई भी राज्य केवल तभी तक वैध है जब तक वह कानून के अनुसार कार्य करता है। स्पष्ट है कि रूसो भी कानून को उसकी प्रकार सर्वोच्चता देता है जिस प्रकार प्लेटो ने दी थी। अन्तर केवल यही है कि रूसो अपने कानून रूपी प्रभु को सामान्य इच्छा के अधीन कर देता है।

कानून पर विचार करते समय रूसो ने विधि निर्माता की आवश्यकता को नहीं भुलाया है। सही रूप में कानून की व्यापकता का उद्घाटन करने के लिए विधि निर्माता तथा विधायक का होना जरूरी है। किन्तु रूसो इसके लिए अद्वितीय बौद्धिक क्षमतायुक्त प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों की ही संस्तुति करता है।

13.11.2 रूसो का स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

रूसो स्वतन्त्रता का महान पैगम्बर था। अपने ग्रन्थ 'Social Contract में उसने लिखा है- ''स्वतन्त्रता मानव का परम आन्तरिक तत्त्व है।'' स्वतन्त्रता मानवता का प्राण है जिसके अपहरण का अर्थ है मानवता का विलोप होना। स्वतन्त्रता ही नैतिकता का आधार है। स्वतन्त्र भाव से काम करने पर ही उत्तरदायित्व अभिव्यक्त होता है। जड़वत कार्य करने में नैतिकता की अभिव्यंजना नहीं हो सकती। रूसो सम्प्रभु और सरकार में विभेद करता है। यदि सरकार सम्प्रभु की शक्ति का अपहरण कर ले तो सामाजिक अनुबन्ध टूट जाता है और समस्त नागरिक अपनी उस नैसर्गिक स्वतन्त्रता को प्राप्त कर लेते हैं जिसे नागरिक समाज में आने पर उन्होंने त्याग दिया था पर चूँकि अनुबन्ध सहमति पर आश्रित है अतः अनुबन्धवाद का समर्थन वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अनुमोदन है।

रूसो स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता या मनमाना कार्य करने की आजादी से नहीं लेता। समाज द्वारा सामान्य हित की दृष्टि से बनाए गए नियमों का पालन व्यक्ति को अवश्य करना चाहिए। उसके विरूद्ध किया गया आचरण सामान्य इच्छा की अवहेलना करना होगा। जो स्वतन्त्रता नहीं उच्छृंखलता होगी।

अतः स्मरणीय है कि रूसो लॉक की भाँति स्वतन्त्रता, जीवन और सम्पत्ति को मनुष्य के प्राकृतिक नहीं अपितु राज्य-प्रदत्त नागरिक अधिकार मानता है।

13.11.3 रूसो का समानता विषयक विचार

रूसो की मान्यता है कि समानता के अभाव में स्वतन्त्रता नहीं रह सकती। यद्यपि भौतिक असमानताएँ नष्ट नहीं हो सकतीं किन्तु मनुष्य कानूनी दृष्टि से समान बनाए जा सकते हैं। रूसो यह भी नहीं चाहता कि किसी को इतनी शक्ति प्राप्त हो जाए कि वह उसका निरंकुश प्रयोग कर सके। शक्ति का प्रयोग तो कानून और पद के अनुरूप ही करना होगा। राज्य का आर्थिक स्वास्थ्य तभी बना रह सकता है जब न कोई नागरिक इतना धन सम्पन्न हो कि वह दूसरे को खरीद ले और न गरीब एवं साधनही हो कि वह स्वयं को ही बिक जाने दे। रूसो के इन विचारों से धन की भयावह विषमताओं के प्रति उसकी घृणा स्पष्ट रूप से प्रकट होती है।

13.11.4 रूसो का धर्म सम्बन्धी विचार

रूसो के धर्म सम्बन्धी विचार क्रान्तिकारी हैं। वह हॉब्स की तरह धर्म को राज्याधीन मानता है। उसने धर्म के तीन प्रकार बताए हैं-(1) वैयक्तिक धर्म, (2) नागरिक धर्म एवं (3) पुरोहित धर्म।

वैयक्तिक धर्म मनुष्य की अपने संस्थाओं और अपने आन्तरिक विश्वासों पर आधारित है। यह धर्म सर्वश्रेष्ठ है किन्तु सांसारिक दृष्टि से अव्यावहारिक है। वैयक्तिक धर्म ईश्वरीय नियमों पर आधारित आडम्बरहीन सहज धर्म है।

नागरिक धर्म राष्ट्रीय तथा वाह्य और संस्कारों, रूढ़ियों तथा विधियों से निश्चित है। नागरिक धर्म रूसो की एक निराली कल्पना है जो सम्भवतः उसके मस्तिष्क में प्लेटो के 'लॉज' एवं अन्य यूनानी विचारकों के चिन्तन से उत्पन्न हुई है। रूसो ने समाज को दृढ करने के लिए नागरिक धर्म की कल्पना की है। रूसो ने इस धर्म के बीच विधेयात्मक सूत्र बताए हैं-(1) ईश्वर की सत्ता में विश्वास करना और यह मानना कि वह परमज्ञानी, दूरदर्शी और दयालु है, (2) पुनर्जन्मवाद में विश्वास (3) पुन्यात्मा सुख पायेंगे, (4) पापात्मा दण्ड भोगेंगे तथा (5) सामाजिक अनुबन्ध और विधियों की पवित्रता की रक्षा करना महत् कर्त्तव्य है। रूसो ने नागरिक धर्म का केवल एक

निषेधात्मक सूत्र बतलया है और वह है असहिष्णुता। इसका अभिप्राय है कि असहिष्णु व्यक्तियों के लिए राज्य में स्थान नहीं होना चाहिए। यह आश्चर्य की बात है कि रूसो नागरिक धर्म पर पूर्व सम्मति देकर फिर उसके प्रतिकूल आचरण करने वालों का वध करने का समर्थन करता है। आलोचकों का तर्क है कि रूसो का यह विचार निरंकुशता को प्रोत्साहन देने वाला है जो उसकी उदारता को समाप्त कर देता है।

पुरोहित धर्म वह धर्म है जो पुरोहितों-पादरियों द्वारा दिया जाता है। यह धर्म सबसे निष्कृष्ट है क्योंकि यह दो तरह के प्रधानों अथवा सत्ताओं को जन्म देता है और जनसाधारण को परस्पर विरोधी कर्त्तव्यों में फँसा देता है। फलस्वरूप संघर्ष और कहल का वातारण उत्पन्न होता है और राज्य की प्रगति में बाधा पहुँचती है।

रूसो के अनुसार राज्य को नागरिक विश्वासों के धर्म पर जो सामाजिकता और सज्जनता पर बना है चलना चाहिए।

13.11.5 रूसो का शिक्षा सम्बन्धी विचार-रूसो के शिक्षा सम्बन्धी विचार उसके श्म्उपसमश् नामक ग्रन्थ में है जिसमें शिक्षा का उद्देश्य ‘मनुष्य की निर्वासित प्रकृति की पुनर्स्थापना बतलाया गया है। इस ग्रन्थ के कारण उसे प्रगतिवादी शिक्षा का जनक माना जाता है। रूसो ने ऐसी शिक्षा का समर्थन किया है जो मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति को संवार कर उसे वैभवशाली बनाए। रूसो ने शिक्षा-योजना और शिक्षण विधि जो विचार दिए हैं, वे आज भी शिक्षा के क्षेत्र में पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। रूसो अपने समय की शिक्षा व्यवस्था का विरोधी था। उसने लिखा था कि तत्कालीन शिक्षा ऐसे व्यक्तियों का निर्माण करती है जिनके पास न प्राकृतिक स्वाधीनता है, न पूर्ण नागरिक आश्रय। बाल-शिक्षा को पादरियों के हाथ से निकाल लेने तथा किशोरावस्था तक धर्म-शिक्षा का निषेध करने की उसकी प्रस्थापनाओं के कारण पादरी वर्ग उससे रूष्ट हो गया। उसने उसके ग्रन्थ ‘एमिल’ को अग्नि के भेंट चढ़ा दिया और फ्राँस की संसद तथा जेनेवा की सरकार ने भी उसकी निन्दा की।

13.12 रूसो की हाब्स तथा लॉक के साथ तुलना

इनमें सबसे पहले बड़ा अन्तर जो हम देखते हैं वह यह कि सोशल कॉन्टैक्ट में हमें इस बात का कोई विस्तृत विवरण नहीं मिलता है कि प्राकृतिक अवस्था कैसी थी और कौन से उद्देश्यों से मनुष्य राज्य की स्थापना करने के लिये उत्प्रेरित हुये। इसके विपरीत, हॉब्स तथा लॉक ने इस विषय पर विस्तारपूर्वक लिखा है। इसी के साथ-साथ रूसो के लेखों में प्राकृतिक कानून तथवा प्राकृतिक अधिकारों का जिनका कि हॉब्स तथा लॉक की विचार प्रणालियों में इतना महत्वपूर्ण स्थान है, पूर्ण अभाव है। इन दोनों बातों का अभाव महत्वपूर्ण है, यह इस बात का सूचक है कि रूसो के मस्तिष्क में संविदा सिद्धान्त का स्थान केवल गौण है।

दूसरा अन्तर यह है कि जहाँ तक कि संविदा की शर्तो का सम्बन्ध है, रूसो, हॉब्स के सदृश परन्तु लॉक के विपरीत, व्यक्ति द्वारा अपनी समस्त शक्तियों के समर्पण की कल्पना करता है। परन्तु रूसो तथा हॉब्स में एक स्पष्ट अन्तर है। हॉब्स के मतानुसार व्यक्ति अपनी शक्तियों का समर्पण एक व्यक्ति विशेष अथवा व्यक्ति समूह को करता है जो कि संविदा में कोई पक्षकार नहीं है, बल्कि उससे बाहर है, किन्तु रूसो के अनुसार व्यक्ति अपने आपको सम्पूर्ण समाज को समर्पित करता है। इन दोनों धारणाओं में आकाश-पाताल का अन्तर है जबकि लॉक के अनुसार यह समर्पण केवल आंशिक होता है, केवल प्राकृतिक कानून की व्याख्या करने तथा उसे लागू करने का अधिकार ही समाज को समर्पित किया जाता है, अन्य समस्त प्राकृतिक अधिकार व्यक्ति के पास अक्षुण्ण रहते हैं। इसका अर्थ यह है

कि हॉब्स तथा रूसो, दोनों के अनुसार (निःसन्देह दोनों में आधारभूत अन्तर तो है ही) राज्य निरंकुश अर्थात् एक नश्वर-देव बन जाता है, किन्तु लॉक के अनुसार राज्य का अधिकार सीमित रहता है। तीनों विचारकों के इस अन्तर को निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया जा सकता है।

तीसरा अन्तर हम यह देखते हैं कि हॉब्स के अनुसार संविदा के फलस्वरूप जिस इच्छा का उदय होता है, वह वास्तविक होती है क्योंकि वह एक व्यक्ति की इच्छा होती है, परन्तु इसी कारण वह सामान्य नहीं हो सकती, लॉक में उस इच्छा को सामान्य तो कहा जा सकता है, क्योंकि वह बहुमत की इच्छा है, परन्तु वह वास्तविक नहीं होती क्योंकि वह एकात्मक नहीं होती, रूसो में वह वास्तविक तथा सामान्य दोनों है। वह वास्तविक इसलिये है क्योंकि वह समाज जिसकी इच्छा वह होती है, एक नैतिक तथा सामूहिक व्यक्ति होता है और इसलिये एकात्मक है, वह सामान्य है, क्योंकि वह समस्त नागरिकों की एक सामूहिक इच्छा है।

चौथा अन्तर इस प्रकार है कि रूसो का नश्वर-देव एक सम्पूर्ण समाज है, जबकि हॉब्स का केवल एक व्यक्ति। दोनों में इस महत्वपूर्ण अन्तर के अतिरिक्त इतना ही महत्वपूर्ण एक अन्तर और भी है, वह यह है कि हॉब्स के नश्वर-देव का व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका दोनों शक्तियों के ऊपर अधिकार है और इसलिये यह निरंकुश है और प्रजाजन दास, किन्तु रूसो का सम्प्रभुता सम्पन्न समाज केवल व्यवस्थापिका शक्तियों का प्रयोग करता है। कार्यपालिका शक्तियों को वह सरकार को सौंप देता है जो कि उसका अभिकर्ता अथवा नौकर है। इस प्रकार से रूसो व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखना चाहता है। दूसरे शब्दों में, रूसो में सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य तथा सरकार में भेद है, जबकि हॉब्स में दोनों एकरूप है।

लॉक के मतानुसार सरकार को न्यास कहकर पुकारा गया है, उनकी शक्तियाँ धरोहर के रूप में है, संविदात्मक नहीं। यहाँ तक तो लॉक तथा रूसो में कुछ साम्य है। परन्तु जबकि रूसो सम्प्रभुता सम्पन्न जनता को अपनी व्यवस्थापिका शक्तियों को किसी प्रतिनिधि निकाय के पक्ष में हस्तान्तरित करने का निषेध करता है, लॉक के विचार में व्यवस्थापिका शक्तियों का प्रयोग साधारणतया जनता के प्रतिनिधियों द्वारा ही होना चाहिए। सारांश यह है कि जब कि रूसो संसदात्मक संस्थाओं का बहिष्कार करता है और प्रत्यक्ष जनतन्त्र का समर्थन करता है जिसमें न प्रतिनिधि हो न दल, लॉक संसदात्मक संस्थाओं का पक्का समर्थक था।

यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि संविदा सिद्धान्त की कुछ विशेषतायें रूसो, हॉब्स से और कुछ लॉक से ग्रहण करता है और उनका सम्मिश्रण करके एक नवीन सम्पूर्ण सिद्धान्त तैयार करता है। उसकी सम्प्रभुता की परिभाषा में हॉब्स जैसी पूर्णता तथा सुनिश्चितता है किन्तु उसे वह जनता में रखता है जिससे निस्सन्देह लॉक प्रसन्न हुआ होगा।

अभ्याय प्रश्न-

1. रूसो का जन्म किस देश में हुआ था।

   a. स्विट्जरलैंड b. फ्रांस c. इटलीd. जर्मनी

2. ‘‘विज्ञान तथा कला की प्रगति ने नैतिकता को भ्रष्ट करने में सहयोग दिया है’-यह किसका कथन है-

   a. बोदाँ b. हाब्सc. लॉक d. रूसो

3. निम्न में से कौन सा/से ग्रन्थ रूसो द्वारा लिखित है।

a. सोशल कान्टैक्ट ;b. इमाइल

c. लॉ नॉवेल हेलॉयज d. उपरोक्त सभी

4. निम्न में कौन सा/से ग्रन्थ रूसो के हैं-

a. कन्फैशन्स b. रिवरीज c. डाइलौग्स d. उपरोक्त सभी

5. 'सामान्य इच्छा' को सामाजिक संविदा का मूलतत्व कौन मानता है।

a. लॉक b. हॉब्स c. रूसो d. बोदाँ

13.13 सारांश

रूसो के मूल्याँकन के विषय में आलोचकों में घोर मतभेद है। जहाँ वेपर, कोल, लैंसन आदि ने रूसो की खुलकर प्रशंसा की है वहाँ वाल्टेयर, बर्क, मार्ले आदि ने रूसो की कटु आलोचना की। एक ओर रूसो को महान दार्शनिक पुकारा गया है और दूसरी ओर उसे मिथ्यावादी तथा सभ्यताहीन कहा गया है। जी0डी0एच0 कोल ने रूसो को राजदर्शन का पिता कहा है और उसके 'सोशियल कॉन्टेक्ट' को राजदर्शन के ऊपर महानतम ग्रन्थ बताया तो कॉन्सटेन्ट ने रूसो को प्रत्येक प्रकार के अधिनायकवाद का सबसे भयानक मित्र कहा है। इसी तरह अन्य कतिपय विद्वानों ने रूसो को व्यक्ति के लिए अधिकतम स्वतन्त्रता चाहने वाला व्यक्तिवादी माना है तो कुछ ने उसे सर्वाधिकारवाद का पोषक बतलाया है।

इन परस्पर विचारों के लिए रूसो स्वयं उत्तरदायी है। उसने विरोधाभास संयुक्त वाक्यों का प्रयोग इतनी अधिकता से किया है कि वे पाठक के मस्तिष्क में भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। साथ ही उसने अपने द्वारा प्रयुक्त शब्दों को कोई सुनिश्चित परिभाषा भी नहीं दी है उल्टे किन्हीं-किन्हीं शब्दों को उसने अनेक स्थानों पर विभिन्न अर्थों के लए प्रस्तुत किया है।

किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि विरोधाभासी विचारों को प्रकट करते हुए भी रूसो ने राजदर्शन के इतिहास पर गहरा प्रभाव डाला है। वह सामान्य इच्छा के सिद्धान्त द्वारा प्रभुसत्ता और स्वाधीनता में समन्वय स्थापित करता है और इस प्रकार प्रजातन्त्र के लिए बहुत बड़ा नैतिक आधार प्रदान करता है। उसका यही सिद्धान्त इस मूल सत्य का उद्घाटन करता है कि 'शक्ति नहीं, इच्छा राज्य का आधार है।' रूसो ने लोकप्रिय सम्प्रभुता की नींव डाली है। रूसो ने राज्य और शासन के मध्य तथा सम्प्रभु कानून एवं सरकारी कानून के बीच स्पष्ट भेद किया है। उसका सम्प्रभु कानून ही आधुनिक मौलिक अथवा साँविधानिक कानून का स्रोत है। उसके प्रभाव के परिणामस्वरूप ही आधुनिक युग में इस बात पर बल दिया जाता है कि शासन के विधेयात्मक कानून देश के मौलिक कानून के अनुकूल होने चाहिए। फ्रेंच क्रान्ति के समय रूसो के प्रभाव की तुलना उस प्रभाव से की जा सकती है जो धर्म-सुधार युग में बाइबिल का जनता पर पड़ा था अथवा 20वीं शताब्दी में रूसी जनता पर मार्क्स की पुस्तक 'दास कैपिटल' ने डाला था। डॉयल ने ठीक ही लिखा है-रूसो ने घोर दुविधा एवं असन्तोष के समय में यूरोप के सामने एक प्राचीन और जर्जर ढांचे को तोड़ डालने का औचित्य प्रदर्शित किया तथा एक ऐसे आदर्श को उसके सामने रखा जिसे वह विनाश के पश्चात् प्राप्त कर सकता था।

सेबाइन के अनुसार, ''रूसो स्वयं राष्ट्रवादी नहीं था किन्तु उसने नागरिकता के प्राचीन आदर्श को एक ऐसा रूप प्रदान किया जिससे राष्ट्रीय भावनाओं के लिए उसे अपनाना सम्भव हो सका।'' रूसो के विचारों का जर्मन विज्ञानवाद पर भी गहरा असर हुआ। वह मानव की नैतिकता का समर्थक था। स्वतन्त्रता को वह जीवन का परमतत्त्व मानता था और इस कारण नीतिशास्त्र के क्षेत्र में भी उसका क्रान्तिकारी प्रभाव रहा। काँट कहता था कि सरल मानव की नैतिक वृत्तियों का महत्त्व उसे रूसो के ग्रन्थ से ही विदित हुआ। तार्किक वाग्जाल के बदले हृदय की सरलता पर जो ध्यान रूसो ने दिया वहीं मानववादी नीति-शास्त्र का आधार हो सकता है। स्वतन्त्रता की विराट उद्घोषणा रूसो ने की और नैतिकता का इसे आधार बतलाया। इस प्रस्ताव का गहरा असर जर्मनी के दार्शनिकों पर पड़ा। इसी कारण हीगल ने कहा था कि रूसो के ग्रन्थों में ही स्वतन्त्रता की बुद्धिपूर्वक अभिव्यक्ति हुई है। स्वतन्त्रता के साथ ही समानता पर रूसो ने जो बल दिया है, इस कारण कहा जा सकता है कि न केवल लोकतन्त्र का ही नहीं अपितु समाजवाद का बीज भी रूसो के ग्रन्थों में निहित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूसो की विचारधारा से तीन दृष्टि बिन्दुओं व्यक्तिवाद, समूहवाद और नैतिक स्वातन्त्रयवाद को ग्रहरा प्रश्रय प्राप्त हुआ।

13.14 शब्दावली

1. सामान्य इच्छा- इस शब्द का आरम्भिक प्रयोग फ्राँसीसी विचारक डेनिस दीद्रो (1713-1784) ने अपने विश्वकोश में किया था फिर इसे जीन-जेकस रूसो (1712-1778) ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'सोशल कान्टैªक्ट' में विकसित किया। रूसो मनुष्य की तात्कालिक और तात्विक इच्छा में अन्तर करते हुये कहते हैं कि तात्कालिक इच्छा स्वार्थ आधारित होती है जबकि तात्विक इच्छा सबके हित एवं परमहित से जुड़ी होती है। सामान्य इच्छा पूरे समाज की तात्विक इच्छा को व्यक्त करती है।

2. लोकप्रिय प्रभुसत्ता- यह वह सिद्धान्त है जो साधारणतः नैतिक आधार पर जनसाधारण को प्रभुसत्ता का उपयुक्त पात्र मानता है। इस विचार के आरिम्भक संकेत प्राचीन रोमन विचारक मार्कस तुलियस सिसरो के दर्शन में दिखता है। किन्तु सबसे पहले चौदहवीं शताब्दी में इतावली दार्शनिक मार्सीलियो आफ पादुआ ने लोकप्रिय प्रभुसत्ता को पोप की सत्ता को चुनौती देने में प्रयोग किया। 18वीं शताब्दी में यह सिद्धान्त जे0जे0 रूसो के राजनीतिक दर्शन का सार तत्व बना। टॉमस जैफ़र्सन ने भी लोकप्रिय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को आगे बढ़ाया। लोकप्रिय प्रभुसत्ता की अनिवार्य शर्ते हैं: सार्वजनिक मताधिकार, विधानमण्डल पर सर्वसाधारण के प्रतिनिधियों का नियंत्रण और राष्ट्र के वित्त पर जन-प्रतिनिधियों के सदन का नियंत्रण।

3. भोला-भाला असभ्य जीव -ऐसा मनुष्य जिसकी कल्पना रूसो प्राकृतिक अवस्था में स्वतंत्र, सन्तुष्ट, आत्मतुष्ट, स्वस्थ एवं निर्भय जीव के रूप करता है जो प्रकृति की गोद में स्वच्छन्दतापूर्वक जीवन यापन करता है।

13.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.a 2.d 3.d 4.d 5.c

13.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजनीति दर्शन का इतिहास- जॉर्ज एच0 सेबाइन

2. मास्टर्स ऑफ पॉलिटिकल थॉट- डब्ल्यू0टी0 जोन्स

3. राजनीतिक चिन्तन की रूपरेखा- ओ0पी0 गाबा

4. राजदर्शन का स्वाध्ययन- सी0एल0 वेपर

13.17 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. राजनीति कोश- डा0 सुभाष कश्यप एवं विश्वप्रकाश गुप्त

2. पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तक- आर0एम0 भगत

3. राजनीति विज्ञान विश्वकोश- ओ0पी0 गाबा

13.18 निबन्धात्मक प्रश्न

1.‘‘रूसो की सामान्य इच्छा हॉब्स का शीर्षविहीन लेवियाथान है।’’ स्पष्ट करते हुए विश्लेषणात्मक व्याख्या कीजिए।

2.रूसो के विचार में पाये जाने वाले अन्तर्विरोधों को उत्पन्न करने वाले कारणों पर प्रकाश डालते हुए विवेचनात्मक विश्लेषण करें।

3.आधुनिक राजनीतिक विचार को रूसो की देन का मूल्यांकन कीजिये।

4.रूसो का सामाजिक समझौता लॉक का ही सिद्धान्त है, जिसे हॉब्स की पद्धति द्वारा विकसित किया गया है। व्याख्या कीजिए।

5.रूसो ने लॉक के व्यक्तिवाद तथा हॉब्स के निरंकुशवाद में सामंजस्य बिठाने का जो प्रयास किया है, उस में वह कहाँ तक सफल रहा है। विवेचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

इकाई-14 : चार्ली-लुई द मांटेस्क्यू (Charles-Louis de Montesquieu) (1689-1755)

इकाई की रूपरेखा

14.1 प्रस्तावना
14.2 उद्देश्य
14.3 कृतियां
14.4 पद्धति
14.5 राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार
14.6 विधि सम्बन्धी विचार
14.7 सरकारों का वर्गीकरण सम्बन्धी विचार
14.8 स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार
14.9 शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त
14.10 शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचना
14.10.1शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रभाव एवं मूल्यांकन
14.11 अन्य सिद्धान्त
14.12 सारांश
14.13 शब्दावली
14.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
14.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य पुस्तकें
14.17 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.18 निबन्धात्मक प्रश्न

14.1 प्रस्तावना-

अठारहवीं शताब्दी में फ्राँस में जितने भी दार्शनिक हुए, उनमें रूसो को छोड़कर मॉण्टेस्क्यू सबसे महत्वपूर्ण था। मॉण्टेस्क्यू ऐसा विचारक था जिसने सामाजिक और राजनीतिक सिद्धान्त के क्षेत्र में मौलिक योगदान किया। उसे सामाजिक दर्शन की जटिलताओं का अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट ज्ञान था। यद्यपि उसने समाज एवं शासन पर विस्तार से व्यावहारिक अध्ययन किया, तथापि उसकी अधिकाँश धारणाएँ ऐसी थीं जिनके लिए प्रमाण एकत्र करने का उसने प्रयत्न नहीं किया। उन्होंने समाजविज्ञान, ऐतिहासिक अनुसन्धान, तुलनात्मक राजनीति-सिद्धान्त और कानून के विकास की भूमिक तैयार की, जिसके कारण ही उसे समकालीन राजनीतिक समाजविज्ञान और सांस्कृतिक मानव विज्ञान के अग्रदूत के रूप में याद किय जाता है।

मॉण्टेस्क्यू का जन्म एक विख्यात फ्राँसीसी वकील के घर में सन् 1889 में हुआ था। 66 वर्ष की अवस्था में 10 फरवरी, 1755 ई0 को वह इस संसार से विदा हो गया। उसके जीवन में रूसो के समान विलक्षणता का अस्तित्व नहीं था, किन्तु अपनी रचनाओं, विशेषकर 'The Spirit of Laws ' के कारण वह शिक्षित समाज में सदा के लिए अमर हो गया।

14.2 उद्देश्य-

मॉण्टेस्क्यू को अपने जीवन में रूसो की भाँति अभाव के दिन नहीं देखने पड़े। उसे अपनी माता से और तत्पश्चात् अपने ताऊ से विरासत में विशाल सम्पत्ति मिली और जिस महिला से उसने विवाह किया वह भी अपनी पैतृक सम्पत्ति लाई। यही कारण था कि वह सुख एवं शान्ति की जिन्दगी बसर करते हुए, सामाजिक एवं बौद्धिक कार्यों को करते हुए निश्चिन्त रूप से अपने प्राणों का उत्सर्ग किया। उसने सन् 1728 में ऑस्ट्रिया, स्विटजरलैण्ड, इटली, हॉलैण्ड, हंगरी आदि अनेक देशों का भ्रमण करके अपने ज्ञान को समृद्ध बनाया। उसने इन देशों के राजनीतिक इतिहास का अध्ययन प्रस्तुत कर समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक पद्धति का मार्ग प्रशस्त किया। सन् 1729 से 1731 ई0 तक वह इंग्लैण्ड में रहा और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि राजनीतिक शक्तियों का विभाजन ही वहाँ की राजनीतिक प्रमुखता का स्रोत है। अपने भ्रमण से लौटकर वह लाब्रीडी (अपने जन्म-स्थान) में रहने लगा। यदा-कदा वह पेरिस भी चला जाता था।

मॉण्टेस्क्यू को फ्राँस की दुर्दशा देखकर बड़ा दुख होता था। वास्तव में उसका आविर्भाव एक ऐसे समय हुआ था जब फ्रांसीसी जनता करों के बोझ से पिस रही थी। जनता के पास तन ढकने का वस्त्र और पेट भरने को पूरा भोजन न था। राजा एवं उसके सामन्तों का जीवन ऐश्वर्य और विलास से परिपूर्ण था। कृषक वर्ग सामन्तों की दमनकारी नीति से और मध्यम वर्ग करों के बोझ से पीड़ित था। मॉण्टेस्क्यू तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था का अन्त करके फ्राँस मे एक सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली की स्थापना करना चाहता था। अपने भ्रमण और इंग्लैण्ड के दो वर्षीय आवास से लौटकर उसने शासन-व्यवस्था के बारे में अपने विचारों को जनता के सामने रखा। शासन-सत्ता के विकेन्द्रीकरण अथवा विभाजन का समर्थन करते हुए उसने विधियों की परिभाषा एवं उत्पत्ति, सरकार की प्रकृति एवं उसका वर्गीकरण, राजस्व, सैनिक व्यवस्था आदि विभिन्न विषयों पर विचार प्रकट किए।

14.3 मांन्टेस्क्यू की कृतियाँ

1. पर्सियन लेटर्स (Persian Letters)

2. रिफलेक्शन ऑन द कॉजेज आफ द ग्रेटनेस एण्ड डिक्लाइन आफ द रोमन्स (Reflection on the causes of the Greatness and Decline of the Romans)

3. द स्प्रिट ऑफ लॉज (The Spirit of Laws)

मॉण्टेस्क्यू के समस्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ उसके विदेश भ्रमण से लौटने के बाद ही लिखे गये, तथापि सन् 1721 ई0 में जबकि वह केवल 32 वर्ष का था, उसकी एक कृति 'Persian Letters प्रकाशित हो चुकी थी जिसमें कुछ ऐसे कल्पित पत्रों का संग्रह था जिसके द्वारा फ्राँस के सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन की स्वतन्त्र आलोचना की गई थी। चर्च, राज्य, राजा एवं देश की अन्य संस्थाओं पर व्यंग कसे गए थे और फ्रेंच समाज की मूर्खताओं तथा अन्धविश्वासों का मजाक उड़ाया गया था। यद्यपि यह पुस्तक बिना लेखक का नाम दिए ही प्रकाशित कराई गई थी, किन्तु यह बात छिपी नहीं रह सकी थी कि इसका लेखक मॉण्टेस्क्यू ही था। फ्राँस की पीड़ित सामान्य जनता मॉण्टेस्क्यू के इस चित्रण से अत्यन्त प्रभावित हुई।

सन् 1734 में मॉण्टेस्क्यू ने अपना ग्रन्थ ''Reflection on the Causes of the Greatness and Decline of the Roman प्रकाशित कराया जिसमें उसने उन प्रतिक्रियाओं का वर्णन किया जो विभिन्न देशों के इतिहासों के अध्ययन के कारण उस पर हुई थीं। यह ग्रन्थ उसके दर्शन के स्वरूप एवं पद्धति को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। इस ग्रन्थ में उसका यह विश्वास झलकता है कि सामान्य कारणों में से घटनाओं का उदय होता है और ऐतिहासिक घटनाएं एवं प्रक्रियाएँ संयोग से नहीं प्रत्युत् कुछ निश्चित सिद्धांतों द्वारा अनुशासित होती है। मॉण्टेस्क्यू ने रोमन इतिहास का अध्ययन, रोम के पतन के कारणों को समझकर भविष्य के लिए सबक सीखने की दृष्टि से किया था और इसलिए यह मानने में कोई असंगति प्रतीत नहीं होती कि उसके राजदर्शन के सामान्य स्वरूप को निर्धारित करने वाले प्रमुख तत्वों में रोमन इतिहास और ब्रिटिश संस्थानों का स्थान अग्रणी था।

सन् 1748 में मॉण्टेस्क्यू का अमर ग्रन्थ 'The Spirit of Laws प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में उसने सरकार के भेद, विधि, आर्थिक एवं सैनिक व्यवस्था, सामाजिक परम्पराओं एवं नागरिक चरित्र, धार्मिक समस्याओं आदि पर अपने विचार प्रकट किए। मॉण्टेस्क्यू का यह ग्रन्थ 18वीं शताब्दी के गद्य की सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है जो अपनी शैली और विषय-सामग्री दोनों ही दृष्टियों से अद्वितीय है। मैक्सी के अनुसार ''यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि राजनीतिक विज्ञान को उन पुस्तकों में जो कभी भी लिखी गई हैं 'स्प्रिट ऑफ लॉज' सबसे अधिक पठनीय ग्रन्थ है।'' डनिंग ने लिखा है कि इस पुस्तक का क्षेत्र इतना व्यापक है कि यह विशुद्ध राजनीति की बजाय समाजशास्त्र की पुस्तक बन गई है। 'स्प्रिट ऑफ लॉज' 31 अध्यायों में विभक्त है। विचारों की दृष्टि से इसे मोटे तौर पर छः भागों में विभाजित किया जा सकता है- पहले भाग में कानून और सरकार का चित्रण है, दूसरे भाग में राजस्व तथा सैनिक व्यवस्था आदि पर विचार किया है, तीसरा भाग सामाजिक परम्पराओं की व्याख्या करता है और बतलाता है कि एक देश के नागरिकों के चरित्र-निर्माण में वहाँ के भौगोलिक वातावरण का क्या प्रभाव पड़ता है, चौथे भाग में आर्थिक विषयों की, पाँचवें भाग में धर्म सम्बन्धी समस्याओं की और छठे भाग में विभिन्न देशों के कानूनों की चर्चा की गई है। संक्षेप में, यह ग्रन्थ सभी प्रकार के पाठकों को चिन्तन की कुछ न कुछ सामग्री प्रदान

करता है। इसीलिए, मॉण्टेस्क्यू का यह ग्रन्थ इतना लोकप्रिय हुआ कि दो वर्ष में ही इसके 22 संस्करण छपे और यूरोप की विभिन्न भाषाओं में उसके अनुवाद हुए।

14.4 मॉण्टेस्क्यू की पद्धति

मॉण्टेस्क्यू समाजशास्त्री और ऐतिहासिक पद्धति का समर्थक था। अनेक समालोचकों की दृष्टि में उसकी देन पद्धति के क्षेत्र में है, सैद्धान्तिक क्षेत्र में नहीं। 'The Spirit of Laws की अभूतपूर्व सफलता का एक प्रधान कारण उसकी यह पद्धति ही थी जो समकालीन लेखकों से सर्वथा भिन्न थी। उसने प्लेटो, हॉब्स और रूसो के समान बुद्धिवादियों द्वारा अपनाई गई उस पद्धति का तिरस्कार किया जिसके अनुसार वे मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में कुछ मान्यताओं को लेकर चलें और इन पूर्व निर्धारित मान्यताओं के आधार पर उन्होंने एक आदर्श राज्य का ढाँचा खड़ा करने का प्रयत्न किया। मॉण्टेस्क्यू ने अनुभूतिमूलक दृष्टिकोण तथा निरीक्षण , पर आधारित वैज्ञानिक ऐतिहासिक पद्धति को अपनाया। वह ऐतिहासिक घटनाओं के विश्लेषण के द्वारा निष्कर्ष निकालकर इतिहास से उनको पुष्ट करता था। उसने राजनीतिक प्रश्नों का निरपेक्ष राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर नहीं, बल्कि वास्तविक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर विवेचन किया। उसने वैज्ञानिक अनुशीलन द्वारा अपने मार्गो को पुष्ट किया और तुलनात्मक पद्धति द्वारा उनके अपेक्षित महत्व का पता लगाया। मॉण्टेस्क्यू की पद्धति के स्वरूप को 'Persian Letters से उद्धृत उसके इस कथन से बहुत कुछ माना जा सकता है- ''मैंने इस बात पर प्रायः विचार किया है कि सरकार के विभिन्न रूपों में से कौन सा रूप बुद्धि के सबसे अधिक अनुकूल है और मुझे यह प्रतीत होता है कि सर्वोत्तम सरकार वह होती है जो जनता की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अधिकाधिक अनुकूल उसका पथ प्रदर्शन करें।'' इस कथन का अभिप्राय यही है कि यह आगमन तर्कशास्त्रीय विद्वानों द्वारा अपनाई गई पद्धति का विरोध था और सरकार की किसी ऐसी अमूर्त योजना की रचना में विश्वास नहीं करता था जो समस्त देश और काल के लिए अनुकूल हो। वह समकालीन प्रवाह के प्रतिकूल अरस्तू का अनुसरण करते हुए प्राचीन और समकालीन मानव-समाज के इतिहास के अध्ययन और अनुभव की नींव पर अपने राजनीतिक सिद्धान्तों का महल खड़ा करने को प्रयत्नशील हुआ था। डनिंग के शब्दों में ''राजनीतिक समस्याओं का समाधान की दृष्टि से उसकी पद्धति अरस्तू की है, प्लेटो, बोदाँ, हॉब्स या लॉक की नहीं अपने समकालीन सब विचारकों की भाँति वह अपने न्याय के लिए, विचार की कसौटी के लिए प्रकृति की ओर देखता है, किन्तु उसकी प्रकृति की शिक्षाएँ अथवा नियम विशुद्ध तर्क की अमूर्त कल्पनाओं पर आधारित नहीं है, अपितु वर्तमान और अतीत के जीवन के ठोस तथ्यों पर अवलम्बित है।'' अरस्तू की लुप्तप्राय पद्धति को पुनः जीवनदान करने के कारण ही उसे 18वीं शताब्दी का अरस्तू तक कहा जाता है। रोमन इतिहास और ब्रिटिश संस्थान वे मुख्य तत्व थे जिन्होंने उसके राजदर्शन के सामान्य स्वरूप को निर्धारित किया। इनके अध्ययन और अनुभव से उसने निगमनात्मक प्रणाली की ऐतिहासिक पद्धति के द्वारा अपने राजनीतिक निष्कर्ष निकाले।

मॉण्टेस्क्यू का विश्वास था मानवीय परम्पराओं एवं संस्थाओं में जलवायु, भूमि की भौगोलिक दशाओं तथा भौतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण बहुत भेद पाया जाता है और इस विभिन्नता के मूल में कुछ निश्चित सार्वभौमिक सिद्धान्त एवं आचरण के सामान्य आदर्श मिलते हैं जिन्हें जाना जा सकता है। इसलिये प्रो0 जोन्स का कथन है कि, ''मॉण्टेस्क्यू जो कार्य चाहता था, उसके दो पहलू थे। प्रथम, वह यह निर्धारित करना चाहता था कि ये आधारभूत एवं मूल सामान्य सिद्धान्त क्या हैं? द्वितीय, यह ज्ञात करना चाहता था कि यथार्थ जगत् में पाई जाने वाली विविधता को लाने वाले कौन से तत्व हैं? अन्त में ,उसकी यह जानने की भी इच्छा थी कि वास्तव में इन विभिन्नताओं का उदय क्यों होता है, ताकि राजनीतिज्ञ और विधि निर्मातागण प्रत्येक प्रकार की सरकार को अधिकाधिक आदर्श के निकट लाने हेतु उन विभिन्नताओं को नियन्त्रित कर सकें।''

मॉण्टेस्क्यू का विश्वास था कि मानवीय संस्थाओं, परम्पराओं और कानूनों का उद्भव एकदम किसी दैविक स्रोत से नहीं होता बल्कि पेड़-पौधों की भाँति अनुकूल स्थितियों में इनका शनैः-शनैः विकास होता है और इसलिए राजनीतिशास्त्र का उसका सम्पूर्ण मानवीय सम्बन्धों के साथ अध्ययन किया जाना चाहिए, जिनमें धर्म, अर्थशास्त्र, इतिहास, भूगोल, मनोविज्ञान, मानवशास्त्र आदि सभी विज्ञानों का अध्ययन सम्मिलित है। सरल रूप में यह कहना चाहिए कि मॉण्टेस्क्यू ने उन सभी विज्ञानों को राजनीतिशास्त्र के अन्तर्गत समझा था जिन्हें आजकल समाजशास्त्र के अन्तर्गत माना जाता है।

वास्तव में मॉण्टेस्क्यू द्वारा प्रयुक्त ऐतिहासिक पद्धति अरस्तू, मैकियावली आदि पूर्ववर्ती विचारकों की अपेक्षा उत्कृष्ट कोटि की थी क्योंकि जहाँ उनकी दृष्टि यूरोप के सभ्य राज्यों तक ही सीमित थी वहाँ मॉण्टेस्क्यू का अध्ययन और ज्ञान बहुत अधिक व्यापक था। जोन्स के इस कथन में कोई अत्युक्ति प्रतीत नहीं होती कि ‘‘ मॉण्टेस्क्यू का विशेष महत्व राजनीतिक सिद्धान्तों में नई देन के कारण इतना नहीं है जितना राजनीतिक और सामाजिक अध्ययन के पद्धति-शास्त्र का विकास करने में है।’’

14.5 मांटेस्क्यू का राज्य की उत्पत्ति सम्बन्धी विचार-

मॉण्टेस्क्यू ने राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए राज्य की उत्पत्ति का कारण उपयुक्त वातावरण एवं परिस्थितियों को माना है। उसका विचार था कि प्रत्येक सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थान के लिए व्यक्तियों की सदस्यता अनिवार्य होती है। सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थान परस्पर एक-दूसरे से स्वाभाविक रूप से इसी प्रकार सम्बन्धित होते हैं जिस प्रकार एक व्यक्ति का अस्तित्व अन्य व्यक्तियों से उसके सम्बन्धों पर आधारित है। मॉण्टेस्क्यू के अनुसार मानव का आरम्भिक अवस्था में निवास राज्यहीन वातावरण में था। अन्य विचारकों की भाँति मॉण्टेस्क्यू भी प्राकृतिक अवस्था की संज्ञा देता है। वह यह भी मत प्रकट करता है कि मनुष्य की यह प्राकृतिक अवस्था शान्त एवं उत्तम न थी। मनुष्य इस अवस्था में सदैव भयभीत रहता था किन्तु शनैः-शनैः परिस्थितियाँ बदलीं, मनुष्य में बुद्धि एवं ज्ञान का विकास हुआ और भय की अवस्था से वह मुक्त होने लगा। उसमें ऐसी भावनाएँ जाग्रत होने लगीं कि अपने से निर्बल व्यक्तियों को दबाकर अपने नियन्त्रण में रखा जाए। दूसरे शब्दों में मनुष्यों में अपने से निर्बलों पर शासन करने की भावना का उदय हुआ। इस प्रवृत्ति का स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि युद्ध और संघर्ष की भावनाएँ उत्तरोत्तर बढ़ती गईं क्योंकि सभी लोग एक-दूसरे को दबाकर उन पर शासन करने की दिशा में सोचने लगे। इस तरह मानव-इतिहास में एक ऐसी अवस्था आई जिसमें शासक और शासित इन दो वर्गों का आरम्भ हुआ। इस प्रकार, शासन करने की बढ़ती हुई प्रवृत्ति, विशेष परिस्थितियों और उपयुक्त वातावरण के कारण ही राज्य की उत्पत्ति हुई।

मॉण्टेस्क्यू ने मानव-स्वभाव, प्राकृतिक अवस्था और राजकीय उत्पत्ति का जो चित्रण किया है वह हॉब्स और लॉक के विचारों से सर्वथा भिन्न है। उसने प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य को भीरू एवं मूर्ख बताया है। मॉण्टेस्क्यू सामाजिक संविदा के सिद्धांत को पूर्णतया ठुकराकर राज्य की एक सावयविक कल्पना प्रस्तुत करता है और राज्य को वातावरण की उपज तथा स्वतः विकसित होने वाली संस्था मानता है। डॉयल ने लिखा है कि मॉण्टेस्क्यू के लिए राज्य, उसके सदस्यों में संविदा अथवा समझौते का परिणाम नहीं था अपितु अपने वातावरण की उपज था और प्रकृति के कानून के अनुशासित था। इस प्रकार, मॉण्टेस्क्यू के लिए राज्य का स्वरूप सावयव था।

14.6 मॉण्टेस्क्यू का विधि सम्बन्धी विचार

मॉण्टेस्क्यू के कानून अथवा विधि की धारणा ही वास्तव में वह सूत्र है जो शिक्षा, फ्राँसीसी राजतन्त्र के इतिहास, अर्थशास्त्र, जलवायु, भूगोल, ब्रिटिश संविधान एवं बहुत से अन्य विषयों पर प्रकट किए गए असम्बद्ध विचारों को एकता के बन्धन में बाँधता है। मॉण्टेस्क्यू की विधि सम्बन्धी धारणा उसकी अन्य सभी धारणाओं में सबसे अधिक कठिन किन्तु सबसे अधिक रोचक और महत्वपूर्ण है।

मॉण्टेस्क्यू से पहले कानून के स्वरूप के सम्बन्ध में विभिन्न धारणाएँ प्रचलित थीं। कुछ विचारक इसे विवेक-बुद्धि का आदेश (Dictate of Reason) समझते थे, जैसे कि प्लेटो एवं अरस्तू, तो दूसरे विचारक इसे उच्चतर शक्ति का आदेश (command of the Supeiror) मानते थे, जैसे कि बोदाँ एवं हॉब्स। मॉण्टेस्क्यू ने इन दोनों की मतों से असहमति प्रकट करते हुए कानून का अपना अलग ही लक्षण माना। उसने कहा कि काननू अपने विस्तृत अर्थ में 'वस्तुओं की प्रकृति या स्वरूप से उत्पन्न होने वाले आवश्यक सम्बन्ध हैं।' (Law are the necessary ralations arising from the nature of things)। कानून को इतना व्यापक रूप देकर और कारण तथा कार्य के सामान्य सम्बन्ध (General relationship of cause and effect) को उसके अन्तर्गत समाविष्ट करके मॉण्टेस्क्यू ने वस्तुतः अपने ग्रन्थ 'स्प्रिट ऑफ लॉज' में कानून के एक नए दर्शन का निर्माण किया है। यही कारण है कि कतिपय समालोचकों ने कहा है कि ''ऐतिहासिक विधि-शास्त्र का अध्ययन 'स्प्रिट ऑफ लॉज' से आरम्भ होता है।''

मॉण्टेस्क्यू द्वारा कानून का उपरोक्त लक्षण बहुत व्यापक है और विश्व की समस्त जड़-चेतन वस्तुओं के सम्बन्ध में है। मॉण्टेस्क्यू यह मानता है कि प्रकृति-जगत बुद्धिहीन है क्योंकि उसमें सोचने-समझने की शक्ति नहीं है। यह युगयुगान्तर से चला आ रहा था तथा उसे अनुशासित करने वाले नियम स्थायी, अविकारी और अपरिवर्तनशील हैं।

मॉण्टेस्क्यू मनुष्य को अज्ञानी और काम, क्रोध, मोह आदि भावनाओं के भँवर में फँस जाने वाला प्राणी स्वीकार करते हुए कहता है कि वह ईश्वर द्वारा प्रदान की गई वाक् शक्ति एवं अन्य शक्तियों का दुरूपयोग करता है। वह अपनी प्रजनन शक्ति का दुरूपयोग अपनी कामुकता को सन्तुष्ट करने के लिए करता है। मनुष्यों के लिए यह स्वाभाविक है कि वह आवेगों में बहकर ईश्वर के प्रति अपने सम्बन्धों को विस्मृत कर दे अतः उसे इनका स्मरण कराने हेतु धर्म के कानून हैं।

मॉण्टेस्क्यू का कहना है कि अन्य सब नियमों के बनने से पहले मनुष्य प्राकृतिक दशा के प्राकृतिक नियमों से अनुशासित होता था। उसके विचार से प्रकृति का प्रथम नियम आत्म-रक्षा, शान्ति एवं सुरक्षा की आकाँक्षा है। प्राकृतिक दशा का मानव डरपोक था। आत्मरक्षा की भावनाओं और संकटों से बचने के लिए तथा भोजन, वस्त्र एवं आवास की आवश्यकताओं की तृप्ति के लिए मानव स्वभाव ने उसे सम्भवतः शीघ्र ही अन्य मनुष्यों के साथ संगठित होने के लिए उत्प्रेरित किया। प्रकृति का दूसरा नियम यह है कि ''जीवन-निर्वाह और सुरक्षा के लिए मनुष्य को अपने अन्य साथियों के साथ संगठित होना चाहिए।'' मॉण्टेस्क्यू के मतानुसार, मनुष्य परस्पर दूसरे व्यक्तियों के साथ मिलकर अपनी शक्ति बढ़ाने लगे और इस प्रकार समाज में युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई। मानवीय आचरण केवल प्रकृति के नियमों से अनुशासित नहीं रह सका। तब इस अवस्था में प्राकृतिक नियमों की पूर्ति मानव-कृत कानूनों द्वारा करनी पड़ी। स्पष्ट है कि मॉण्टेस्क्यू के अनुसार प्रकृति-जगत में केवल एक ही प्रकार के कानून होते हैं

जबकि मानव-जगत में दो प्रकार के कानून होते हैं- जैसा कि जोन्स ने लिखा है ''मानव कार्यों के क्षेत्र में प्राकृतिक कानून के अलावा एक प्रकार का कानून और होता है, जिसे मॉण्टेस्क्यू विधेयात्मक अथवा मानव-कृत कानून कहता है।''

मॉण्टेस्क्यू इन मानवीय कानूनों की प्रकृति को बतलाते हुए प्राकृतिक कानूनों से इनके अन्तर को प्रकट करता है। उसके अनुसार-

I.मानव-कृत कानून ''विधायक द्वारा बनाए हुए विशिष्ट और सुनिश्चित संस्थान होते हैं।''

II.ये कानून सार्वभौम नहीं होते और न ही यह आवश्यक है कि वे अविकारी हों।

III.ये कानून परिवर्तनशील होते हैं, इन पर समाज के स्वरूप, जलवायु, धर्म नैतिक नियमों आदि का प्रभाव पड़ता है।

IV.समाज में होने वाले परिवर्तनों और विकास से मानव- सम्बन्धी कानून प्रभावित होते रहते हैं। देश, काल और समाज विशेष के चरित्र इनके स्वरूप में परिवर्तन लाते रहते हैं।

स्पष्ट है कि मॉण्टेस्क्यू समाज-विशेष के कानून को बाहर से थोपा गया कोई कृत्रिम कानून नहीं मानता। उनकी दृष्टि में तो यह बहुत से जटिल, विकासशील और परिवर्तनशील सम्बन्धों का समूह है जो एक समाज में विभिन्न घटकों में परस्पर सम्बन्ध पाए जाते हैं। अपने सम्पूर्ण रूप में कानून वह चीज है जो समाज को उसका विशिष्ट और अद्वितीय चरित्र प्रदान करता है।

मानवीय अथवा सामाजिक कानूनों को मॉण्टेस्क्यू ने तीन वर्गों में विभाजित किया है-

I.अन्तर्राष्ट्रीय कानून जो एक राज्य तथा दूसरे राज्य के सम्बन्ध में होते हैं। इनकी समीक्षा करने में मॉण्टेस्क्यू ने ग्रोशियस का अनुकरण किया है, तथापि दोनों में अन्तर यह है कि मॉण्टेस्क्यू ने युद्ध के कानून की अपेक्षा शान्ति-धर्म पर अधिक बल दिया है।

II.राजनीतिक कानून जो शासक तथा शासित वर्ग के बीच होते हैं, इनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति का राज्य और सरकार से सम्बन्ध निश्चित होता है। ये कानून सरकार की शक्तियों को सीमित करके नागरिक अधिकारों की रक्षा करते हैं।

III.नागरिक कानून जो एक नागरिक का दूसरे नागरिक के साथ सम्बन्ध बताते हैं।

मॉण्टेस्क्यू के अनुसार इन तीनों प्रकार के कानूनों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून सब देशों और समाज के लिए एक सा होता है किन्तु राजनीतिक और दीवानी कानून सब देशों में वहाँ की विशिष्ट परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार के होते हैं। उसका मत था कि कानून सापेक्ष होते हैं और आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन भी होता है तथा होना भी चाहिए। कानूनों में भिन्नता इसलिए आती है क्योंकि देश, काल, भौगोलिक स्थिति आदि में भिन्नता है। कानून समाज में व्यवस्था उत्पन्न करते हैं। वे मानव से सम्बन्धित आवश्यक नियम हैं जिनके अनुकूल मनुष्य को चलना होता है। कानूनों का सम्बन्ध, विशेषकर राजनीतिक कानूनों का नागरिकों की चारित्रिक उच्चता से होता है। यदि कानून के पालन में व्यक्ति असमर्थता प्रकट करते हैं तो यह अवैधानिक जीवन है, जो सर्वथा अनुचित है। मॉण्टेस्क्यू

ने कहा है कि सभी प्रकार के राजकीय कानूनों को ऐसा होना चाहिए, जिनसे भौगोलिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो।

14.7 मांटेस्क्यू का सरकारों का वर्गीकरण सम्बन्धी विचार

मॉण्टेस्क्यू ने यूनानी दार्शनिकों का अनुसरण करते हुए सरकारों का वर्गीकरण किया है, किन्तु वह राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र और जनतन्त्र के परम्परागत वर्गीकरण के स्थान पर एक नवीन योजना प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार सरकार के तीन मूल रूप हैं- गणतान्त्रिक (Repulbic) राजतन्त्रात्मक (Monarchic) एवं निरंकुशतन्त्र (Despotic)

गणतान्त्रिक सरकार के उसने पुनः दो भेद किए हैं-

लोकतन्त्र (Democracy) और कुलीनतन्त्र (Aristocracy)। गणतन्त्र वह राज्य होता है जिसमें सर्वोत्तम शक्ति समस्त नागरिकों अथवा उनके एक भाग में निहित होती है। राजतन्त्रात्मक राज्य वह है जिसमें राज्य पर एक ही व्यक्ति कुछ सुनिश्चित कानूनों द्वारा शासन करता है। यदि वह व्यक्ति स्वेच्छाचारी रूप से गैर-कानूनी आचरण करते हुए शासन करने लगता है तो वह राज्य निरंकुशवादी हो जाता है। गणतन्त्र-राज्य में जब राजनीतिक सत्ता समूची जनता में होती है तो वह लोकतन्त्र होता है किन्तु जब सत्ता कुछ व्यक्तियों के अल्पसंख्यक वर्ग में होती है तो शासन कुलीनतन्त्र कहलाता है।

मॉण्टेस्क्यू के अनुसार प्रत्येक प्रकार की शासन-पद्धति का अपना मौलिक सिद्धान्त होता है। 'सिद्धान्त' से उसका आशय है सरकार को गति प्रदान करने वाली मानव-भावना अथवा एक विशेष प्रेरक शक्ति |गणतन्त्र में वह शील या सदाचार के सिद्धान्त की प्रधानता बतलाता है। 'शील' से उसका तात्पर्य किसी आध्यात्मिक विराट नियम से नहीं है वरन् देश-प्रेम, राजनीतिक ईमानदारी और समानता की भावना से है। मॉण्टेस्क्यू के अनुसार राजतन्त्र का सिद्धान्त है 'सम्मान' अथवा गौरव की भावना। यही भावना राज्य के प्रत्येक वर्ग को गति प्रदान करती है और उन्हें परस्पर सम्बद्ध रखती है। 'सम्मान' की यह वृत्ति वर्ग के अधिकारों की रक्षा के प्रति जागरूकता में व्यक्त होती है, लेकिन प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों के बारे में सोचते हुए भी समस्त के कल्याण के लिए कार्य करता है। निरंकुश शासन का सिद्धान्त है भय । निरंकुश नरेश की दण्ड-शक्ति सर्वत्र अपना आतंक फैलाती है। राजतंत्र और निरंकुशतन्त्र में मूल अन्तर यह है कि जहाँ राजतन्त्र कानून-सम्मत शासन होता है वहाँ निरंकुशतन्त्र कानून-विहीन शासन हो जाता है। स्पष्ट है कि मॉण्टेस्क्यू द्वारा व्यक्त ये सिद्धान्त उन मनोवैज्ञानिक भावनाओं और वासनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनसे सरकार को क्रिया-शक्ति प्राप्त होती है। इन मानव वासनाओं से ही सरकार परिचालित है। सरकार के 'सिद्धान्तों' की विवेचना में 'शील' पर बल प्रदान करना मॉण्टेस्क्यू की यूनानी-रोमन विचारधारा की निष्ठा को पुष्ट करता है। यूनानी और प्राचीन रोमन गणतन्त्र में राजनीतिक अनुरक्ति और समष्टि शक्ति को महत्वपूर्ण माना गया था।

जिस प्रकार सरकार के 'सिद्धान्त' की विवेचना मॉण्टेस्क्यू ने की है उसी प्रकार सरकार के 'स्वरूप' की भी की है। सिद्धान्त से उसका तात्पर्य मनोवैज्ञानिक वासनाओं से है, स्वरूप से वह सरकार की बनावट का अभिप्राय ग्रहण

करता है। मॉण्टेस्क्यू ने किसी भी शासन को आदर्श नहीं माना है। उसने आदर्श रूप में सर्वोत्तम राज्य की धारणा को असम्भव और प्रभावपूर्ण कहकर ठुकरा दिया है। किसी भी प्रकार की विधियाँ सार्वभौमिक आधार पर अच्छी नहीं मानी जा सकतीं। इसका निश्चय तो ऐतिहासिक एवं सापेक्षिक आधार पर किया जा सकता है। मॉण्टेस्क्यू सापेक्षतावाद का उपासक है और यह विश्वास करता है कि विशेष परिस्थितियों में तथा विशिष्ट सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाली प्रणाली ही सर्वोत्तम होती है और इनके बदल जाने पर वह निष्प्रभावी हो जाती है। शासन का रूप भौतिक परिवेश पर निर्भर करता है जो देश-देश में भिन्न-भिन्न होता है। कानूनों में भी इसीलिए विविधता होती है। जो कानून एवं राजनीतिक संस्थान ठण्डे प्रदेशों के निवासियों के अनुकूल हो सकते हैं, उनका गर्म प्रदेशों के निवासियों के लिए उपयुक्त होना अधिकाँशतः सम्भव नहीं है।

मॉण्टेस्क्यू ने गणतन्त्र, राजतन्त्र एवं निरंकुशतन्त्र को क्रमशः 'प्रकाश, गोधूलि एवं अन्धकार' बतलाया है। गणतन्त्र 'प्रकाश' इसलिए है कि इसमें व्यक्ति के मानसिक विकास पर बल दिया जाता है। गणतन्त्रीय शासन व्यावहारिक नहीं है क्योंकि आधुनिक विशाल राज्यों में उसका प्रयोग नहीं हो सकता। यह केवल यूनान के नगर-राज्यों या कम क्षेत्र वाले राज्यों में ही सम्भव था। मॉण्टेस्क्यू का राजतन्त्र आधुनिक बड़े राज्यों में भलीभाँति हो सकता है। इसके अतिरिक्त वह फ्रांसीसी राजतन्त्र से प्रेम करता था। राजतन्त्र के समर्थन का एक बड़ा कारण यह भी था कि मॉण्टेस्क्यू यथार्थवादी था और वह जानता था कि राजतन्त्र की जड़ों को उखाड़ फैंकना सरल कार्य नहीं है। निरंकुशतन्त्र का मॉण्टेस्क्यू कट्टर विरोधी था क्योंकि इस शासन में धन, वाणिज्य, उद्योग सभी कुछ खतरे में पड़े रहते हैं और प्रजा की स्थिति दास जैसी होती है।

14.8 मॉण्टेस्क्यू का स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार

मॉण्टेस्क्यू पर इंग्लैण्ड के संविधान का व्यापक प्रभाव पड़ा था। अधिकारी-वर्ग की सत्तारूढ़ता के बदले ब्रिटेन में स्वतन्त्रता पर अधिक बल दिया जाता था। सत्ता का मद, पतन का निश्चित मार्ग है, इसका मॉण्टेस्क्यू को विश्वास हो गया था। यही कारण था कि Spirit of Laws' में स्वतंत्रता की धारणा को अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। अंग्रेजों के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों की अनुभूति वह फ्रांस में देखना चाहता था। उसने ब्रिटिश शासन-प्रणाली का विश्लेषणात्मक अध्ययन करके स्वतन्त्रता की व्यापक अर्थ में परिभाषा करते हुए कहा था कि ''यह व्यक्ति का ऐसा विश्वास था कि वह अपनी इच्छानुसार कार्य कर रहा है।'' जब व्यक्ति अपनी इच्छा के विरूद्ध कार्य करता है तो वह स्वतन्त्र नहीं रह जाता।

मॉण्टेस्क्यू ने स्वतन्त्रता के दो स्वरूप बतलाए हैं-

1. राजनीतिक स्वतन्त्रता (Political Liberty), एवं
2. नागरिक या व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Civil Liberty)।

राजनीतिक स्वतन्त्रता राजकीय कानून द्वारा अनुमोदित कोई भी कार्य करने की स्वाधीनता है। मॉण्टेस्क्यू के ही शब्दों में, ''राज्य में, अर्थात् कानून द्वारा निर्देशित समाज में स्वतन्त्रता का अर्थ है कि एक व्यक्ति को उन कामों के करने की स्वाधीनता हो जो करने योग्य है और जो काम नहीं करने चाहिए, उनको करने के लिए उसे विवश न किया जाए।'' व्यक्ति को क्या इच्छा करनी चाहिए इसके सर्वश्रेष्ठ सूचक राजकीय कानून हैं, और इसीलिए ''स्वतन्त्रता वह कार्य करने का अधिकार है जिसकी कानून इजाजत देते है और यदि नागरिक ऐसे कार्य कर सकता

है जिसका कानून विरोध करते हैं तो उसके पास स्वतन्त्रता नहीं रह पाएगी, क्योंकि अन्य सब नागरिकों को भी वैसी ही शक्ति प्राप्त होगी।'' स्पष्टतः मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्त का केन्द्र-बिन्दु यह है कि स्वतन्त्रता कानूनों के प्रति अधीनता में है मनुष्य के प्रति अधीनता में नहीं।

मॉण्टेस्क्यू के इस विचार से कि जब मनुष्य को अपनी इच्छा के विरूद्ध कार्य करना पड़ता है तो वह स्वतन्त्र नहीं रहता, एक कठिन समस्या तब खड़ी हो जाती है जब राज्य के कानून और व्यक्ति के नैतिक विश्वास में संघर्ष उठ जाता है। मॉण्टेस्क्यू इस कठिनाई से परिचित था। अतः उसने स्पष्ट कर दिया कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि राजकीय कानून, जो हमारे आचरण को विनियमित करते हों, 'सद्' के मौलिक सिद्धान्तों पर आश्रित रहने वाले और जनता के नैतिक विश्वासों से सामंजस्य किए जा सकने वाले हों, प्रत्युत आवश्यक यह है कि नागरिक कानूनों से परिचित हों और कानून का उल्लंघन करने पर दण्डनीय हों।

मॉण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित राजनीतिक स्वतन्त्रता के विश्लेषण से उसकी निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैंः-

1.राजनीतिक स्वतन्त्रता में शासक एवं शासितों के सम्बन्धों का स्थायित्व अभिनिहित है।

2.राजनीतिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा विधि-सम्मत-शासन में निहित है।

3.इस स्वतन्त्रता में विधि का उल्लंघन नहीं किया जा सकता।

4.राजनीतिक स्वतन्त्रता विधि द्वारा अनुमोदित व्यवहार का ही नाम है।

मॉण्टेस्क्यू ने नागरिक स्वतन्त्रता पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। डनिंग के अनुसार, ''मॉण्टेस्क्यू ने नागरिक स्वतन्त्रता की परिभाषा स्पष्ट रूप से नहीं की है, किन्तु उसके विचारों से यह स्पष्ट है कि शासनतन्त्र ऐसा होना चाहिए जिसमें व्यक्तिगत तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यक्तियों को पूर्णरूपेण प्राप्त हो सके। पूर्ण स्वतन्त्रता व्यक्तियों को तभी मिल सकती है जब शासनतन्त्र असीमित शक्ति-सम्पन्न या निरंकुश न हो।'' मॉण्टेस्क्यू के मत में नागरिक स्वतन्त्रता एक व्यक्ति के दूसरे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध का परिणाम है। दासता के साथ इसका वही सम्बन्ध है जो निरंकुशवाद का राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ। एक व्यक्ति जब दूसरे व्यक्ति को दास बना लेता है तो उसकी नागरिक स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। नागरिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त द्वारा मॉण्टेस्क्यू ने दास-प्रथा पर कठोर प्रहार किया है और इसे नितान्त अमानवीय, अप्राकृतिक एवं ईसाई धर्म विरोधी माना है।

14.9मॉण्टेस्क्यू का शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त

सेबाइन ने लिखा है, ''मॉण्टेस्क्यू के समसामयिक विचारों के महत्व का कारण यह था कि उसने ब्रिटिश संस्थाओं को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का एक साधन बतलाया और इस रूप में इसका प्रचार किया। मॉण्टेस्क्यू कुछ समय इंग्लैण्ड में रहा था। वहाँ रहने से उसकी यह पूर्वधारणा दूर हो गई थी कि राजनीतिक स्वतन्त्रता एक उच्चतर सद्गुण के ऊपर आधारित है। यह सद्गुण केवल रोमनों को ही ज्ञात था और इसे केवल नगर-राज्य में ही सिद्ध किया गया था। उसने निरंकुशता के प्रति उसकी अरूचि को सार रूप प्रदान किया और एक ऐसे उपाय का निर्देश किया कि जिसके द्वारा फ्राँस के निरंकुशतावाद के दुष्परिणामों को दूर किया जा सकता है।

शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त की प्रथम सुन्दर और वैज्ञानिक व्याख्या मॉण्टेस्क्यू द्वारा यह की गई- कि सत्ता का मद पतन का निश्चित मार्ग है अतः इसके लिए रोक और समतोलन या सन्तुलन आवश्यक है। स्वतन्त्रता तभी बनी रह सकती है जब कार्यपालिका, न्यायपालिका और व्यवस्थापिका अपना कार्य अलग-अलग सम्पादन करें तथा एक दूसरे के क्षेत्र पर हावी न हों। शक्ति का एक अंग यदि दूसरे अंग के कार्य में हस्तक्षेप न करे तो शक्ति का समतोलन रह सकता है। मॉण्टेस्क्यू ने यह मत प्रकट किया कि जहाँ विधि-निर्माण और कार्यकारी शक्तियाँ एक ही व्यक्ति में केन्द्रित होंगी वहाँ किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं रह सकती क्योंकि एक ही व्यक्ति कानून-निर्माता भी होगा और कानून को क्रियान्वित करने वाला भी। इसी प्रकार यदि विधायी और न्यायिक शक्तियों का संचय भी एक ही व्यक्ति के हाथों में कर दिया जाएगा तो प्रजा अपने जीवन और स्वतन्त्रता को सुरक्षित नहीं रख सकेगी क्योंकि विधियों का निर्माण करने वाला ही विधियों की व्याख्या करके न्याय का निर्णायक बन जाएगा। इसी तरह यदि कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी शक्तियों का भी एक ही शक्ति स्वामी रहेगा तो स्वतन्त्रता की रक्षा असम्भव है, क्योंकि एक ही संस्था अभियोक्ता भी होगी और न्यायाधीश भी। पुनश्च, यदि विधायी, कार्यकारी और न्यायिक सभी कार्यों का समर्पण एक व्यक्ति के हाथों में होगा तो विनाश अवश्यम्भावी है। संक्षेप में, मॉण्टेस्क्यू का सूत्र यह था कि कानून-निर्माण, प्रबन्धकारी तथा न्याय विभागीय कृत्यों का एकमात्र व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह में केन्द्रीकरण का अधिकार दुरूपयोग करने वाला होता है और सरकार का इस प्रकार का संगठन आतंकपूर्ण है। इस प्रकार मॉण्टेस्क्यू के अनुसार यह परम आवश्यक है कि सरकार के विभिन्न अंग पृथक-पृथक् रहें और कोई किसी के क्षेत्र में हस्तक्षेप न करे।

मॉण्टेस्क्यू पूर्ण पृथक्करण का पक्षपाती था अथवा आंशिक पृथक्करण का, इस सम्बन्ध में यही कहना उचित होगा कि वह 'शक्ति, शक्ति का विरोध करती है' में विश्वास करता था। वह चाहता था कि सरकार के तीनों अंगों की शक्तियाँ इस प्रकार रखी जाएं कि एक शक्ति दूसरी शक्ति के मुकाबले सन्तुलन और प्रतिरोध उत्पन्न करती रहे। फाइनर ने मॉण्टेस्क्यू की धारणा पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि ''मॉण्टेस्क्यू की इच्छा थी कि क्राउन की शक्तियाँ सीमित रहें और संविधान ऐसा साधन बने जिसके माध्यम से शक्ति का स्रोत बहे। पर ये स्रोत अपनी सीमाएं पार न कर पाएं, अन्यथा लोगों में त्राहि-त्राहि मच सकती है। परन्तु अपनी इन मान्यताओं के बावजूद भी मॉण्टेस्क्यू पूर्ण लोकतन्त्र की मान्यताओं से दूर न रहने का प्रयास कर रहा था।''

मॉण्टेस्क्यू चाहता था कि कार्यपालिका व्यवस्थापिका को आहूत करे, उसका कार्यकाल निश्चित करे और व्यवस्थापन की व्यवस्था करे। वह इस पक्ष में भी था कि व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर महाभियोग लगा सकती है। आगे चलकर उसने कहा कि चाहे व्यवस्थापिका कार्यपालिका-प्रधान पर दोषारोपण न कर सके, पर चूँकि समस्त कार्यपालिका-शक्ति का प्रयोग केवल कार्यपालिका का प्रधान ही बिना अपने सहयोगियों की मदद के अकेला नहीं कर सकता, अतः जिन सहयोगियों को विधिवत मन्त्री कहा जाता है उन पर व्यवस्थापिका द्वारा मुकदमा चलाया जा सकता है, चाहे विधियाँ उसको प्रथा होने के नाते बचाने वाली ही क्यों न हों।

14.10 मांटेस्क्यू के शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त की आलोचना-

मॉण्टेस्क्यू के शक्ति-विभाजन या शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है-

1.व्यावहारिक दृष्टि से शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण सम्भव नहीं है। सरकार के तीनों अंगों का पृथक् रहने पर भी परस्पर एक-दूसरे के सहयोग पर आश्रित हैं। पूर्ण पृथक्करण का अर्थ होता है प्रत्येक अंग को निरंकुश बना देना। शासन इस प्रकार के तीन सम्प्रभु शक्तियों के रहते हुए चल ही नहीं सकता।

2.शासन के तीनों अंगों में इतनी व्यापक घनिष्ठता पाई जाती है कि उनका पूर्ण विभाजन अव्यावहारिक है। सरकार के विभिन्न अंगों द्वारा शासन का चाहे जो भी स्वरूप हो, मिश्रित प्रकार के कार्यों का सम्पादन होता है। न्यायाधीश कानून की व्याख्या करते समय स्व-विवेक से कुछ ऐसे निर्णय लेते हैं और ऐसे नियमों का निष्पादन करते हैं जो आगे चलकर कानून बन जाते हैं। कार्यपालिकाध्यक्ष परिस्थितियों का सामना करने के लिए चाहे जो अध्यादेश निकालते हैं वे भी व्यवहार में कानून के समान ही प्रभावी होते हैं। व्यवस्थापिका द्वारा कई प्रकार के कार्यपालिका और न्यायपालिका सम्बन्धी कार्य किए जाते हैं। संसदीय व्यवस्था में तो कार्यपालिका ही व्यवस्थापन के क्षेत्र में नेतृत्व ग्रहण किए रहती है। वस्तुतः राजनीति का कोई भी महत्वपूर्ण प्रश्न कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के स्पर्श से अछूता नहीं होता। फाइनर के अनुसार ''पृथक्करण का सिद्धान्त शासन को कभी प्रलाप की ओर तथा कभी बेहोशी की ओर धकेलता रहता है।''

3.मॉण्टेस्क्यू ने शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त की व्याख्या भ्रामक आधार पर प्रस्तुत की। स्ट्राँग के शब्दों में, ''शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में सबसे विचित्र बात यह है कि प्रारम्भ में इसे ब्रिटिश संविधान की स्थिरता के विशेष आधार के रूप में प्रस्तुत किया गया था जो बिलकुल ही असत्य है और जो उस पर बिल्कुल भी लागू नहीं होता'' क्योंकि ब्रिटेन में शक्तियों के सामंजस्य के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है।

4.शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त अपने विशुद्ध अथवा पूर्ण रूप में सरकार की कार्य-क्षमता को नष्ट करने वाला है क्योंकि सरकार के अंगों के पारस्परिक सन्देहों और आन्तरिक संघर्ष के कारण प्रशासकीय योग्यता कुण्ठित होकर मर जाएगी और प्रत्येक विभाग में स्थानीय स्वार्थ का बोलबाला हो जाएगा। जे0एस0 मिल ने 'प्रतिनिधि सरकार' में इसी तथ्य की ओर संकेत किया है कि कठोरता से लागू किया गया शक्ति-पृथक्करण संघर्ष को प्रोत्साहन देगा और जनमानस पर विपरीत प्रभाव डालेगा।

5.नागरिक स्वतन्त्रता के विचार से भी अधिकारों का पूर्ण विभाजन आवश्यक नहीं है क्योंकि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अधिकारों के विभाजन पर इतनी आश्रित नहीं रहती जितनी संविधान की आत्मा पर। इंग्लैण्ड में शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त न होते हुए भी अमेरिका से कम स्वतन्त्रता नहीं है।

6.यह सिद्धान्त असामयिक है जिन परिस्थितियों में इसका जन्म हुआ है वे आज बदल गई हैं। आज राष्ट्र शक्ति के लिए शासन में विभाजन की नहीं, एकता की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त आज के लोक-कल्याणकारी राज्य का विचार भी शक्ति-विभाजन सिद्धान्त के अनुरूप प्रतीत नहीं होता।

14.11 मॉण्टेस्क्यू के शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त का व्यावहारिक प्रभाव और मूल्याँकन

मॉण्टेस्क्यू के शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त में फ्रांसीसी क्रान्ति को प्रोत्साहन प्रदान किया और क्रान्तिकारी काल की प्रायः सभी सरकारें शक्ति विभाजन के सिद्धान्त पर संगठित की गई। नेपोलियन के शासन में इस सिद्धान्त

की अवज्ञा की गई, किन्तु सर्वसाधारण के हृदय में यह सिद्धान्त अपना घर किए रहा और सांविधानिक सूत्र के रूप में आज भी इसकी प्रशंसा की जाती है।

अमेरिका में मॉण्टेस्क्यू के इस सिद्धान्त का प्रभाव निर्णायक सिद्ध हुआ। डॉ0 फाइनर का कथन है कि ''हम नहीं कह सकते कि अमेरिकन संविधान के निर्माताओं ने संविधान में शक्तियों का पृथक्करण मॉण्टेस्क्यू के सिद्धान्त से प्रभावित होकर किया था, या उनका उद्देश्य यह था कि नागरिकों की सम्पत्ति एवं स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए शक्तियों के पृथक्करण का आश्रय लेना ही चाहिए। फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं है कि अमेरिकावासी एवं अमेरिकन संविधान-निर्माता मॉण्टेस्क्यू द्वारा प्रतिपादित स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे यद्यपि साथ ही वे स्वेच्छाचारिता को भी सीमित करना चाहते थे। बाद के इतिहास ने भी अमेरिकन संविधान में शक्तियों के विभाजन के सिद्धान्त को मान लेने में हाथ बंटाया पर फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि अमेरिकन संविधान पर मॉण्टेस्क्यू की स्पष्ट छाप पड़ी थी। इसी कारण मेडिसिन बार-बार कहा करता था कि ''हम मॉण्टेस्क्यू की निरन्तर अदृश्य छाया से प्रेरणा ग्रहण कर रहे हैं।''

इस सिद्धान्त की उपयोगिता यह बल देने में है कि शासन के तीनों अंगों के बीच अधिकार-विभाजन शासन की अच्छाई को बनाए रखने के लिए आवश्यक है, किन्तु यह विभाजन उसी सीमा तक करना चाहिए जहाँ तक इन अंगों में सहयोग के लिए पूरा अवसर मिलता रहे। राजदर्शन के इतिहास में मॉण्टेस्क्यू का यह सिद्धान्त एक महान् सिद्धान्त के रूप में अविस्मरणीय है।

14.11 अन्य सिद्धान्त

मॉण्टेस्क्यू के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों पर विचार कर लेने के बाद प्रसंगवश उसके अन्य कतिपय महत्वपूर्ण विचारों को भी साँकेतिक रूप में जान लेना उपयोगी है।

सबसे पहले हम भौतिक परिस्थितियों के प्रभाव के बारे में मॉण्टेस्क्यू के विचारों को लेते हैं। उसका विश्वास था कि किसी देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक संस्थाओं पर भौतिक परिस्थितियों का बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिस देश की जलवायु गर्म होती है उस देश के निवासियों में आलस्य-वृत्ति अधिक होती है। शीत-प्रधान देशों के निवासियों में क्रियाशीलता, स्फूर्ति और मद्यमान की प्रवृत्ति अधिक रहती है। जिस देश की जैसी जलवायु होती है ै वैसी ही वहाँ के मनुष्यों की आवश्यकताएँ और जीवन-पद्धतियाँ होती हैं। स्वतन्त्रता और जलवायु में घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ गर्म जलवायु एशियायी देशों में निरंकुश शासन संस्थाओं को पुष्ट करती है जबकि यूरोप की ठण्डी जलवायु निरंकुश शासन को सहन नहीं कर सकती और इसी कारण वहाँ स्वतन्त्रता एवं आत्मनिर्भरता की भावनाएँ अधिक विकसित होती हैं। मॉण्टेस्क्यू का मत था कि ब्रिटेन का संविधान वहाँ की जलवायु और लन्दन के कुहरे का परिणाम है। मॉण्टेस्क्यू के अनुसार भूतल की रचना भी राष्ट्रीय संस्थाओं को प्रभावित करती है। पर्वतीय प्रदेश स्वतन्त्र सरकार के लिए तथा समतल मैदान निरंकुश शाससन के लिए अच्छा आधार प्रस्तुत करते हैं। गहरी नदियों और ऊँची पर्वत श्रेणियों से रहित प्रदेशों में निरंकुश शासन इसलिए पनपते हैं क्योंकि ऐसे प्रदेशों को अर्थात् मैदानों को विजय करना आसान होता है। पर्वतीय प्रदेशों को विजय करना अपेक्षाकृत कठिन होता है, इसलिए वहाँ स्वतन्त्र राजनीतिक जीवन विकास पाता है। चूँकि पर्वतीय प्रदेशों में खेती करना कठिन होता है अतः लोग पुरूषार्थी होते हैं। मॉण्टेस्क्यू के अनुसार महाद्वीपों के निवासियों की अपेक्षा द्वीपवासियों में लोकतन्त्रात्मक भावनाएं अधिक प्रबल होती हैं। महाद्वीपों में आक्रमणों का भय सदैव विद्यमान

रहता है। वैधानिक शासन और प्रजातन्त्र छोटे राज्यों में उपयुक्त एवं सम्भव है जबकि विशाल राज्यों का शासन निरंकुश नरेश ही अच्छी तरह कर सकते हैं।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि मानव-स्वभाव एवं प्रवृत्ति के निर्माण में भौतिक परिस्थितियों का विशेष प्रभाव होता है, लेकिन इन्हें इतना महत्व नहीं दिया जा सकता जितना मॉण्टेस्क्यू ने दिया है। यदि मॉण्टेस्क्यू की जलवायु और भू-रचना सम्बन्धी धारणा को सही मान लिया जाए तो फिर क्या कारण है कि भारत और अन्य गर्म जलवायु वाले मैदानी देशों में स्वतन्त्र संस्थाएं सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं। अमेरिका और आस्ट्रेलिया जैसे विशाल देशों में लोकतन्त्रीय सरकारों की सफलता भी मॉण्टेस्क्यू की धारणाओं का खण्डन करती है।

मॉण्टेस्क्यू ने सामाजिक परिवेश के प्रभाव की भी चर्चा की है। सामाजिक रीतियाँ, व्यवहार, आचार, विश्वास आदि मिलकर सामाजिक परिवेश का निर्माण करते हैं और एक देश के कानूनों तथा राजनीतिक संस्थानों पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ता है। जन-रीतियों और जन-आचरण के विपरीत जाने वाले राजकीय कानूनों का न तो सम्मान ही हो सकता है और प्रजा उनका स्वेच्छा से पालन ही करती है। अतः विधि-निर्माताओं को चाहिए कि वे सामाजिक परिवेश को ध्यान में रखते हुए विधियों का निर्माण करें।

मॉण्टेस्क्यू ने धर्म को व्यक्तिगत विश्वास की वस्तु माना है। राज्य को धर्म के क्षेत्र में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए; तभी व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहेगी और राज्य के स्थायित्व में भी वृद्धि हो सकेगी। किसी समाज में कौन सा धर्म प्रचलित हो, इसका निर्धारण उस समाज की विशिष्ट स्थितियों द्वारा ही होना चाहिए। मॉण्टेस्क्यू ने धर्म पर विचार करते समय अपना यह निहित विश्वास व्यक्त किया है कि सीमित सरकार वाले देश में ईसाई धर्म, निरंकुशवादी राज्य में इस्लाम धर्म, राजतन्त्र में कैथोलिक धर्म और गणतन्त्र में प्रोटेस्टेन्ट धर्म सर्वाधिक उपयुक्त है। मॉण्टेस्क्यू रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय की भिक्षु-प्रणाली तथा पादरियों द्वारा विवाह न करने सम्बन्धी नियम का भी कठोर आलोचक था।

14.13 मॉण्टेस्क्यू का मूल्यॉंकन

मॉण्टेस्क्यू के बारे में प्रायः कहा जाता है कि उसका राजनीतिक दर्शन अस्पष्ट और उलझा हुआ है। यद्यपि उसने व्यष्टिमूलक एवं ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया है तथा व्यावहारिक राजनीतिक प्रश्नों की समीक्षा की है तथापि राज्य की उत्पत्ति और स्वभाव के सम्बन्ध में उसकी व्याख्या सन्तोषजनक नहीं है। उसके निष्कर्ष अप्रमाणित और संदिग्ध सूचनाओं पर आधारित हैं। विचार-व्यवस्था की शैली भी बिखरी और उलझी हुई है। ये दोष सम्भवतः इसीलिए रह गए हैं क्योंकि मॉण्टेस्क्यू का प्रतिपाद्य विष्ज्ञय बहुत व्यापक था जिसे स्पष्ट करने में वह समुचित सन्तुलन और अनुशासन नहीं निभा पाया। इस कारण मॉण्टेस्क्यू की प्रतिभा को ‘Genious of hasty generalisation’ कहा गया है।

मॉण्टेस्क्यू के दर्शन में मौलिक प्रतिभा की कमी भी खटकती है। अपनी स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा में उसने विवेक, परम्परा, धर्म, मानव-प्रवृत्ति आदि का इस तरह एकीकरण कर दिया है कि स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार शिथिल हो गया है। सरकारों के वर्गीकरण में भी मौलिकता का अभाव है। मॉण्टेस्क्यू यह भी नहीं बतलाता कि भ्रष्ट शासन द्वारा उत्पन्न अराजकता से बचने के क्या उपाय हैं। उसने राज्य-क्रान्तियों के किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया है और न ही निरंकुशतन्त्र को सुधारने के उपाए बतलाए हैं।

किन्तु इन सब कमियों के बावजूद मॉण्टेस्क्यू के महान् अनुदाय और प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसके ग्रन्थ '´The Spirit of Laws ने चाहे अठारहवीं और प्रारम्भिक उन्नीसवीं शताब्दी के राजदर्शन पर विशेष प्रभाव नहीं डाला, किन्तु बाद के राजनीतिक विचारकों ने उसके महत्व को समझा है। मॉण्टेस्क्यू के दर्शन को उसके समकालीन समय में सम्भवतः इसलिए नहीं समझा जा सका कि वह राजनीति शास्त्र के अध्ययन को न्यायशास्त्र, अर्थशास्त्र, भूगोल आदि सामान्य सामाजिक शास्त्रों से मिलाना चाहता था जबकि उसके समकालीन और कुछ परवर्ती विचारक राजनीति शास्त्र को अन्य शास्त्रों से सर्वथा पृथक् रखना चाहते थे। समकालीन चिन्तन से मॉण्टेस्क्यू का एक अन्तर यह था कि वह फ्रेंच राजतन्त्र को सुधारने का आकांक्षी था, वाल्टेयर तथा रूसो की भाँति उस पर आक्षेप करने वाला नहीं। जहाँ उसके समकालीन विद्वानों ने नागरिक-अधिकारों तथा राजा के विशेषाधिकारों पर बल दिया वहाँ मॉण्टेस्क्यू ने न्याय, स्वतन्त्रता, राज्य की कार्यक्षमता आदि व्यावहारिक प्रश्नों पर अधिक विचार किया।

मॉण्टेस्क्यू ने राजदर्शन के क्षेत्र में अनेक प्रकार से अमूल्य योग दिया है। उसका सबसे महान् अनुदाय 'स्वतन्त्रता का सिद्धान्त' है। स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए ही उसने शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसका विश्व की अनेक शासन-व्यवस्थाओं पर प्रभाव पड़ा। मॉण्टेस्क्यू ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता का रहस्य शक्ति-पृथक्करण में पाया, प्राकृतिक अधिकारों में नहीं। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि स्वतन्त्रता का महान् समर्थक होते हुए भी मॉण्टेस्क्यू लोकतन्त्रवादी नहीं था। अपने स्वभाव और विचार से वह संविधानवादी था। जनता की भावना को उत्तेजना देना उसे एकदम अरूचिकर था। स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए भी वह सम्पूर्ण जनता को राजनीतिक और साम्पत्तिक समानता देने की उदारता प्रदर्शित न कर सका।

अभ्यास प्रश्न

1. मान्टेस्क्यू का जन्म किस देश में हुआ था?

   a.फ्रांस b.इटली c. जर्मनी d.आस्ट्रिया

2. निम्न में से कौन सी कृति/कृतियाँ मांटेस्क्यू की है-

   a.पर्सियन लेटर्स b.रिफलेक्शन ऑन द कॉलेज ऑफ द ग्रेटनेस एण्ड डिक्लाइन ऑफ द रोमन्स

   c.स्प्रिट ऑफ लाज d.उपरोक्त सभी

3. ''शक्ति-पृथक्करण'' का सिद्धान्त किसने दिया?

   a.रूसो b.मांटेस्क्यू c.लास्की d.लॉक

4. मांटेस्क्यू के सरकारों के वर्गीकरण में सरकार के कितने मूलरूप हैं?

   a.1 b.2 c.3 d.4

5. मांटेस्क्यू गणतांत्रिक सरकार के कितने भेद बताता है?

   a.1 b.2 c.3 d.4

6. अठारहवीं शताब्दी का अरस्तू किसे कहा जाता है?

a.मांटेस्क्यू b.हाब्स c.लॉक d.रूसो

14.12 सारांश

मॉण्टेस्क्यू ने अरस्तू और मैकियावली से बढ़कर अधिक व्यवस्थित और विकसित रूप में ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया, यद्यपि साथ ही वैज्ञानिक और पर्यवेक्षणात्मक प्रणाली का सहारा लिया। उसने भौगोलिक वातावरण को राजनीति का अंग मानकर व्यक्तित्व को गौरव प्रदान किया। उसने केवल उन्हीं विचारों को अपनाया जो उसकी दृष्टि में व्यावहारिक उपयोगिता की कसौटी पर खरे उतरे। मॉण्टेस्क्यू ने कानून की महत्ता स्थापित करते हुए स्पष्ट रूप से कहा कि कानून द्वारा ही शासन सुचारू रूप से चलाया जा सकता है। उसने विधियों के आन्तरिक तत्व की विवेचना की तथा कहा कि विधि-निर्माण प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण तथा ऐतिहासिक रीति-रिवाजों और धार्मिक मान्यताओं को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। विधियों की सह समाजशास्त्रीय मीमांसा निश्चय ही महत्वपूर्ण है। मॉण्टेस्क्यू का महत्व इस बात में भी है कि निरंकुशता का खण्डन करके उसने प्रतिनिधिक संसदीय शासन का अनुमोदन किया तथा राजा पर सांविधानिक रोकथाम का समर्थन किया। उसके प्रभाव का मूल्याँकन करते हुए मैक्सी ने ठीक ही लिखा है कि राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में मॉण्टेस्क्यू प्लेटो, अरस्तू, मैकियावली और बोदाँ के समान विशिष्ट महत्व रखता है। वह यद्यपि 18वीं शताब्दी का फ्राँसीसी था किन्तु उसके सिद्धान्तों और अध्ययन पद्धति का सार्वभौतिक महत्व है। उपयोगितावादियों ने उसके विचारों को बहुत हद तक ग्रहण किया। बेन्थम तो उसकी अनुभूतिमूलक पद्धति से बड़ा प्रभावित था।

14.13 शब्दावली

1.विकेन्द्रीकरण -विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति से उल्टी होती है और इसमें स्थानीय उपक्रम तथा साधनशीलता पर विशेष जोर दिया जाता है। अर्थात् अधिकारों और शक्तियों का केन्द्रीय सत्ता की ओर से प्रादेशिक तथा स्थानीय शासन-संस्थाओं के बीच के विभाजन को विकेन्द्रीकरण कहते हैं।

2.अंतर्राष्ट्रीय कानून-उन सामान्य सिद्धान्तों और विशिष्ट नियमों का समुच्चय जिन्हें अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्य राष्ट्र परस्पर सम्बन्धों के निर्वाह में मान्यता देते हैं। अंतर्राष्ट्रीय कानून का मुख्य ध्येय यह है कि राज्यों के परस्पर सम्बन्ध सुचारू रूप से संचालित किए जा सकें और उनमें पैदा होने वाले विवादों का शांतिपूर्ण समाधान हो सके।

3.गणतन्त्र- ऐसा राज्य जहाँ राज्य का प्रबंध सक्रिय नागरिकों का कर्तव्य है, सम्राटों, अभिजात वर्गों का सूचक माना जाता है। परंतु सिद्धान्त की दृष्टि की यह अभिजाततंत्र के विरूद्ध है। गणतंत्र की भावना यह माँग करती है कि कानून बनाने और बदलने का कार्य सक्रिय नागरिकों को मिल-जुल कर करना चाहिये।

4.शक्ति-पृथक्करण-आधुनिक राज्य के बहुमुखी कार्य साधारणतः तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। कार्यकारी, विधायी और न्यायिक और इन कार्यों के अनुरूप ही सरकार के तीन विशिष्ट अंग स्वीकार किये जाते हैं- कार्यांग, विधानांग और न्यायांग। विधानांग का कार्य विधि निर्माण करना, कार्यांग का कार्य उन्हें कार्यान्वित करना और न्यायांग का कार्य उनकी व्याख्या करना है। राज्य के विभिन्न अंगों को एक-दूसरे से अलग रखने का सिद्धांत ही शक्ति-पृथक्करण का सिद्धान्त है।

14.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. a 2. d 3.b 4. C 5. b 6. a

14.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.राजनीति दर्शन का इतिहास - जॉर्ज एच0 सेबाइन

2.राजनीतिक-चिंतन की रूपरेखा - ओ0पी0 गाबा

3.पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन - आर0एम0 भगत

4.प्रमुख राजनीतिक चिन्तक-खण्ड-2 - डा0 ब्रजकिशोर झा

5.प्रिंसिपल ऑफ सोशल एण्ड पॉलिटिक्स थ्योरी - बार्कर

6.ए हिस्ट्री ऑफ पालिटिकल थ्योरीज़ फ्राम लूथर टू मान्टेस्क्यू - डनिंग

14.16 सहायक/उपयोगी पाठ्य पुस्तकें

1 राजनीति कोश - डा0 सुभाष कश्यप एवं विश्व प्रकाश गुप्त

2.राजनीति विज्ञान विश्वकोश - ओ0पी0 गाबा

3.राजनीतिक विचार विश्वकोश - ओ0पी0 गाबा

14.17 निबन्धात्मक प्रश्न

1.मान्टेस्क्यू के स्वतन्त्रता की धारणा का विस्तार और विश्लेषण कीजिए।

2.मान्टेस्क्यू के राजनीतिक दर्शन के मुख्य सिद्धान्तों की चर्चा कीजिए।

3.'सभी साम्राज्यों में प्रथम साम्राज्य जलवायु का है''- समीक्षा करें।

4.''स्प्रिट ऑफ लॉज'' में प्रतिपादित मान्टेस्क्यू के मूल विचारों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये।

इकाई – 15 : हीगल, टॉमस हिल ग्रीन

इकाई की संरचना

15.1 प्रस्तावना

15.2 उद्देश्य

15.2.1 हीगल के आत्म तत्व का सिद्धान्त

15.2.2 हीगलः द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त

15.2.3 हीगल का राज्य सिद्धान्त

15.2.4 राष्ट्रीय राज्य अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और युद्ध

15.2.5 दण्ड तथा सत्पत्ति

15.2.6 संविधान पर हीगल के विचार

15.3 ग्रीन का आध्यात्मिक सिद्धान्त

15.3.1 ग्रीन की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा

15.3.2 ग्रीन की अधिकार सम्बन्धी धारणा

15.3.3 प्राकृतिक कानून पर ग्रीन के विचार

15.3.4 सामान्य इच्छा पर ग्रीन के विचार

15.3.5 राज्य के कार्यो पर ग्रीन के विचार

15.3.6 राज्य और व्यक्ति

15.3.7 सम्पत्ति पर ग्रीन के विचार

15.4 हीगल और ग्रीन के विचारों का एक तुलनात्मक अध्ययन

15.5 सारांश

15.6 शब्दावली

15.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

15.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

15.9 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

15.10 निबंधात्मक प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई १४ में हमने मांटेस्क्यू के राजनीतिक विचारों का विस्तार से अध्ययन किया और देखा कि किस प्रकार से उसने लोंगो के अधिकारों की रक्षा और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है | मॉण्टेस्क्यू ने अरस्तू और मैकियावली से बढ़कर अधिक व्यवस्थित और विकसित रूप में ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया, यद्यपि साथ ही वैज्ञानिक और पर्यवेक्षणात्मक प्रणाली का सहारा लिया। उसने भौगोलिक वातावरण को राजनीति का अंग मानकर व्यक्तित्व को गौरव प्रदान किया। उसने केवल उन्हीं विचारों को अपनाया जो उसकी दृष्टि में व्यावहारिक उपयोगिता की कसौटी पर खरे उतरे। मॉण्टेस्क्यू ने कानून की महत्ता स्थापित करते हुए स्पष्ट रूप से कहा कि कानून द्वारा ही शासन सुचारू रूप से चलाया जा सकता है।

अब हम इस इकाई १५ में हीगल और ग्रीन के राजनीतिक विचारों का अध्ययन करेंगे |इसमें हम सर्वप्रथम हीगल के आत्मतत्व संबंधी विचार का अध्ययन करेंगे | इसके पश्चात हम यह देखेंगे कि किस प्रकार से हीगल ने द्वन्द्ववादी पद्धति से समाज के उद्विकास की व्याख्या की है और स्पष्ट किया है कि समाज के विकास में मुख्य सत्ता चेतना की है | साथ ही हम हीगल के अन्तर्राष्ट्रीयतावाद, युद्ध ,दण्ड तथा सत्पत्ति तथा संविधान के सम्बन्ध में दिए गए विचारों का भी अध्ययन करेंगे |इसी क्रम में हम तामस हिल ग्रीन के स्वतन्त्रता , अधिकार और कानून सम्बन्धी धारणा का अध्ययन करेंगे और देखेंगे किस प्रकार से ग्रीन ने लोंगो के अधिकारों को महत्व प्रदान किया है | और इसका व्यक्ति और राज्य के बीच संबंधो पर क्या प्रभाव पडता है ,इसका भी अध्ययन किया जाएगा |

15.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम

1. हीगल के द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त का अध्ययन कर सकेंगे |

2. द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त के आधार पर समाज के विकास की गति को समझ सकेंगे |

3. अन्तर्राष्ट्रीयतावाद, युद्ध ,दण्ड तथा सत्पत्ति तथा संविधान पर हीगल के विचारों को समझ सकेंगे |

4. ग्रीन की स्वतन्त्रता , अधिकार और कानून सम्बन्धी धारणा को जान सकेंगे |

5. सामान्य इच्छा पर ग्रीन के विचार का अध्ययन कर सकेंगे |

6.ग्रीन के अनुसार व्यक्ति और राज्य के मध्य सबंधों का अध्ययन कर सकेंगे |

15.2.1 हीगल के आत्म तत्व का सिद्धान्त

एक आदर्शवादी दार्शनिक के रुप में हीगल की यह आधारभूत मान्यता है कि सृष्टि में सम्पूर्णता व्याप्त है। इस सृष्टि का चरम सत्य दैविक मन है। इसी दैविक (सत्य) शक्ति को हीगल विचार तत्व विवेक अथवा आत्म तत्व जैसे अनेक नामों से भी सम्बोधित करता है। सृष्टि, इसका जड़ जगत और बाह्य जगत इत्यादि इसी आत्म तत्व की ही निर्मित है। हीगल के अनुसार विवेक विश्वात्मा ही संसार का सम्प्रभु है। आत्म तत्व की विशेषता यह है कि वह सर्वज्ञ है। सभी चीजों का ज्ञान प्राप्त करना इसका विशेष गुण है जब तक विवेक अपने स्वंय का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेती, तब तक यह सृष्टि में विकसित होती रहती है। इसकी यात्रा का अन्त केवल आत्म बोध प्राप्त करके ही होता है। यदि हम इतिहास को देखें तो ज्ञात होगा कि यह आत्म तत्व अपनी लीला करता रहा है। हीगल के कथनानुसार विवेकशील ही यथार्थ है और यथार्थ ही विवेकशील है। हीगल की मान्यता है जो आधारभूत और महत्वपूर्ण है केवल वही यथार्थ है। फिर भी हीगल वास्तविक की उपेक्षा नहीं करता क्योंकि उसका मानना है कि जो कुछ भी वास्तविक घटता है वह घटना आत्म तत्व के द्वारा ही संभव है।

हीगल के भावात्मक सिद्धान्त का सार इतना ही है कि इतिहास में जो कुछ होता है वह वैसे ही हुआ है जैसे उसे होना चाहिए जो हुआ है वह विवेक की रचना है अतः उसका सम्मान किया जाना चाहिए। इतिहास में जो कुछ भी विकसित हुआ है वह प्रयोगात्मक है, उनमें अनावश्यक पीछे रह जाती है, और आत्म तत्व जिन तत्वों को आगे बढ़ाता है उनमें विवेक है। आत्म तत्व ने जिस स्वरुप में अपने आप को प्रकट किया वह विकास के मार्ग का एक चरण था जो निरन्तर आत्म प्राप्ति की दिशा की ओर बढ़ रहा था। इसका अर्थ है कि सम्पूर्ण इतिहास आत्म-तत्व की विस्तृत कहानी है। इतिहास में आत्म-तत्व जन्म लेते हुए दिखता है, उसके उतार-चढ़ाव दिखते है, उसका पतन भी दिखता है और उसकी उन्नत अवस्था भी।

15.2.2 हीगलः द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त

उत्तरकालीन यूनान के विचारकों का मानना था कि यदि किसी स्थिति को उसकी अति तक पहुँचाया जाय तो प्रतिक्रिया स्वरुप उसकी विपरित स्थिति उत्पन्न होती है। उदाहरर्ण के तौर पर,

राजतंत्र की अति से कुलीनतंत्र उत्पन्न होता है और कुलीनतंत्र की अतियाँ लोकतन्त्र को जन्म देती है। लोकतंत्र को अति तक धकेलने पर तानाशाही उत्पन्न होती है और तानाशाही से राजतंत्र। हीगल द्वन्द्ववाद के इस यूनानी सिद्धान्त से प्रभावित हुआ था जिसे उसने अपनी दार्शनिक पद्धति अंग बनाया।

हीगल की मान्यता है किसी भी वस्तु के उसकी पूर्ण वस्था पर पँहुचने पर यह आभास होता है कि उसमें अपने तत्व के अलावा उसके विपरित अथवा विरोधी तत्वों का समावेश होता है। हीगल के अनुसार परिवर्तन की प्रक्रिया में वाद प्रतिवाद और संवाद की तीन कड़िया निहित रहती है। इस आधार पर हीगल की मान्यता है कि प्रत्येक अस्तित्व को समझने के लिए केवल इतना ही जानना पर्याप्त नहीं है कि यह क्या है अपितु यह भी जानना आवश्यक है कि "यह क्या नहीं है" हीगल कहता है कि द्वन्द्ववाद की प्रमुख अवधारणा यह है कि विरोधी तत्वों के संघर्ष और सामंजस्य के द्वारा प्रगति होती है। इतिहास को इस सिद्धान्त के द्वारा आसानी से समझा जा सकता है। सृष्टि विचार जगत अथवा मानवीय इतिहास में प्रगति अथवा विकास कैसे और क्यों होता है, द्वन्द्ववाद इन प्रश्नों की

खोज करता है हीगल के द्वन्द्ववाद की यह प्रमुख धारणा है कि प्रकृति में, विचार जगत में अथवा मानवीय इतिहास मे प्रगति संघर्ष और समन्वय के नियमों द्वारा होती है।

हीगल ने द्वन्द्ववाद की प्रक्रिया की जिन तीन कड़ियों की चर्चा की है, वे तीन कड़ियाँ वाद प्रतिवाद, और संवाद की है वाद किसी प्रस्थापना की पुष्टि करता है। उस प्रस्थापना का खण्डन प्रतिवाद करता है। किन्तु बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती वाद और प्रतिवाद में जो सत्यांश है वह मिल कर सवांद में प्रकट होता है। इस प्रकार वाद, प्रतिवाद और सवांद पर आकर समाप्त नहीं होती। जो कल तक सवांद था वह कालान्तर में पुनः वाद में परिवर्तित हो जाता है और एक बार पुनः वाद प्रतिवाद सवांद की त्रयी क्रियाशील होती है। यह प्रक्रिया तब तक समाप्त नहीं होती जब तक कि अंतिम सत्य को प्राप्त नहीं कर लिया जाता स्पष्ट है कि हीगल का द्वन्द्ववाद से अर्थ द्वन्द्व और सामंजस्य की उस प्रक्रिया से है जिससे विचार जगत और सृष्टि में प्रगति होती है विचार तत्व के विकास का उदाहरण ले सकते है। जिसे हीगल वाद कहते है विचार तत्व के विकास का उदाहरण ले सकते है। जिसे हीगल वाद कहते है, जब तक यह अपने उद्देश्य तक नहीं पहुँच जाता तब तक वह वाद पूर्णता से दूर रहता है इन अपूर्णताओं को दूर करने के लिए एक प्रतिक्रिया शुरु होगी जिसे हीगल प्रतिवाद कहता है। उसके बाद वाद और प्रतिवाद का द्वन्द्व होगा और यह संघर्ष तब तक चलता रहेगा जब तक कि सवांद का आविर्भाव नहीं हो जाता। सवांद तक पहुंचकर विचार तत्व की समाप्ति नहीं होती, वहीं सवांद अब वाद का रुप धारण करता है और एक बार फिर से वाद का प्रतिवाद और वाद प्रतिवाद से सवांद की प्रक्रिया चालू हो जाती है जब तक कि विचार तत्व अपनी पूर्णता को प्राप्त नहीं कर लेता है।

हीगल वाद प्रतिवाद सवांद सिद्धान्त द्वारा इस तथ्य को रेखाकित करना चाहता हूँ। कि सृष्टि जगत में जो कुछ भी सत्यांश है, उसका कभी लोप नहीं होता। सत्य का वह अंश, चाहे विचार जगत में हो अथवा सामाजिक जगत में, सदा संघर्ष और समन्वय की प्रक्रिया में और अधिक शुद्ध और उन्नत होकर आगे बढ़ता है। अतः हम कह सकते है कि वाद-प्रतिवाद के अन्तर्विरोधी को बाधाएं नही मानना चाहिए। ये बाधाएँ नहीं अपितु सत्य को उजागर करने वाली आवश्यक परिस्थितियां है। यदि अन्तर्विरोध नहीं है तो प्रगति भी संभव नहीं है। प्रगति इन द्वन्द्वो का ही परिणाम है।

हीगल के वाद प्रतिवाद सवांद सिद्धान्त की प्रक्रिया किस प्रकार कार्य करती है उसको स्पष्ट करने के लिए हम कुछ उदाहरण का सहारा ले सकते है। हीगल का जो तर्कशील सिद्धान्त है यदि हम उसके अनुसार 'अस्तित्व' ;(Thesis) वाद है तो 'अनस्तित्व' ;(Antithesis) उसका प्रतिवाद है और वाद प्रतिवाद से बना है 'सवांद (Synthesis) है। सरकार के प्रकारों का ऐतिहासिक विकास किस प्रकार होता है, हीगल के विचारानुसार 'निरंकुशवाद' वाद है, जिसका प्रतिवाद लोकतन्त्र है और निरंकुशवाद तथा लोकतन्त्र का समन्वय संवैधानिक राजतन्त्र रुपी सवांद में होता है। इस प्रकार जब हम इस सिद्धान्त का अध्ययन गहनता के साथ करते है तो ज्ञात होता है कि राज्य जैसी संस्था की व्याख्या हीगल ने अपने द्वन्द्ववाद के सिद्धान्त के आधार पर की है। हीगल मानता है कि कुटुम्ब वाद है, 'सिविल समाज' ; उसका प्रतिवाद है और वाद प्रतिवाद के द्वन्द्व से राज्य रुपी सवांद का आविर्भाव होता है। हीगल ने द्वन्द्वात्मक प्रणाली से होने वाले परिवर्तनों के तीन आधारभूत नियमों का वर्णन किया है जो इस प्रकार है-

परिवर्तन के तीन नियम

1. संख्यात्मक चीजों में गुणात्मक परिवर्तन और गुणात्मक चीजों में संख्यात्मक परिवर्तन का नियम।

2. विरोधों की एकता का नियम।

3. निषेध के निषेध का नियम।

उपरोक्त तीनों नियमों का संक्षेप में सार यह है।

1. संख्या का गुण में और गुण का संख्या में परिवर्तन का नियम:- हीगल कहता है कि वस्तुओं में संख्यात्मक /मात्रात्मक और गुणात्मक परिवर्तन होते रहते है। किसी वस्तु में अदृश्य संख्यात्मक परिवर्तनों के द्वारा उस वस्तु का गुणात्मक रुप इतना बदल जाता है कि उसके आगे वह वस्तु एक नया गुणात्मक रुप धारण कर लेती है। पानी का भाप बनना अथवा बर्फ बनना संख्या से गुणात्मक परिवर्तन का उदाहरण है। इसी प्रकार, इसके विपरित गुण से संख्या में परिवर्तन होता है बादल से पानी का बनना इसका उदाहरण हो सकता है। मात्रा से गुण में और गुण से मात्रा में परिवर्तनों का होना, परिर्तन का पहला नियम है। हीगल इस सिद्धान्त से यह बताता है कि सामाजिक संस्थाएँ परिवर्तनशील है जिनमें संख्यात्मक और गुणात्मक परिवर्तन होते रहते है।

2. विरोधी तत्वों की एकता का नियम:- हीगल प्रतिपादित करता है कि प्रत्येक एकता में विरोध के स्वर होते है। हम जिस वस्तु को एकता मानते है, जैसे कि संस्था की एकता, उसकी कुछ समय वह एकता बनी रहती है किन्तु कालान्तर में यह स्पष्ट होने लगता है कि उस एकता में, उस संस्था की एकता में परस्पर विरोधी तत्व है। इन परस्पर विरोधी तत्वों का संघर्ष होगा और उनकी एकता नष्ट होगी तथा संस्था नया रुप धारण करेगी। जो नियम संस्था के लिए सही है वह सत् के लिए भी सही है। हीगल मानता है कि सत् की अन्तर्विरोधी प्रकृति होती है। मूल मान्यता है कि प्रत्येक एकता में विरोधी तत्वों का समावेश रहता है।

3. निषेध के निषेध का नियम:- हीगल कहता है कि अपने अन्तः विरोधों के कारण वाद का विस्फोट होता है और उसका स्थान प्रतिवाद का विस्फोटक होता है और उसका स्थान प्रतिवाद द्वारा ले लिया जाता है, अर्थात वाद का निषेध प्रतिवाद है। इसी तरह प्रतिवाद भी उन्ही कारणों के फलस्वरुप बिखर जाता है यही प्रतिवाद का निषेध है इसका साधारण अर्थ यह है कि प्रतिवाद पहिला निषेध है और सवांद प्रतिवाद का भी निषेध है अतः उसे निषेध कहा गया है।

इस विचार को समझाने के लिए हीगल ही एक उदाहरण देते है। राज्य जैसी संस्था की व्याख्या करते हुए हीगल मानते है कि विकास के क्रम में पहले परिवार का आविर्भाव हुआ फिर सिविल समाज का और अन्त में राज्य का। हीगल की भाषावली में परिवार वाद है, सिविल समाज उसका प्रतिवाद और राज्य इनका सवांद। इस तरह सिविल समाज परिवार का निषेध है पहला निषेध और सिविल समाज का निषेध राज्य (दूसरा निषेध) है अतः राज्य पहले निषेध का भी निषेध है।

15.2.3 हीगल का राज्य सिद्धान्त

हीगल ने द्वन्द्वात्मक प्रणाली के आधार पर अपने राज्य सिद्धान्त की व्याख्या की है। हीगल कहता है कि मानव की विकास यात्रा पहले परिवार को जन्म देती है, परिवार के प्रतिवाद के रुप में सिविल समाज का आविर्भाव होता है और इनके सवांद के रुप में राज्य का उदय होता है। जैसे भौतिक जगत के विकास का सर्वोच्च बिन्दु मनुष्य है, उसी तरह सामाजिक जीवन का सर्वोच्च बिन्दु राज्य है जिसमें अत्म तत्व अपने पूर्ण उद्देश्य को सिद्ध करता है।

परिवार स्त्री और बच्चे:-

परिवार के बारे में हेगल का विचार बड़ा ही आदर्शवादी था। इसे वे संतुष्टि एवं एकता पर आधारित क्षेत्र मानते थे। हेगल ने परिवार के सभी महत्वपूर्ण पक्षो विवाह परिवार, संपत्ति, पूंजी बच्चों की शिक्षा परिवार के नियमन इत्यादि पर विचार किया। उनके लिए विवाह एक नैतिक सम्बन्ध था। यह एक विशेष प्रकार की एकता थी "जिसका वस्तुगत स्रोत व्यक्तियों की मुक्त सहमति है, विशेषकर एक व्यक्ति में विकसित होने की सहमति, प्राकृतिक एवं व्यक्तिगत व्यक्तित्व त्यागकर एक दूसरे के साथ एकता" विवाह प्रेम पर आधारित होता है। परिवार एवं समुदाय द्वारा मान्यता उतनी ही महत्वपूर्ण है।

हेगल में उनके काल के पुर्वाग्रहों का प्रतिबिम्ब मिलता है। वे परिवार में यौन विभाजन और स्त्री की पारम्परिक छवि के समर्थक थे। बाहरी मामलों में पुरुष शक्तिशाली था और स्त्री निष्क्रिय और मनोवादी नागरिक समाज पूरी तरह पुरुष के लिए था। स्त्री का क्षेत्र घर है।

अरस्तू के समान हेगेल भी विवाह को प्रजनन के लिए आवश्यक और इतिहास से बाहर प्राकृतिक मानते थे। बाद में उन्होने मन की एकता माना। विवाह तर्क स्वरुप था और एकता के साथ यह गुण राज्य के लिए जरुरी था। परिवार में पुरुष में अवधारणा सम्बन्धी चितंन की क्षमता थी। इससे वे इतिहास एवं राजनीति की रचना कर सकते थे। स्त्रियों को शिक्षा दी जा सकती है लेकिन उनमें विज्ञान, दर्शन या कला की क्षमता नहीं होती ये विषय आदर्श के लिए जरुरी है। इसलिए वे अनुभव पर ही निर्भर रहती है और इससे परे जाने में असमर्थ होती है। इसलिए सार्वजनिक क्षेत्र में उन पर रोक लगती है।

लॉक के समान हेगेल का विचार था कि बच्चों को खर्चे का अधिकार था और अभिभावक उनके अनुशासन एवं शिक्षा के लिए जिम्मेदार थे। बच्चों को दडं नैतिक रुप से उचित था ताकि उन्हें प्राकृतिक रुप से विकसित होती आजादी का उपभोग करने से और उनकी चेतना में सार्वगिकता भरने से रोका जाए। बच्चे स्वाभाविक रुप से मुक्त होते है और अभिभावक उन्हें सम्पत्ति नहीं समझें। शुरू के वर्षो में प्रेम, आस्था और आदेश पालन पर जोर होना चाहिए। शिक्षा का उद्देश्य बच्चों को आत्मनिर्भर बनाना है ताकि वे व्यक्तित्व की आजादी का उपभोग कर सकें। वे इतनी शक्ति प्राप्त कर लें कि परिवार की स्वाभाविक एकता छोड़ बाहर आने के काबिल बन सकें और अपना परिवार और अपनी सम्पत्ति रख सकें। व्यक्ति को पारिवारिक संपत्ति को अपनी इच्छानुसार प्रयुक्त करने की आजादी होनी चाहिए।

विकास की इस प्रक्रिया पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट होगा कि सामाजिक विकास का पहला चरण परिवार है और इसका दूसरा चरण 'सिविल समाज' है। द्वन्द्ध की भाषा में परिवार वाद है और सिविल समाज उसका प्रतिवाद। परिवार रूपी वाद की कुछ न्यूनतम थी उसमें कुछ अर्न्तविरोधी थे जिनके प्रतिवाद के रूप में सिविल सामाजिक का आविर्भाव हुआ।:

सिविल समाज

परिवार और राज्य के बीच एक महत्वपूर्ण रचना सिविल समाज है जिसका उदय आधुनिक है। जब व्यक्ति परिवार मे रहते हुए उसके मन परिवार से अलग रहने का विचार उसके मन में आते हुए अपने दायित्वों का बोध होता है कि उसके कुछ धार्मिक या आध्यात्मिक दायित्व भी है तो व्यक्ति को अहसास होने लगता है अब उसे परिवार में बोझ नही बनना चाहिए। अब उसे स्वंय आजिविका अर्जित करनी चाहिए। वह एक मानसिक तनाव का अनुभव करता

है। इसी व्याकुलता के बीच वह परिवार को छोड़ कर 'सिविल समाज' में प्रवेश करता है। 'सिविल समाज' को हीगल 'बुर्जुआ समाज' के नाम से भी सम्बोधित करता है। सिविल समाज के स्वरूप के बारे में वर्णन करते हुए हीगल स्पष्ट करता है कि यह वृहत्तर समाज स्वतंत्र विचार वाले स्त्री पुरुषों की संस्था है जो कि स्वहित भावना से तथा अनुबंध के सुत्रों से बनती है। कुटुम्ब में परिवार के मुखिया का नियन्त्रण है तो सिविल समाज में कानून का नियन्त्रण है। सिविल समाज में मनुष्य की उन आवश्यकताओं की पूर्ति होती है जो कुटुम्ब द्वारा पूरी नहीं की जाती। हीगल कहता है कि इस नये समाज में व्यापार, उद्योग कानून का शासन, गिल्डो तथा निगमों की उत्पत्ति होती है जो आर्थिक जीवन को संचालित करते है।

हीगल का द्वन्द्ध वाद अभी तक यह प्रतिपादित कर चुका है कि प्रेम पर आधारित कुटुम्ब एक एकता है जो वाद है कुटुम्ब का प्रतिवाद सिविल समाज है जो प्रतिस्पर्धा पर आधारित व्यक्तियों का समूह है। परिवार रुपी वाद का सिविल समाज रुपी प्रतिषाद है। इस वाद प्रतिवाद का सवांद राज्य है। राज्य रुपी सवांद में परिवार (वाद) और सिविल समाज प्रतिवाद के श्रेष्ठ गुणों का संरक्षण होता है।

राज्य

हेलेग का राज्य सर्वात्रिक वास्तविकता का प्रतिनिधित्व करते हुए परिवार एवं नागरिक समाज के तत्वों का डाइलेक्टिकल समावेश करता है। परिवार के समान राज्य भी सबके हितों में काम करता है। यह समाज के सर्वात्रिक तत्वों का प्रतिनिधित्व करता है और इसलिए नागरिकता के विचार को जन्म देता है। राज्य का अस्तित्व विशेष आत्म चेतना में निहित है जो सर्वात्रिक के स्तर तक उठता है। राज्य पूरी तरह तार्किक है और सार रुपी इच्छा है जो इतिहास के जरिए प्रकट होता है और इसलिए अन्त है। मस्तिष्क इतिहास के जरिए स्वंय को हासिल करता है। राज्य एक ऐसी रचना है "जिसका व्यक्ति पर सर्वोच्च अधिकार है और जिसकी उच्चतम जिम्मेदारी राज्य का सदस्य होना है।

राज्य का स्वरूप:-

(1) राज्य दैविक है- हीगल के कथनानुसार यह पृथ्वी पर ईश्वर की यात्रा है। क्योंकि आत्म तत्व ईश्वर का रुप है। राज्य उस आत्म तत्व का एक भाग मात्र है। अतः हम कह सकते है कि राज्य भी ईश्वर के द्वारा जनित है। राज्य एक कृत्रिम संस्था है हीगल इसका खन्डन करता है और कहता है कि राज्य एक दैवीय संस्था है।

(2)राज्य का अपना व्यक्तित्व:- हीगल कहता है कि राज्य का अपना स्वंय का व्यक्तित्व होता है। राज्य की अपनी स्वतंत्र इच्छा होती है तथा उसका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व होता है। हम यह नही मान सकते कि राज्य केवल व्यक्तियों की इच्छाओं का योग मात्र है। मनुष्य के जीवन का अन्त उसकी मृत्यु है किन्तु राज्य का जीवन पीढ़ी दर पीढी बना रहता है। राज्य का अस्तित्व, वर्तमान भूतकाल और भविष्य भी रहता है।

(3) राज्य एक साध्य है:- हीगल राज्य को एक साध्य स्वीकार करता है राज्य से उच्च और कोई

उद्देश्य नहीं होता। राज्य आत्म तत्व की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। आत्म तत्व अपनी आत्मानुभूति की जिस यात्रा को आरम्भ करता है उसकी सर्वोच्च उपलब्धि राज्य है, राज्य को साध्य बताकर हीगल व्यक्ति को राज्य का एक साधन मानता है।

(4) राज्य की सावयवी एकता:- हीगल का विचार है कि "राज्य को एक सावयव के रुप में समझा जाना चाहिए"। राज्य एक ऐसी सम्पुर्ण ईकाई है जो कि अपने विभिन्न अंगो के योग मात्र से कहीं अधिक है। जिस प्रकार मनुष्य शारीर के अंगों का कोई स्वतंत्र महत्व नहीं होता उसी प्रकार राज्य से भिन्न व्यक्ति का भी कोई महत्व नहीं होता। व्यक्ति के अधिकारों तथा उसके व्यक्तित्व का महत्व केवल इसलिए है कि वे राज्य रुपी विशाल शरीर के अंग मात्र है।

(5) राज्य में व्यक्ति की स्वतनत्रता का विस्तार:- राज्य में व्यक्ति की स्वतंत्रता सीमित नहीं होती अपितु उसकी स्वतंत्रता का दायरा विकसित होता है। हीगल की मान्यता 'आत्म तत्व' की विशेषता उसकी स्वतन्त्रता है। आत्म तत्व स्व केन्द्रित है और स्व केन्द्रीयता में ही स्वतंन्त्रता सार निहित रहता है। जैसे2 आत्मतत्व का विकास होता है उसी के साथ2 स्वतन्त्रता का भी विकास होता है। हीगल धारणा है कि राज्य के कानूनों में और व्यक्ति की स्वतंत्रता में कोई अन्तर्विरोध नहीं होता। हीगल के दर्शन में स्वतंत्रता का अर्थ व्यक्ति के अधिकारों से नही है जैसा कि व्यक्तिवादियों के दर्शन की मान्यता है। हीगल के अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अर्थ राज्य की आज्ञाओं का, राज्य के कानूनों का स्वेच्छा से पालन करना है।

15.2.4 राष्ट्रीय राज्य, अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और युद्ध

हीगल के राज्य सम्बन्धी विचारों से स्पष्ट है कि वह राष्ट्रीय राज्य का समर्थन करते हुए उसे मानव संगठन का सर्वोच्च रुप मानता है। वह किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्व व्यापी सगंठन के राष्ट्रीय राज्य के उपर होने की कल्पना नहीं करता। हीगल कहता है कि एक पूर्ण स्वतंत्र राज्य के लिए सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न आत्म रक्षा का है अतः अपना सार्वभौमिकता व सम्प्रभुत्ता बनाये रखने के लिए राज्य कोई भी कार्य करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है। इसलिए हीगल के शब्दों में राज्य स्वंय पूर्ण मस्तिष्क है जो अच्छाई और बुराई लज्जा और तुच्छता और धोखेबाजी आदि के भावात्मक नियमों को स्वीकार नहीं करता।

अन्तर्राष्ट्रीयतावाद के विषय में हीगल कहते है कि राज्यों को अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में कोई आपत्ति नहीं होती बशर्ते कि उसकी सुरक्षा कायम रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ऐसे प्रभुसम्पन्न राज्यों के साथ होता है। जो या विश्वास करते है कि अपना हित ही उचित है तथा अपने हित के विरुद्ध कार्य करना पाप है अर्थात जब राज्यों की विशेष इच्छाएँ आपसी समझौता से पूर्ण नहीं हो पाती तो विवाद को केवल युद्ध द्वारा ही समाप्त किया जा सकता है।

हीगल का मत है कि युद्ध को एक पूर्ण बुराई नहीं मानना चाहिए। मानव जाति का विश्व व्यापी प्रेम तो एक मूर्खतापूर्ण आविष्कार है। युद्ध अपने आप में एक गुणात्मक कार्य है। हीगल शान्तिपूर्ण उपायों और समझौतो को अस्वीकार करता है। वह स्थायी शान्ति का विरोध बन गया है। समाज चाहे युद्ध को सदैव हय समझती रहे, किन्तु हीगल के विचार से युद्ध के अनेक लाभदायक परिणाम होते है। युद्ध व्यक्ति के अहम का नाश करता है और समाज की पतन से रक्षा कर उसमें क्रियाशीलता का संचार करता है।

हीगल का मत है कि युद्ध को घोर अपराध नहीं मानना चाहिए। युद्ध स्वमेव एक नैतिक कार्य है। शान्ति भ्रष्टाचार का प्रसार करती है और अनन्त शक्ति भ्रष्टाचार फैलाएगी। युद्ध वह कार्य है जो सांसारिक स्वार्थो और अहम को व्यस्थित करती है।

15. 2.5 दण्ड तथा सत्पत्ति

कॉण्ट की भाँति हीगल भी दण्ड के प्रश्न को नैतिक दृष्टि से देखता है कि किसी भी अधिकार के उल्लघंन होने पर राज्य का कर्तव्य हो जाता है कि वह अपराधी को दण्डित करें। हीगल की दृष्टि में दण्ड का उद्देश्य सार्वजनिक सुरक्षा नहीं है। बल्कि दण्ड की भावना को बलवती करता है। दण्ड समाज और अपराधी दोनों का समान अधिकार है। और इसी के द्वारा दोनों को अपना उचित न्याय मिल जाता है। हीगल के अनुसार जब किसी अधिकार का अतिक्रमण हो तो उस अधिकार की स्थापना का एक मात्र उपाय है प्रथम पीड़ित व्यक्ति पर किए गए अत्याचार का सार्वजनिक निराकरण और द्वितीय उनके माध्यम से समाज और न्याय के नियमों पर अनाधिकार चेष्टा का निराकरण । हीगल सम्पत्ति को मनुष्य के लिए आवश्यक मानता है। हीगल की मान्यता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व की पूर्णता के लिए सम्पत्ति आवश्यक है क्योंकि इसके द्वारा ही व्यक्ति की इच्छाशक्ति क्रियाशील रह सकती है। यदि व्यक्ति के पास सम्पत्ति नहीं है तो व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास नहीं हो सकता। हीगल के अनुसार सम्पत्ति का निर्माण राज्य अथवा समाज नहीं करता प्रत्युत वह मानव व्यक्तित्व की अनिवार्य अवस्था है।

15. 2.6 संविधान पर हीगल के विचार

हीगल ने राज्य की सांविधानिक शक्तियों को तीन भागों में ही विभाजित किया है। तीन शाक्तियाँ है कार्यपालिका व्यवस्थापिका और न्यायपालिका जो कि माण्टेस्क्यु आदि विचारको ने बताई थी जब हीगल के अनुसार ये शक्तियाँ है विधायी, प्रशासनिक तथा राजतन्त्रात्मक हीगल न्यायपालिका को कार्यपालिका की शाखा मानते है। दूसरा सबसे बड़ा अन्तर यह है कि हीगल ने तीनों शक्तियों को एक दूसरे से स्वतंत्र और एक दूसरे को नियन्त्रित करने वाली न मानते हुए उनहें परस्पर पूरक और एक महान समष्टि के अभिन्न अंग के रुप में माना है।

हीगल तीनों शक्तियों में राजतन्त्रात्मक शक्ति को प्रमुख मानते है हीगल की धारणा है कि सांविधानिक राजतन्त्र में ही पूर्ण विवेकशीलता उपलब्ध हो सकती है क्योंकि इसमें राजतन्त्र, कुलीनतंत्र औ प्रजातंत्र तीनों के तत्व निहित है।

हीगल कहता है कि प्रभुसत्ता जनसाधारण को न दी जाकर राजा के हाथों में रहनी चाहिए। विधानमण्डल में चाहे जनता का प्रतिनिधित्व हो और उसके द्वारा निर्मित कानूनों को कार्यपालिका देश में लागू करे, किन्तु अन्तिम रूप देने का अधिकार राजा को होना चाहिए। हीगल संविधानिक शासन के सिद्धान्त को निरूपन करता है। हीगल मानता है कि राज्य की शक्ति निरपेक्ष अवश्य है लेकिन स्वेच्छाचारी नहीं राज्य को अपनी नियामक शक्ति को विधि के अनुसार प्रयोग करना चाहिए।

हीगल के विचारों की दुर्बलताएँ:-

हीगल का द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है - हीगल का द्वन्द्ववाद बहुत अस्पष्ट है। उसकी तार्किक प्रणाली दुषित है। वास्तविकता यह है कि द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त परस्पर विरोधी तत्वों के संघर्ष और समन्वय की प्रक्रिया से होने वाली प्रगति का सिद्धान्त हीगल के दर्शन में मात्र फार्मूला बनकर रह गया है। आलोचको का कहना है कि द्वन्द्ववाद के नाम पर किसी भी मनचाही विरोधी दिखने वाली परिस्थिति अथवा घटनाक्रम को वाद प्रतिवाद का नाम दिया जा सकता है, जैसे कि विरोधी स्थिति दण्ड है अथवा कि केन्द्र विमुख स्थिति का विरोधी तत्व केन्द्र मुखी है। वास्तविकता यह है ये तार्किक विरोधाभास नहीं है। इतिहास की व्याख्या के रुप हम इस सिद्धान्त की वैज्ञानिकता को स्वीकार नहीं कर सकते है। द्वन्द्ध की आलोचना करते हुए डॉ0 वेपर ने ठीक ही कहा है कि "उन्नीस्वी और बीसवी शताब्दियों में द्वन्द्ववाद सिद्धान्त इसलिए लोकप्रिय हो गया क्योंकि इसके आधार पर विचारक इतिहास से

राज्य सम्बन्धी ऐसे निष्कर्षो को निरुपित कर सके जिनकों कि वे स्वीकार कर लेना चाहते थे। संक्षेप में हीगल का द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त एक विवादस्पद धारणा है जिसके माध्यम से स्वेच्छित निष्कर्षो को सही अथवा गलत सिद्ध किया जा सकता है। इसे आप व्याख्या का वैज्ञानिक साधन नहीं मान सकते।

हीगल चरम राष्ट्रीयतावादी विचारक था। जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता का राज्य के बलिदान कर देता है। वह एक शक्तिशाली निरकुशंता वादी राज्य का पुजारी या समर्थक था। वार्कर के शब्दों में उसने राष्ट्रीय राज्य को एक रहस्यात्मक स्तर तक पहुँचा दिया है। 17वी शताब्दी में विचारक राजाओं के दैवीय अधिकार की बात करते है लेकिन हीगल ने राज्य के दैवीय अधिकार की स्थापना की है। हीगल का सार्वाधिकारवादी राज्य जनतन्त्रवादी राज्य से बिलकुल मेल नहीं खाता है। आलोचकों ने हीगल को 20वी शताब्दी की दो बड़ी सर्वाधिकारवादी विचारधारणाओं फासीवाद और साम्यवाद का मूल स्रोत माना है। ऐबेंसटीन का आरोप है कि हीगल ने शक्ति और नैतिकता को अभिन्न बना दिया है।

हीगल ने स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का जो प्रस्तुतीकरण किया है वो ऐसा लगता है कि जैसे उस सिद्धान्त को तोड़ मरोड़ कर स्वतन्त्रता को आज्ञाकारिता का रुप दे दिया है। उसने व्यक्ति के व्यक्तित्व के सिद्धान्त को परिवर्तित कर मनुष्यों की दैवी शक्ति की प्रवाधिक नलिका बनाकर उन्हें राज्य में आत्मसात कर दिया है। जोड़ के शब्दों में, राज्य का निरपेक्ष सिद्धान्त व्यक्ति की स्वतन्त्रता का शत्रु है क्योंकि जब भी व्यक्ति और राज्य में कोई संघर्ष होता है तो उसके अनुसार राज्य ही सही होना चाहिए हीगल किसी भी सूरत में राज्य के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार प्रदान नहीं करता।

राज्य की सावयवी धारणा:- हीगल की राज्य और समाज की सावयवी धारणा दोषपूर्ण है। हीगल कहता है कि राज्य एक सावयव रुपी अवधारणा है। मनुष्य को राज्य रुपी शरीर का अंग मानना उसके दर्शन की बड़ी दुर्बलता है। शरीर का और उसके अंगो का कोई उद्देश्य नहीं होता, सिवाय इसके ईकाई कि शरीर को अक्षुण्ण बनाये रखा जाए, किन्तु समाज की प्रत्येक ईकाई मनुष्य का उद्देश्य होता है मनुष्य

में विवेक उद्देश्य परकता और मावामकता होती है जिन गुणों का शरीर (राज्य) में अभाव रहता है। हीगल के विचारों में मनुष्य के इन विशिष्ठ गुणों की, उसकी विवेक शीलता, उद्देश्यपरकता और भावात्मकता की अवमानना दिखायी पड़ती है। व्यक्ति को राज्य समाज का अंग मानकर हीगल का चिन्तन मनुष्य के व्यक्तित्व का सम्मान नहीं कर सका। राज्य की एकता की धुन में हीगल व्यक्ति को विस्मृत कर देता है। हीगल के इस दृष्टिकोण का सबसे दुर्बल पक्ष यह है कि वह यह भूल जाता है कि व्यक्ति के लिए जिस तरह समाज आवश्यक है उसी प्रकार समाज भी अन्ततोग्त्वा व्यक्तियों द्वारा ही निर्मित होता है। हीगल व्यक्ति की इस निर्माणकारी भूमिका को भूला देता है।

टॉमस हील ग्रीन

15.3 ग्रीन का आध्यात्मिक सिद्धान्त

हम मनुष्य को भौतिक प्रकृति का एक अंश मानकर तथा उसकी अन्य क्रियाओं को केवल प्राकृतिक घटनाएं मानकर उसके वास्तविक स्वरूप को नही जान सकते। वह आधारभूत बिन्दु जिससे ग्रीन मानव स्वभाव का विश्लेषण करता है, मनुष्य की आत्म चेतना प्राप्त करने का गौरव केवल मनुष्य को है।

हीगल तथा फिम्टे की भांति ग्रीन भी यह मानता है कि संसार और आत्मा में एक ही तत्व निहित है। यह तत्व बुद्धिगम्य होता है। इस विवेकशीलता के कारण ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। यदि संसार की कोई वस्तु बुद्धिगम्य नहीं होगी तो उसका अस्तित्व ही नहीं होगा। ग्रीन की मान्यता है कि संसार की सभी वस्तुऐं तथा आत्मा विवेकशील होती है। बाह्माण्ड का ज्ञान विवेक द्वारा हो सकता है। इस परम विवेक या बुद्धि को ही जिसके द्वारा सांसारिक वस्तुओं के मध्य सम्बन्ध स्थापित होता है, परमात्मा का नाम दिया जाता है। ग्रीन ने इसे शाश्वत चेतना की संज्ञा दी है। चुंकि यह ब्रह्माण्ड की सत्ता है और इसको जाना जा सकता है, इसलिए यह सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त और उसकी चेतना सबमें विद्यमान रहती है। एकता और व्याख्या स्थापित करने वाला यह एक क्रमबद्ध सिद्धान्त है। संसार की प्रत्येक वस्तु इसी शाश्वत चेतना की ओर बढ़ने का प्रयास करती है।

ग्रीन कहता है कि संसार में तीन तत्व है, मनुष्य तत्व या मानव आत्मा, जगत तत्व ओर परम तत्व इनको मिलकर एक ईकाई का निर्माण होता है। इनका आपस में जो सम्बन्ध है वह योगिक न होकर सावयविक होता है। इस प्रकार ग्रीन का पूर्ण विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य में शाश्वत् चेतना का निवास रहता है। यही उसके राजनीतिक एवं नैतिक विचारों का जन्म दाता है। अतः मनुष्य जो कि शाश्वत चेतना का ही अंश है, भी सदैव नैतिक जीवन के लिए सत्त स्वतन्त्रता की कामना करता है। मानवीय चेतना की व्याख्या करते हुए ग्रीन बताता है कि मनुष्य एक नैतिक ईकाई है और उसके नैतिक जीवन की उपलब्धि के लिए स्वतंत्रता नितान्त आवश्यक है।

15.3.1 ग्रीन की स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारणा

ग्रीन के स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचारों अध्ययन करते हुए हमें ज्ञात होता है कि ग्रीन ने स्वतन्त्रता को मानवीय चेतना के साथ जोडा है। रुसों तथा कान्ट की स्वतन्त्रता की धारणा से प्रभावित होकर ग्रीन यह मानता है कि नैतिक स्वतन्त्रता मनुष्य का विशिष्ट गुण है। स्वतन्त्र नैतिक इच्छा के कारण ही मनुष्य सदैव अपने आपको एक लक्ष्य के रुप मे मानता है। ग्रीन के पूर्व व्यक्तिवादी विचारकों ने स्वतन्त्रता को नकारात्मक शक्ति नहीं मानता। ग्रीन की मान्यता स्वतनत्रता व्यक्ति को प्राप्त एक सकारात्मक शक्ति है जिसका प्रयोग व्यक्ति आदर्श दृष्टि से करने योग्य कार्यो को करने में करता है और अपनी नैतिक पूर्णता को प्राप्त करता है ग्रीन के शब्दों में स्वतन्त्रता करने योग्य कार्यो को करने की तथा उपभोग करने योग्य चीजों के उपभोग करने की सकारात्मक शक्ति है। साधारण शब्दों में वे कार्य जो नैतिक उत्थान की दृष्टि से करने योग्य है, अथवा वे वस्तु जिनका उपभोग करना नैतिक दृष्टि से वांछनीय है ऐसे कार्यो को करने की सकारात्मक शक्ति को स्वतन्त्रता कहते है। स्वतन्त्रता का सम्बन्ध सद् इच्छा से है, अतः किसी कुत्सित कार्य को करने की छूट को स्वतन्त्रता नहीं कहते है। जो करने योग्य कार्य है अर्थात जो सामाजिक दृष्टि से नैतिक व स्वीकृत कार्य है, उनको करने की शक्ति ही स्वतन्त्रता है। ग्रीन के अनुसार करने योग्य कार्य वे कार्य

होते है जिन्हें सामाजिक मान्यता प्राप्त होती है, अर्थात जो समाज के हित में हो। संक्षेप में सामाजिक नैतिकता से स्वीकृत कार्यो को करने की शक्ति ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता है। यह व्यक्ति की सकारात्मक शक्ति इसलिए है कि वह इसका स्वेच्छा से सदुपयोग कर, करने योग्य कार्यो को कर सके।

ग्रीन स्वतन्त्रता को व्यक्ति द्वारा करने योग्य कार्यो की सकारात्मक शक्ति बताकर उसका सम्बन्ध अधिकारों की धारणा के साथ जोड़ता है। स्वतन्त्रता का वास्तविक उपभोग तभी किया जा सकता है जब अधिकार मुक्त हो। अधिकार विहिन स्वतन्त्रता उच्छखंलता में परिणत हो जाती है। यदि हमें व्यक्तित्व की उन्नति के लिए पूर्ण स्वतंत्रता की अपेक्षा है तो यह स्वाभाविक है कि हमें जीवन का अधिकार सम्पत्ति का अधिकार, स्वतन्त्रता पूर्वक भ्रमण का अधिकार, व्यवसाय, शिक्षा एवं कार्य का अधिकार आदि प्राप्त हों, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि हम अपने मार्ग में आने वाली बाधाओं को इस रुप में हटाने को प्रयत्नशील हो जाएँ जिससे दूसरें लोगों के अधिकारों का हन्न हो।

15.3.2ग्रीन की अधिकार सम्बन्धी धारणा

ग्रीन के मतानुसार अधिकार व्यक्ति के कार्य करने की स्वतन्त्रता है। इस स्वतन्त्रता को समाज द्वारा स्वीकृति मिलती है। ग्रीन कहता है कि सामाजिक मान्यता अधिकार का आवश्यक तत्व है। सामाजिक मान्यता के बिना कोई दावा अधिकार का रुप ग्रहण नहीं कर सकता। ग्रीन प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को अस्वीकार करता है। तथा साथ2 प्राकृतिक अधिकारों की आलोचना करता है। प्राकृतिक अधिकार उन अधिकारों को कहते है जो अधिकार व्यक्ति को नैसर्गिक देन है, व्यक्ति के अधिकार उसे प्रकृति से जीवन के साथ मिले है, समाज अथवा राज्य से नहीं। अतः राज्य को अधिकारों को छीनने का अधिकार भी नहीं है। ग्रीन प्राकृतिक अधिकारों को सिद्धान्त को अस्वीकार करने के पीछे कारण बताते है कि अधिकारों के लिए सामाजिक मान्यता आवश्यक है। ग्रीन का कथन है कि ‘‘प्राकृतिक अधिकार एक ऐसा अधिकार है जो कि समाज हीन प्राकृतिक अवस्था में पाया जाता है।’’

ग्रीन कहता है कि अधिकार न तो व्यक्ति के स्वार्थ से जुड़े हुए होते है जिसे कि वह समाज के सम्मुख पेश करता है और न ही अधिकार प्राकृतिक होते है। अधिकार वे होते है जिन्हें समाज मान्यता प्रदान करता है और जिन्हें प्राप्त करके व्यक्ति सार्वजनिक कल्याण को अपना कल्याण बना लेता है।

ग्रीन के अधिकारों के दो प्रकारों को स्वीकार किया है। वे दो प्रकार है।

(1) आदर्श नैतिक अधिकार ;

(2) कानूनी अधिकार ;

आदर्श अधिकार उन अधिकारों को कहते हैं जिनकी व्यक्ति को एक मनुष्य होने के नाते आवश्यकता होती है। चाहे राज्य ऐसे अधिकारों को मान्यता दे अथवा नही, ऐसे अधिकार मानव जीवन में आदर्श के रुप में आवश्यक होते है। जीवन के अधिकार को हम इसका एक उदाहरण मान सकते है। आदर्श अधिकारों का दायरा व्यापक होता है लेकिन इनको लागू करने वाली कोई बाध्यकारी शक्ति इनके पीछे नहीं होती है। आदर्श अधिकार समाज के सम्मुख नैतिकता का मापदण्ड प्रस्तुत करते है जिसके आधार पर कानूनी अधिकार सरलता से समाज में लागू किये जा सके।

कानूनी अधिकार उन अधिकारों को कहते है जिन्हें राज्य द्वारा अपने नागरिकों को प्रदान किये जाते है और सरकार जिन्हें समाज में लागू करती है या व्यक्तियों से उनका पालन कराती है। अर्थात राज्य द्वारा निर्मित एवं प्रदत्त होने से उनको लागू करने वाली राज्य की बाध्यकारी शक्ति जुड़ी रहती है। ग्रीन के अनुसार आदर्श नैतिक अधिकारों की तुलना में कानूनी अधिकारों का दायरा सीमित रहता है।

अर्थात कानूनी अधिकार लागू किये जाते हैं किन्तु आदर्श अधिकारों को लागू नहीं किया जा सकता।

ग्रीन के आदर्श नैतिक अधिकारों का जब हम मूल्यांकन करते है तो ज्ञात होता है कि यद्यपि ग्रीन ने प्रकृतिक अधिकारों का खंडन किया है किन्तु जब गहराई से अध्ययन करते है तो स्पष्ट होता है आदर्श नैतिक अधिकारों का सिद्धान्त भी प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त से मेल खाता है। ग्रीन के आदर्श नैतिक अधिकारों में एक दोष यह कि ग्रीन उनकी स्पष्ट होता है कि ग्रीन का आदर्श नैतिक अधिकारों का सिद्धान्त उसी प्रकार दोष पूर्ण है जिस प्रकार के दोष प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त में पाये जाते है।

15.3.3प्राकृतिक कानून पर ग्रीन के विचार

ग्रीन के अनुसार कानून इस दृष्टि से प्राकृतिक कहे जाते है कि वे सामाजिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। समाज की नैतिक भावना के विकास के साथ प्राकृतिक कानूनों में भी परिवर्तन हुआ करता है। उनका मानना है कि प्राकृतिक न्याय शास्त्र को ही इस बात का निर्णय करना चाहिए कि किन कानूनों को प्राकृतिक समझा जाए। तभी वह मान्य होगें और लागू करने योग्य होंगे फिर चाहे वे राज्य द्वारा निर्मित कानूनों का अंग हो अथवा न हों।

ग्रीन प्राकृतिक कानून और नैतिक कर्तव्य में भेद प्रकट करते हुए कहता है "प्राकृतिक कानून और नैतिक कर्तव्य में अन्तर हैं क्योंकि प्राकृतिक कानून और विधि पारित कानून में शक्ति तत्व निहित है तथा नैतिक कर्तव्यों में किसी बाहय शक्ति का दबाव नहीं होता"। नैतिक कर्तव्यों की पूर्ति के लिए बाहरी दबाव, जिसकी नीवं कतिपय लक्ष्यों की पूर्ति पर निर्भर है, उन लक्ष्यों की पूर्ति असम्भव कर देता है और इसी कारण राज्य द्वारा लागू किए गए कानूनों की सीमा निर्धारित होती है। अतः प्राकृतिक कानून, अधिकार और कर्तव्यों का अनुबन्ध वास्तविक नैतिकता से भिन्न है, किन्तु इससे जुडे हुए है।

15.3.4सामान्य इच्छा पर ग्रीन के विचार

सामान्य इच्छा की धारणा के सम्बन्ध में ग्रीन हॉब्स, लॉक तथा रुसो से बहुत प्रभावित है। ग्रीन मानता है कि सामान्य हित की चेतना समाज को जन्म देती है। सामान्य हित की जो सामान्य चेतना होती है, उसकी ग्रीन 'सामान्य इच्छा' की संज्ञा देता है। सामान्य इच्छा ही राज्य की प्रकृटिकरण है। यह सम्प्रभुता की सृष्टि करती है जिसका ध्येय अधिकारों को क्रियान्वित करना एवं उन संस्थाओं को पूर्ण स्वस्थ अवस्था में रखना है जो अधिकारों और कानूनों के मूर्तरूप है।

ग्रीन की मान्यता है कि राज्य का जन्म सामाजिक समझौते द्वारा न होकर मनुष्यों के सामान्य हित की सिद्ध के लिए होता है। राज्य के बिना सामान्य हित की प्राप्ति नहीं की जा सकती और रुसों के सिद्धान्त में सत्य का इतना अंश है कि राज्य का आधार शक्ति नहीं बल्कि सामान्य इच्छा है। ग्रीन ने भी इच्छा के दो रुप माने है 1. वास्तविक इच्छा 2. यथार्थ इच्छा। वास्तविक इच्छा स्वार्थपूर्ण होती है। वास्तविक इच्छा का निमार्ण काम, क्रोध, मोह आदि भावनाओं को लेकर होता है। इसमें विवेक नहीं होता है तथा ये यथार्थ इच्छा माने सद इच्छा के मार्ग में समस्या

खड़ी करती है। सद इच्छा व्यक्ति के अर्न्तःमन से उत्पन्न होती है। इन सद इच्छाओं को सामूहिक रुप से ग्रीन सामान्य इच्छा का नाम देता है।

ग्रीन का मत है कि राज्य व्यक्ति की सद इच्छा पर आधारित है। ग्रीन का कथन है कि राज्य शक्ति पर नहीं अपितु व्यक्ति की सद इच्छा पर आश्रित है। ग्रीन की धारणा है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। ऐसा सामाजिक प्राणि अनिवार्यतः समाज की सदस्यता तथा सामाजिक पारस्परिकता के माध्यम से ही अपने जीवन के नैतिक लक्ष्यों को प्राप्त करता है। ग्रीन स्वीकार करता है कि अधिकारों को लागू करने के लिए आवश्यकता पड़ने पर राज्य बाध्यकारी शक्ति का प्रयोग करता है और शक्ति उसके तत्वों में से एक तत्व है किन्तु एक मात्र शक्ति ही राज्य का आधार नहीं है। दूसरी और राज्य की दंण्ड शक्ति भी उसका आधार नहीं है। ग्रीन कहता है कि यदि मनुष्य दण्ड से डरकर किसी की आज्ञाओं का पालन करता है तो मनुष्य और पशु में क्या अन्तर रहेगा। ग्रीन का मानना है कि एक चेतनशील प्राणी के नाते मनुष्य राज्य का सदस्य है तथा शक्ति राज्य का आधार नहीं हो सकती है। राज्य का आधार व्यक्ति की सद्इच्छा है। ग्रीन का कथन है कि राज्य का आधार सामान्य उद्देश्य की सामान्य चेतना है। इसका अर्थ है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति की सद्इच्छा की यह चेतना है कि नैतिक जीवन की प्राप्ति उसके जीवन का लक्ष्य है नैतिक श्रेष्ठता की प्राप्ति उसका सामान्य उद्देश्य है। किन्तु इस सामान्य उद्देश्य की चेतना समाज की सद् इच्छाओं की है, अर्थात सद् इच्छाओं की यह सामूहिक चेतना है। इस नैतिक उत्थान के सामान्य उद्देश्य से प्रेरित होकर व्यक्ति की सद् इच्छा राज्य को स्वीकार करती है। अतः व्यक्ति की सद् इच्छा ही राज्य का आधार है। भय अथवा व्यक्ति राज्य का आधार नहीं है। व्यक्तियों की सद् इच्छा, जिसका सामूहिक रुप सामान्य इच्छा है, यही सामान्य इच्छा राज्य का आधार है। जिस शक्ति को रुसों ने सामान्य इच्छा कहा है उसी शक्ति को ग्रीन ने सामान्य हित की सामान्य चेतना कहा है।

15.3.5राज्य के कार्यो पर ग्रीन के विचार

ग्रीन के अनुसार राज्य के कार्य नकारात्मक और सकारात्मक दोनों प्रकार के होने चाहिए। सकारात्मक दृष्टि से वह चाहता है। कि राज्य व्यक्ति को वह कार्य करने दे जो कार्य करने योग्य है, और इनके करने में जहाँ बाधाएँ आती हो, उन बाधाओं को समाप्त करना राज्य का कार्य है। ग्रीन के अनुसार राज्य को यह अधिकार है कि नैतिकता के विकास के लिए उचित होने पर वह नागरिकों के कार्यो में हस्तक्षेप करे तथा आवश्यक होने और इनके करने में जहाँ बाधाएँ आति हो, उन बाधाओं को समाप्त करना राज्य का कार्य है। ग्रीन के अनुसार राज्य को यह अधिकार है कि नैतिकता के विकास के लिए उचित होने पर वह नागरिकों के कार्यो में हस्तक्षेप करे तथा आवश्यक होने पर बल प्रयोग से भी न हिचके।

नकारात्मक दृष्टिकोण के अनुसार ग्रीन के मत से राज्य का यह कर्तव्य किसी भी व्यक्ति को आन्तरिक अथवा नैतिक सहायता प्रदान करना नहीं है, अपितु राज्य का परम कर्तव्य है कि वह बाह्य हस्तक्षेप द्वारा ऐसा वातावरण का निमार्ण करे जिससे व्यक्ति के अन्दर अधिक से अधिक सामाजिक अथवा नैतिक चेतना उत्पन्न हो। राज्य को ऐसे व्यक्तियों के लिए दण्ड की व्यवस्था करनी चाहिए जो व्यक्ति के सामाजिक उन्नति के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न कर रहे हो। राज्य का निरन्तर प्रयास यह होना चाहिए, उन सब स्थितियों को दूर करने हेतु प्रयत्नशील हो, जो नैतिकता के विकास में बाधक हो। राज्य का विशेष कार्य सर्वोत्तम जीवन निर्वाह की बाधाओं को दूर करना है।

15.3.6राज्य और व्यक्ति

हीगल के राजनीतिक विचारों का जब हम अध्ययन करते है तो ज्ञात होता है कि हीगल ने व्यक्ति को पूर्ण रुप से राज्य के अधीन कर दिया है और व्यक्ति को राज्य के विरूद्ध किसी प्रकार का अधिकार प्राप्त नहीं है। किन्तु ग्रीन के विचार राज्य और व्यक्ति के सम्बन्ध उदार है। ग्रीन का विचार है कि व्यक्ति को राज्य के किसी कानून को जिसे वह सामान्य हित का विरोधी होने के नाते बुरा मानता है, साधारण परिस्थितियों में उल्लंघन अथवा प्रतिकार नहीं करना चाहिए अपितु उसका पालन करना चाहिए। लेकिन व्यक्ति उस बुरे कानून को निरस्त कराने में संवैधानिक तथा कानूनी साधनों का प्रयोग कर सकता है। समाचार पत्र, राजनीतिक दल, गैर, सरकारी संगठन, सामाजिक संगठन इत्यादि के माध्यम से उस कानून के विरुद्ध जनमत तैयार कर सकता है। जिससे कि उस कानून को निरस्त किया जा सके। यदि संविधानिक साधन राज्य के बुरे कानून को समाप्त कराने में असमर्थ हो तब व्यक्ति राज्य की अवज्ञा अथवा उसका प्रतिकार करने के विषय में सोच सकता है।

ग्रीन हर परिस्थिति में राज्य की अवज्ञा को उचित नहीं मानता है। जिसके लिए उसने इतनी शर्तो को लगाया है। ग्रीन की इस सावधानी और सतर्कता को ध्यान में रखते हुए प्रो0 बार्मर ने ग्रीन को एक 'उच्च आदर्शवादी' के साथ उसे एक 'गंभीर यथार्थवादी' भी बताया है। क्योंकि वी मन चाहे तरीके अथवा मनचाही राज्य प्रतिकार करने का व्यक्ति का अधिकार नहीं मानता ग्रीन कहता है कि राज्य का प्रतिकार करने का व्यक्ति का अधिकार नहीं मानता। ग्रीन कहता है कि राज्य का प्रतिकार केवल विशिष्ट परिस्थितियों में एक दुःखपूर्ण कर्तव्य के नाते किया जा सकता है अधिकार के रूप में नहीं |

ग्रीन एक आदर्शवादी विचारक होने के साथ शान्तिवादी विचारक भी है। एक ऐसा विचारक जो युद्ध को हमेशा एक बुराई के रुप में देखता है। ग्रीन मानता है कि युद्ध मनुष्य के जीवन के अधिकार को नष्ट करता है। उसका कथन है कि व्यक्ति के जीवन की स्वतन्त्रता युद्ध में नष्ट हो जाती है। ग्रीन ने आक्रामक तथा रक्षात्मक इन दो प्रकार के युद्धो की चर्चा की हैं। आक्रामक युद्ध वह युद्ध है जो किसी देश पर बल आक्रमणकारी राज्य द्वारा थोपा जाता है तथा रक्षात्मक युद्ध वह है जो किसी राज्य को उस पर थोपे गये युद्ध के विरुद्ध अपनी रक्षा के लिए करना पड़ता है। ग्रीन रक्षात्मक युद्ध को अपेक्षाकृत एक कम बुराई के रुप में मानता है। ग्रीन कहता है कि युद्ध चाहे रक्षात्मक हो या आक्रामक युद्ध तो युद्ध ही है। और इसलिए एक बुराई है। ग्रीन की मान्यता है कि युद्ध होने का अर्थ यही है कि राज्य में कहीं न कहीं 'नैतिक दोष' अवश्य है। युद्ध के विरोध में ग्रीन का सर्वोत्कृष्ट तर्क है। ग्रीन कॉष्ट की भाँति शान्तिवादी एवं विश्वबंधुत्व के आदर्श का अनुयायी है।

15.3.7सम्पत्ति पर ग्रीन के विचार

सम्पत्ति के विषय पर ग्रीन न तो व्यक्तिवादी है और न समाजवादी ग्रीन सम्पत्ति का समर्थन इस आधार पर करता है क्योंकि ग्रीन मानता है कि सम्पत्ति व्यक्ति के विकास के लिए अनिवार्य है। ग्रीन सम्पत्ति को परिभाषित करता है सम्पत्ति उन समस्त साधनों का योग है जो मनुष्य में आत्मानुभूति के सिद्धान्त को स्वतन्त्र विकास और सामान्य हित में योग देने के लिए आवश्यक हैं। स्वतन्त्र अभिव्यक्ति की मांग करते हुए चिरस्थायी आत्मा ने जिन वस्तुओं को प्राप्त कर लिया है, वह उसी का फल है। इस प्रकार हम देखते है कि ग्रीन व्यक्तिगत सम्पत्ति का समर्थक है।

ग्रीन यह स्वीकार करता है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति मानव योग्यता की सिद्धि का प्राकृतिक साधन है, स्वतन्त्र जीवन का एक आवश्यक आधार है और ग्रीन की मान्यता है कि यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को सदैव ही सामान्य हित के लिए प्रयुक्त करें। ग्रीन केवल इस बात पर बल देता है कि सम्पत्ति का सम्भावित लक्ष्य सामाजिक हित होना चाहिए। उसका विश्वास था कि सम्पत्ति के माध्यम से वस्तुओं को अपने अधिकार में कर एवं

उन्हें मानव की आवश्यकताओं के अनुकूल रुप देकर मनुष्य जहाँ एक ओर अपनी स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है वही दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि से मूल्यवान उत्तम मनोभावों को भी व्यक्त कर सकता है। इस प्रकार ग्रीन के सम्पत्ति पर विचारों का अध्ययन करने के बाद हमें ज्ञात होता है कि ग्रीन सम्पत्ति विषयक अपनी धारणा में वास्तव में उदार था।

15.4 हीगल और ग्रीन के विचारों का एक तुलनात्मक अध्ययन

ग्रीन एक ऐसा आदर्शवादी है जो एक ओर हीगल के अनेक आदर्शवादी विचारों को स्वीकार करता है किन्तु दूसरी ओर वह उग्र व्यक्तिवाद का प्रतिपादन करता है। ग्रीन के विचारों में निम्नलिखित हीगलवादी तत्व पाये जाते है।

1.ग्रीन हीगल की 'दैविक आत्मा' अथवा विवेक की इस धारणा को स्वीकार करता है। हीगल की भाँति ग्रीन भी यह मानता है कि सृष्टि में 'ईश्वरीय आत्मा' की लीला है जो अपनी पूर्णता के लक्ष्य की ओर निरन्तर है। हीगल की भाँति ग्रीन भी स्वीकार करता है कि मानवीय समाज की संस्थाएँ उत्तरोत्तर शाश्वत चेतनशीलता को अभिव्यक्ति करती हुई तब तक आगे बढ़ती है जब तक वह चेतना अपनी पूर्णता को प्राप्त नहीं कर लेती मनुष्य से कुटुम्ब, कुटुम्ब से समाज और समाज से राज्य वह शाश्वत चेतनशीलता का उत्तरोत्तर विकास है।

2.राज्य की धारणा के सम्बन्ध में भी ग्रीन के विचार हीगलवाद का ही अनुसरण करते है। वह राज्य को कोई आवश्यक बुराई नहीं अपितु व्यक्ति के नैतिक जीवन की पूर्ति करने वाली सस्था मानता है। जिस तरह हीगल राज्य को दैविक विचार मानता है, ग्रीन भी राज्य को ईश्वरीय विचार का प्रकटीकरण कहता है। दैविक संस्था से अलग राज्य समाज की सर्वश्रेष्ठ संस्था है जिससे व्यक्ति के अधिकारों का उदभव होता है, यह विचार दोनों के विचारों से मेल खाता है।

3.स्वतन्त्रता की धारणा के सम्बन्ध में भी ग्रीन हीगल के विचारों से प्रभावित होता है। हीगल के अनुसार, जब व्यक्ति अपना तादातम्य राज्य के कानूनों के साथ कर लेता है, मनमौजी तरीके से व्यवहार न करके विश्वात्मा के प्रतीक राज्य कानूनों का पालन करता है यही सच्ची स्वतन्त्रता है। ग्रीन मानता है कि स्वतन्त्रता नैतिक दृष्टि से करने योग्य कार्यो की सकारात्मक शक्ति है जिसे व्यक्ति समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ भोगता है। ग्रीन का विचार भी स्वतन्त्रता 'सामाजिक हित' की तथा व्यक्ति के नैतिक उत्थान की भावना के साथ जुड़ी हुई है ऐसा मानता है।

4.समाज की धारणा में ग्रीन और हीगल के विचारों में समानताएँ पायी जाती है। हीगल की तरह ग्रीन भी समाज की समुदायों का समुदाय मानता है। अनेक समुदायों से समाज बनता है और समाज में भाग लेकर व्यक्ति सामाजिक हित को अपना अनुदान देता है। और स्वंय को वह नैतिक जीवन की अनुभूति करता है। हीगल और ग्रीन के विचारों गहराई से अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि ग्रीन और हीगल में विचारों में विश्वात्मा राज्य, स्वतन्त्रता और समाज जैसी धारणाओं के सम्बन्ध में एक समान मान्यताएँ है।

अभ्यास प्रश्न

1.किसने इच्छा के दो रुप माने है 1. वास्तविक इच्छा 2. यथार्थ इच्छा ?

2.सामान्य इच्छा की धारणा के सम्बन्ध में ग्रीन किससे प्रभावित है ? से बहुत प्रभावित है

3 कौन मानता है कि राज्य व्यक्ति की सदइच्छा पर आधारित है शक्ति पर नहीं ?

4.किसने राज्य के कार्य नकारात्मक और सकारात्मक दो वर्गों में विभाजित किया है ?

5. ग्रीन को एक 'उच्च आदर्शवादी' के साथ उसे एक 'गंभीर यथार्थवादी' किसने बताया है।

15.5 सारांश

उपरोक्त अध्ययन में हमने हीगल और ग्रीन के चिंतन के विविध पक्षों का अध्ययन किया है |जिसके आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे है कि विभिन्न त्रुटियों और दुर्बलताओं के बावजूद हीगल की युग परिवर्तनकारी विचारधारा का अग्रलिखित कारणों से विशेष महत्व है। हीगल ने राजनीति तथा नीतिशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्धों को हीगल ने सर्वाधिक स्पष्ट एवं सूक्ष्म रुप से समझा था। हीगल ने अपने दर्शन में इस बात पर विशेष जोर दिया कि राज्य व्यक्ति की उन्नति के लिए अनिवार्य है तथा व्यक्ति राज्य का एक अविभाज्य अंग है। यही नहीं हीगल पहला विचारक था जिसने इतिहासिक प्रणाली को समझा तथा अपने सिद्धान्त में प्रयोग किया। हीगल को वैज्ञानिकता का प्रतिपादक भी माना जाता है। हीगल ने अपने दर्शन में इस अत्यन्त वैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि विवेक द्वारा प्रगति होती है। हीगल ने व्यक्ति की आत्म चेतना पर समाज की प्रेरणामूलक बुद्धि के कारण को समझने और स्वीकार करने का बहुमूल्य प्रयास किया है। हीगल व्यक्तिवाद के विरोध में है वह मानता है कि व्यक्तिवाद मनुष्य के सामाजिक चरित्र का परित्याग करता है। हीगल सन्तुलनवादी है। वह यह भी प्रतिपादित करता है कि मनुष्य समाज के लिए कितना प्रभावित रहता है। हीगल ने स्वतन्त्रता पर बहुत बल दिया है। वह स्वतंन्त्रता को व्यक्ति के जीवन का सार मानते हुए कहता है। "स्वाधीनता मनुष्य का एक विशिष्ट गुण है जिसे अस्वीकार करना उसकी मनुष्यता को अस्वीकार करता है।

इसी क्रम में हम ग्रीन के चिंतन के विविध पक्षों का अध्ययन कर इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि ग्रीन राज्य को नैसर्गिक एवं नैतिक जीवन की आवश्यक संस्था मानते हुए भी उसकी शक्तियों के दायरे को सीमित करता है। वह राज्य को आन्तरिक एवं बाह्य क्षेत्र में नियंत्रित रखने का समर्थन करता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि ग्रीन राज्य कर निरंकुशता का समर्थन नहीं करता है। ग्रीन मानता है कि व्यक्ति के विकास के लिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं उसके अधिकार पूर्ण रुप मिलने चाहिए। वह राज्य के विशेष कार्यो में बाधाओं को दूर करने के उद्देश्य तक सीमित रखता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि ग्रीन राज्य के नैतिक महत्व को स्वीकार करते हुए भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता का बलिदान नहीं करता। उसके राजनीतिक दर्शन का सार सीमित शक्तियों वाला राज्य है जिसमें व्यक्ति की स्वतन्त्र इच्छा के स्वतन्त्र विकास का समर्थन है। ग्रीन के आदर्शवाद के प्रेरणा स्रोत अरस्तु और कॉष्ट है। ग्रीन के विचारों का महत्व इस बात में है कि उसने राज्य की सत्ता को सीमित कर व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन किया है। इस प्रकार ग्रीन ने आदर्शवाद को उदारवादी स्वरुप प्रदान किया है।

15.6 शब्दावली

1.बुर्जुवा समाजः- पूंजीवाद के अन्तर्गत बड़े बडे पूंजीपतियों का वह वर्ग जो सामाजिक उत्पादन के प्रमुख साधनों (भूमि, कारीखानों, कच्चेमाल के स्रोतो) पर अपना स्वामित्व और नियन्त्रण स्थापित कर लेता है।

2.संवैधानिक राजतन्त्र:- ऐसी शासन प्रणाली जिसमें राजा या सम्राट नाममात्र को राज्य का अध्यक्ष होता है और शासन की वास्तविक शक्तियां लोकप्रिय संस्थाओं जैसे कि संसद मंत्रिमण्डल, तथा अन्य ऐसे अंगो में निहित होती है जिनकी व्यवस्था संविधान में की जाती है।

3.कुलीनतन्त्र:- ऐसी व्यवस्था जिसमें एक छोटा सा गुट या समूह किसी संगठन की सम्पूर्ण सत्ता पर अपना नियत्रंण स्थापित करके स्वार्थ- पूर्ति के लिए उसका उपयोग करता है।

4.सिविल समाज:- सामाजिक जीवन में राज्य औा विस्तृत परिवार की मध्यवर्ती संस्थाओं का समुच्चय। जैसे कि धार्मिक संगठन, शिक्षा संस्थाऐं मनोरंजन क्लब तथा अनेक स्वैच्छिक साहचर्य।

5.सर्वाधिकारवाद:- वह सिद्धान्त जो राज्य की सारी शक्ति को एक ही जगह केन्द्रित करने, और लोगों के सम्पूर्ण जीवन पर पूर्ण या लगभग पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करने का समर्थन करता है।

6.राज्य का सावयव सिद्धान्त:- राजनीति का वह सिद्धान्त जिसमें राज्य और व्यक्ति का सम्बन्ध निर्धारित करने के लिए जीवित प्राणी के दृष्टांत का प्रयोग किया जाता है। इसके अनुसार राज्य एक सम्पूर्ण शरीर के समान है।

7.अन्तर्राष्ट्रीयवाद:- यह मान्यता कि विश्व शान्ति तभी स्थापित हो सकती है जब समस्त राष्ट्र अपने अपने राष्ट्रीय चरित्र का त्याग किए बिना अन्तर्राष्टीय न्याय और सहयोग की सिद्धि के लिए समानता के आधार पर एक मैत्रीपूर्ण संघ के रुप में संगठित हो जाये।

8.संप्रभुता - राज्य की सत्ता का सबसे बुनियादी आधार संप्रभुता के बल पर ही कोई राज्य ऐसे कानून और आदेश जारी कर सकता है जो इसके कार्यक्षेत्र में अनिवार्य रुप से लागू होते है। संसाधनों का आवंटन कानून या आदेशों का उल्लंघन करने वालो को दंण्ड, सन्धियाँ करना आदि कर सकता है।

9.उदारवादी:- उदारवादी राजनीति का वह सिद्धान्त है जो सामन्तवाद के पतन के बाद राजनीति को बाजार अर्थव्यवस्था के अनुरुप मोड़ देने के लिए अस्तित्व में आया।

10.व्यक्तिवाद:- वह राजनीतिक सिद्धान्त जो व्यक्ति, अर्थात प्रत्येक मनुष्य को विवेकशील प्राणी मानते हुए यह मांग करता है कि सार्वजनिक नीति और नियमों का निमार्ण करते समय व्यक्ति की गरिमा, उसके स्वाधीन अस्तित्व को पूरी मान्यता दी जानी चाहिए।

11.परिवर्तनवादी:- वह व्यक्ति या समूह जो वर्तमान व्यवस्था को अनुपयुक्त भृष्ट या गई बीती मानता है और उसमें तत्काल आमूलचूल परिवर्तन मांग करता है।

15.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ग्रीन 2. हॉब्स, लॉक तथा रुसो 3. .ग्रीन 4. .ग्रीन 5. प्रो0 बार्मर

15.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.राजनीतिक चिंतन की रूपरेखा - ओ0पी0 गाबा-मयूर पेपर बैक्स, प्रथम संस्करण-1996

2.आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास, चतुर्थ भाग-ज्योति प्रसाद सूद- के0 नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ, 1994-95

3.राजनीति कोश- डॉ0 सुभाष कश्यप, विश्व प्रकाश गुप्त, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण-1998

4.राजनीति सिद्धांत की रूपरेखा- ओ0पी0 गाबा-मयूर पेपर बैक्स, पंचम संस्करण-2001

5.राजनीति विज्ञान विश्वकोश- ओ0पी0 गाबा- नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1998

6.पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन – पी.डी. शर्मा

15.9 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन- जीवन मेहता

15.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.हीगल की द्वंद्वात्मक पद्धति की विवेचना कीजिये |

2. हीगल के अनुसार क़ानून और अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की व्याख्या कीजिये |

3.ग्रीन के अनुसार –राज्य का आधार इच्छा है न कि शक्ति | व्याख्या कीजिये |

इकाई : 16 जरमी बेन्थम(1748-1832), जे. एस. मिल(1806-1873)

इकाई की संरचना

16.1 प्रस्तावना
16.2 उद्देश्य
16.3 जरमी बेंथम
16.3.1 बेंथम का सुखवाद
16.3.2 राज्य संबंधी विचार
16.3.3 मूल्यांकन
16.4 जे. एस. मिल
16.4 .1 उपयोगितावाद में संशोधन
16.4 .2 स्वतंत्रता संबंधी विचार
16.4 .3 राज्य के कार्य
16.4 .4 प्रतिनिधि सरकार
16.4 . 5 मिल अनिच्छुक लोकतन्त्रवादी
16.5 सारांश
16.6 शब्दावली
16.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
16.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
16.9 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री
16.10 निबंधात्मक प्रश्न

16.1प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई १५ में हमने हीगल और ग्रीन के राजनीतिक विचारों के साथ ही साथ चिंतन के अन्य पक्षों का भी अध्ययन किया है जिसमे विशेष रूप से हीगल के आत्म तत्व का सिद्धान्त,द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त ,राज्य सिद्धान्त ,राष्ट्रीय राज्य अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और युद्ध ,दण्ड तथा सत्पत्ति तथा संविधान संबंधी दृष्टि का विशेश रूप से अध्ययन किया है |इसके साथ ही ग्रीन का आध्यात्मिक सिद्धान्त, स्वतन्त्रता,अधिकार सम्बन्धी धारणा ,प्राकृतिक कानून और सामान्य इच्छा पर ग्रीन के विचार और अंतत राज्य के कार्यो तथा राज्य और व्यक्ति के मध्य सम्बन्ध का विशेष रूप से अध्ययन किया है |जिसमें यह पाया है कि उक्त चिंतकों ने राज्य को एक कृत्रिम संस्था के रूप में मान्यता दिलाने में महती भूमिका अदा की है|

अब हम इस इकाई १६ में १९ वीं शदी के उपयोगितावादी विचारक बेंथम और जान स्टुअर्ट मिल के बारे में अध्ययन करेंगे |जिसमें हम दोनों विचारकों के चिंतन का अध्ययन हम समग्रता में करेगे और देखेंगे कि किस प्रकार से बेंथम और जान स्टुअर्ट मिल राज्य को जनमानस के हित का साधन माना है| यद्यपि दोनों के द्वारा व्यक्ति की आवश्यकताओं और इच्छाओं को लेकर मतभेद भी है| परन्तु एक बात में मतैक्य है कि राज्य एक कृत्रिम संस्था है जिसका कार्य जनमानस के हित की सिद्धि है|

16.2उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम -

1.बेंथम के उपयोगितावाद के बारे में जान सकेंगे|

2.यह भी जान सन सकेंगे कि राज्य किस प्रकार से कृत्रिम संस्था है ,जो जनता के हित का साधन है|

3.यह भी जान सकेंगे कि मिल ने किस प्रकार से बेंथम के उपयोगितावाद में संशोधन किया है|

4.मिल के स्वतंत्रता संबंधी विचार और प्रतिनिधि शासन के बारे में भी जान और समझ सकेंगे |

16.3 जरमी बेंथम (1748-1832)

बेन्थम ब्रिटेन में उपयोगितावाद के प्रवर्तक बने। उन्होने प्राचीन यूनानी दार्शनिक एपीक्यूरस की बातों को 18 वीं 19 वीं शदी में नए रुप में पेश कर आधुनिक उपयोगितावाद की नीव डाली। 19 वीं शदी की प्रचलित दार्शनिक मान्यताओं से यह सिद्धान्त इतना अलग हो गया कि इसे दार्शनिक उग्रवाद तक की संज्ञा दे दी गई पर इसी उपयोगितावाद ने अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की अवधारणा के द्वारा एक ऐसे राज्य की नींव डाली जिसे 20 वीं शदी में आकर कल्याणकारी राज्य कहा गया।

16.3.1 बेंथम का सुखवाद

बेन्थम का जन्म इंग्लैड के एक सम्पन्न परिवार में हुआ था। पढ़ाई पूरा कर वह विधिशास्त्री बन गया। उसने उस युग में न्यायिक सुधार योजनाओं का समर्थन किया तथा न्यायिक सुधार के माध्यम से समाज में बदलाव लाने का प्रयत्न किया। अपने जीवन काल में एक प्रबल जनतंत्री जेम्स मिल से बेन्थम की मित्रता हो गई जिसके प्रभाव से बेन्थम राजनैतिक सुधारों का भी प्रबल समर्थक बन गया। अपनी पुस्तक Introduction to the Principles of morals and legislation में उसने मनोवैज्ञानिक तर्को का सहारा लेकर एक नए न्यायदर्शन एवंम विधि निर्माण के लक्ष्य की स्थापना की। डेविड हयूम द्वारा अपनी पुस्तक "Treatise on human nature" में प्रतिपादित उपयोगिता की अवधारणा तथा प्रीस्टल द्वारा प्रतिपादित अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की अवधारणा से मेल कराकर उसने एक नए सुखवाद की रचना कर डाली।

हयूम ने संशयवाद की अपनी अवधारणा के आधार पर उपयोगिता में ही किसी वस्तु का औचित्य ढूँढ़ा था। इसी आधार पर बेथम ने घोषणा की कि उपयोगिता ही सुख की कसौटी है। सुख एवंम् दुःख मनुष्य एक इन्द्रिय परक प्राणी है, जो सुख पाना चाहता है एवंम् दुःख कम करना चाहता है। जो बात सुख को बढ़ाती है तथा दुःख कम करती है उसे उपयोगिता कहते है। बेथम का मानना है कि सुख एवम् दुःख आत्मपरक अनूभूति नही वरन् वस्तुपरक मानदण्ड है। इनकी प्रकृति परिमाणात्मक है, अर्थात दो सुखों में अंतर इनके गुण का नही होता बल्कि इनके परिणाम का होता है। सुख उत्कृष्ट या निकृष्ट नही होते, मात्र कम या अधिक होते है। बेथंम लिखता है यदि सुख की मात्रा बराबर हो तो कविता पाठ् एवम् कंचे के खेल में कोई अन्तर नहीं है।

बेन्थम का सुखवाद सुख एवम् दुःख का नैतिक आयाम प्रदान कर देता है। बेन्थम का कहना है के सुख ही नैतिक है। अतः हर वह कर्म जो सुख को बढ़ाती हो नैतिक है। अब प्रश्न यह उठता है, कि सुख एवंम् दुःख परिमाणात्मक है तो फिर इस परिमाण की गणना कैसे की जाए? बेन्थम ने इसके लिए एक सुखवादी गणना पद्धति का निर्माण किया है जिसके 7 आधार हैं-

तीब्रता , समयावधि, निश्चितता, निकटता, उर्वरता, शुद्धता, तथा विस्तार है। अब इन आधारों पर वह कार्य श्रेयस्कर है, जिसमें तीब्रता सुख मिले, अधिक समय तक सुख मिले, निश्चित सुख मिले तथा शीघ्र सुख मिले। उर्वरता का तात्पर्य एक ऐसे सुख से है जो आगे चलकर भी सुख दे। कुछ ऐसे कार्य होते है, जो सुख तो देते है, पर उनका परिणाम दुःखद होता है। ऐसे कार्य उचित नहीं है। शुद्धता का तात्पर्य ऐसे सुख से है, जो विशुद्ध हो अर्थात जिसमें दुःख की मिश्रित अनुभूति न हो। विस्तार का तात्पर्य ऐसे सुख से है, जो अधिक लोगों को सुख दे। इन आधारों पर

सुख की गणना करने के पश्चात बेन्थम कहता है, कि अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख ही सामाजिक लक्ष्य होना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि बेन्थम वैयक्तिक अभिरुचियों का ध्यान नही रखता है। वह यह मान लेता है कि अगर कोई एक कार्य सुखद है तो उससे सभी को सुख की प्राप्ति होगी। वह यह नही मानता कि एक ही कार्य अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग प्रभाव रख सकते है। इस प्रकार उसका सुखवाद नैतिक मान्यताओं को छिन्न-भिन्न कर देता है। इसी आधार पर कार्लाइव ने उपयोगितावाद को सुवरों का दर्शन तक कह डाला। उपयोगितावाद ने मनुष्य को एक ऐसा प्राणी मान लिया जो, जीवन पर्यन्त एद्रिक सुखों की तलाश में मारा-मारा फिरता है। सुखवाद की मनोवैज्ञानिक आधारों पर भी आलोचना की जाती है। मनोविज्ञान कहता है कि जब तक सुख के पीछे भागा जाए तब तक सुख की प्राप्ति नही हो सकती है। बेन्थन का मनुष्य तो जीवन पर्यन्त सुख के पीछे भागता रहता है। क्या वह ऐसे सुखी हो पायेगा।

16.3.2 राज्य संबंधी विचार

बेन्थम राज्य को कृत्रिम संस्था माना है। राज्य ऐसी संस्था है, जो व्यक्तियों के सुखों में अभिवृद्धि करती है। इसे लक्ष्य अधितम व्यक्तियों के अधिकतम सुखों को बढ़ावा देना है। दूसरे शब्दों में राज्य से सुखों में वृद्धि हो। अब अगर तात्कालिक परिस्थियों में राज्य के इस कार्य को देखा जाए तो हम पाते है कि स्वभावतः राज्य के कार्यों में वृद्धि होने लगती है। बेन्थम ने माना कि एक निरक्षर व्यक्ति की अपेक्षा साक्षर व्यक्ति के सुख पाने की सम्भावना बेहतर होती है। इस आधार उसने शिक्षा की व्यवस्था करने, का कार्य राज्यों को सौप दिया। इन्हीं आधारों पर बैन्थम ने न्यूनतम मजदूरी की व्यवस्था करने, रोजगार की गांरटी देने स्वास्थ सुविधाओं की व्यवस्था करने आदि का समर्थन किया। इस प्रकार बेथंम का राज्य सीमित राज्य नही रह गया उसके सिद्धातों में कल्याणकारी राज्य की झलक दिखाई देने लगी इस आधार पर हम मान सकते है कि कल्याणकारी कार्यो का समर्थन करने वाला पहला सिद्धांत बेथंम ही बना।

बेथंम अपने युग की दुविधा से पुर्णतः बाहर नहीं निकल सका। कल्याणकारिता की तमातम संभावनाओं के बावजूद बेथंम नकारात्मक वेदारवादी ही बना रहा। सकारात्मक उदारवाद स्वतंत्रता को आत्मोपलब्धि बताकर मनुष्य के चरित्रक विकास से राज्य को जोड़ देता है, पर बेथंम के राज्य का लोगों के नैतिक अथवा चरित्रक विकास से कोई मतलब नहीं हो बेथंम कहता है कि व्यक्ति के जीवन में शासन का हस्तक्षेप कम से कम हो क्योंकि व्यक्ति अपने भले बुरे को सबसे बेहतर समझता है। राज्य एक विधि निर्माता निकाय है। जनता से इसका सम्बन्ध केवल कानून द्वारा स्थापित होता है। यह दण्ड एवंम् पुरस्कार की व्यवस्था द्वारा लोगों को समाज विरोधी कार्य करने से रोकता है। राज्य का कार्य लोगों के अधिकार का निर्धारण करना है जिससे एक व्यक्ति की स्वतंत्रता दूसरे के लिए खतरा ल बन जाए। साईबाईन ने बेथ्ंम को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यदि एक व्यक्ति दूसरे की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करेगा तो वह दण्ड का भागी बनेगा। इसी दण्ड के भय से दूसरे व्यक्ति को पहले की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने से रोका जा सकता है। स्पष्टतः यह प्रतिबंधों के अभाव की अवधारणा से ही जुड़ा है, जो नकारात्मक उदारवाद की अवधारणा है। इसके साथ ही बेथंम ने नकारात्मक उदारवाद की पद्धित पर संपत्ति के अधिकार का समर्थन किया एवंम् आर्थिक असमानता का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया। बेथंम कहता है, कि अगर सभी आर्थिक रुप से समान हो जाएँ तो आर्थिक उत्पादन ठप हो जाएगा। मनुष्य काम करना नही चाहता, क्योंकि काम करना कष्ट देता है। अतः अगर भूख से मरने का डर तो लोग काम करना बंद कर देंगे सामाजिक उत्पादकता समाप्त

हो जाएगी। इस प्रकार बेथंम ने आर्थिक समानता का परित्याग कर दिया जो उसके सिद्धान्त का स्वभाविक निष्कर्ष था। अगर ह्रासमान उपयोगिता के नियम के आधार उपयोगिता को परखें तो हम पाते है, कि सामाजिक सम्पत्ति में हुई वृद्धि पहले गरीब को मिलनी चाहिए, क्योंकि इस संपत्ति से अमीर की अपेक्षा गरीब को अधिक खुशी मिलेगी। इस प्रकार अगर अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख के लक्ष्य के अनुसार राज्य सामाजिक लाभ का बँटवारा करने, लगे, तो निम्न स्थितिवाले को अधिक लाभ मिलेगा और समानता अपने आप स्थापित हो जाएगी। पर बेथंम ने जैसा कि C.B. Mc.Pherson ने कहा है, पूँजीवाद के लाभ के लिए समानता की अवधारणा का त्याग कर दिया। अतः बेथंम तथा J.S. Mill भी, जिसमें कल्याणकारिता बेथंम से अधिक है, नकारात्मक उदारवाद को पूर्णतः नहीं छोड़ सका। J.S. Mill एक ऐसा सिद्धांतकार बन गया, जो नकारात्मक एवंम् सकारात्मक उदारवाद के बीच स्थित है।

जहाँ तक राजनीति की बात है, बेथंम ने समानता के सिद्धांत को कुछ हद तक स्वीकार भी किया। शासन पद्धति की बात करते हुए बेथंम ने लोकतंन्त्र का समर्थन किया। बेथंम कहता है कि स्वशासन दूसरे द्वारा शासन से बेहतर हैं यह शासन जिसमें सासिता का शासन में हिस्सा हो, लोकतन्त्र ही हो सकता है। इस लोकतन्त्र में भी बेथंम ने व्यस्क मताधिकार का समर्थन किया। उदारवादी मान्यता के अनुसार बेथंम मनुष्य को विकशील प्राणी मानता था तथा सभी सुख दुःख से ही परिचालित होते थें अतः बेथंम ने कहा कि प्रत्येक को एक गिना जाए तथा किसी को भी एक अधिक न गिना जाए। बेथंम ने एक व्यक्ति एक मत का समर्थन किया। स्पष्टतः समानता को बेथंम ने राजनैतिक क्षेत्र में तो सही माना पर आर्थिक क्षेत्र में नहीं बेथंम ने कहा भी समानता राजनैतिक शुभ है।

लोकतन्त्र को मजबूत बनाने के लिए ही बेथंम ने लार्ड सभा के समाप्ति की मात्रा को तथा संसद के वार्षिक चुनाव का समर्थन किया। वस्तुतः 19वीं शदी के ब्रिटेन के राजनैतिक पर बेथंम का महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है। उसने ऐसे सुधारों का भी समर्थन किया जिसके लिए आज का ब्रिटेन भी तैयार नहं हो सका है बेथंम ने राजतन्त्र को समाप्त कर गणतन्त्रात्मक व्यवस्था के स्थापना की माँग की जिसे आज भी स्वीकार नही किया जा सका है। जैसा कि हम देख चुके है, बेथंम ने कानून के आधार पर ही राज्य और व्यक्ति का संबंध निर्धारित किया। वह विधि अधिकारों को ही मान्यता प्रदान करता है एवंम् टॉम पेंन जैरां लोगों द्वारा समथित प्राकृतिक अधिकार सिद्धान्त को नकार देता है। बेथंम कहता है कि प्राकृतिक अधिकार भ्रम है अथवा मानसिक प्रमाद है। फ्रांस में मनुष्य के अधिकारों की घोषणा ने उन हजारों में से एक व्यक्ति के प्राणों की रक्षा नहीं की जो क्रांतिकारी न्यायालय के सामने खीचकर लाए गए, न ही अमेरीका में इसने एक भी हब्शी को दासता के बन्धन से मुक्त किया।

बेथंम के उपयोगिता के संबन्ध में यह भी प्रश्न उठता है कि अगर हर मनुष्य व्यक्तिगत सुख और दुःख के आधार पर कार्य करें, तो सामाजिकता का निर्वाय किस प्रकार संभव होगा। इस वैयक्तिक सुख और अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख में टकराव भी तो संभव है? बेथंम ने नैतिक मानयताओं के अपने विचार द्वारा इस विवाद को दूर करने का प्रयास किया है। वह कहता है कि कुछ ऐसे सुख तथा दुःख होते है, जो व्यक्ति को दूसरों के सुख के लिए अपने निजी सुख का बलिदान करने के लिए प्रेरित करते है, बेथंम इन्हें नैतिक मान्यता कहता है। उसने ऐसी चार मान्यताओं की बात की है। भौतिक मान्यता, सार्वजनिक मान्यता, धार्मिक मान्यता एवंम् राजनैतिक मान्यता।

भौतिक मान्यता कहती है, कि हम किसी वस्तु का उतना ही प्रोग करे जिससे वह हमें अधिकतम सुख पहुंचाए। जरूरत से अधिक खाना हमारी सेहत को बिगाड़ सकता है, अथवा जरुरत से अधिक अधिक वस्त्र पहन लेना कष्टप्रद हो सकता है। अतः हम सीमित मात्रा में ही इन वस्तुओं का प्रयोग करते है। जिससे यह औरों को भी सुलभ

हो जाता है। सार्वजनिक मान्यता के कारण हम ऐसे कार्यो को पसन्द करते है, जिसके करने से हमें कीर्ति मिले अथवा यश प्राप्त हो तथा ऐसे कार्यो से बचते है, जिसमें निन्दा का भय हो। धार्मिक मान्यता भी हमें कुछ कार्यो को करने से मना करती है, तथा कुछ कार्यो के लिए प्रोत्साहित करती है। राजनैतिक मान्यता का तात्पर्य राज्य की मान्यता से है। राज्य कुछ कार्यो को पुरस्कृत करता है, तो कुछ कार्यो को दण्डित करता है। इन्ही मान्यताओं के कारण अधिकतम लोगों के अधिकतम सुख की प्राप्ति संभव हो पाती है, तथा सामाजिकता का निर्वहन संभव हो पाता है।

16.4 जे. एस. मिल

जान स्टुअर्ट मिल की पहचान ऐसे सिद्धान्तकार के रुप में होती है। जिसने उपयोगितावाद में सुधार करने के प्रयास में उसमें इतना बदलाव ला दिया कि मिल का उपयोगितावाद बेथंम के उपयोगितावाद का समर्थक नहीं बल्कि आलोचक बन जाता है। मिल को बेथंम तथा मिल ने उपयोगितावाद के समर्थक के रुप में तैयार किया। किन्तु धर्म एवं साहित्य के उसके अध्ययन ने मिल को नैतिक भावनाओं की तरफ मोड़ दिया। प्रतिबंधपूर्ण बचपन ने जे0 एस0 मिल को स्वतंत्रता के अकांक्षा की तरफ मोड़ दिया साथ ही अपने व्यक्तिगत जीवन पर लग रहे सामाजिक आक्षेपो ने मिल को इस विचार की तरफ मोड़ा कि सामाजिक रीतिरिवाज एवं जनमत व्यक्तिगत स्वतंत्रता को जितना नुकसान पहुँचाते है उतना तो राज्य के प्रतिबंध भी नही पहुँचते।

16.4 .1 उपयोगितावाद में संशोधन

उपयोगितावाद पर लागू रहे आक्षेपो का जवाब देने के लिए मिल ने उपयोगितावाद में सुधार लाना जरूरी माना। इसी सुधार को लाने के प्रयास में उसके विचार बेथंम से अलग होने लगते है। जहाँ बेथंम ने यह माना था कि सुखों या दुखों में सिर्फ परिणात्मक फर्क होता है वही मिल ने इनके बीच गुणात्मक अन्तर को भी स्वीकार किया।

मिल का कहना है कि कुछ सुख उत्कृष्ट होते है तथा कुछ निष्कृष्ट एवं सुखों को उससे ऊंचा स्थान दिया। एक सन्तुष्ट सुअर से असन्तुष्ट मनुष्य हर हाल में बेहतर है या एक असन्तुष्ट सुकरात सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा बेहतर है। मिल ने यह भी स्वीकार नहीं किया कि हम सिर्फ सुख या दुःख के आधार पर कार्य करते है। इस बिन्दु पर वह ईसाई नैतिकता की अवधारणा को स्वीकार करता है। वह ईसा मसीह की इस युक्ति का उदाहरण देता है कि दूसरों के साथ वही करना चाहिए जो व्यक्ति स्वंय के साथ चाहता है।

मिल ने यह भी कहा कि उत्कृष्ट सुख को प्राप्त करने के लिए उच्च चरित्र का होना जरूरी है। वह बेथंम की तरह इस बिन्दु पर सबको समान नही पाता एवं चरित्र विकास के लिए वह स्वतंत्रता को आवश्यक मानता है। एक स्वतंत्र मनुपथ ही चरित्र विकास के द्वारा उच्च चरित्र प्राप्त कर सकता है। इसी कारण मिल ने स्वतंत्रता को अपने आप में एक सुख मान लिया। वह कहता है कि जिसे एक बार स्वतन्त्रता का अनुभव हो जाता है वह किसी भी कीमत पर उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वतन्त्रता का अनुभव हो जाता है वह किसी भी कीमत पर उसे छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वतन्त्रता स्वंय में एक साध्य है एक सुख है।

व्यक्ति सुख एवं दुःख के बीच से सामूहिकता का मार्ग प्रशस्त करने के लिए बेथंम 4 मान्यताओं की बात करता है।

1- भौतिक मान्यता

2- सामाजिक मान्यता

3- धार्मिक मान्यता

4- राजनीतिक मान्यता

किन्तु जान स्टुअर्ट मिल इन्हे मानता है, एवं कहता है कि व्यक्ति वाह्य प्रतिबंधों के आधार पर कार्य करता है। उचित कार्य करने से व्यक्ति को आन्तरिक उल्लास एवं नही करने से आन्तरिक पीड़ा होती है। अपने कार्य में वह आत्मसम्मान की भावना महसूस करता है। उचित कार्य से उसे व्यक्तिगत गरिमा की प्राप्ति होती है।

16.4 .2 स्वतंत्रता संबंधी विचार

स्वतंत्रता को अपने आप में एक सुख मानने के कारण मिल ने विशेष रुप से इनकी चर्चा की है। वह दो आधारों पर इस स्वतंत्रता को देखता है।

1- विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता

2- कर्म की स्वतंत्रता

मिल का मानना है कि विचार एवं अभिव्यिक्ति के क्षेत्र में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए वह कहता है कि अपने शरीर एवं मस्तिष्क का व्यक्ति स्वयं स्वामी है। मिल कहता है। कि अगर सम्पूर्ण मानवता एक व्यक्ति को छोड़कर एक जैसा सोचे तो भी उस अकेले व्यक्ति की बात को नही दबाया जा सकता अगर उसकी बात सत्य है तो उसकी बात दबाकर हम सत्य से विमुख हो जाऐगें एवं अगर उसकी बात आंशिक सत्य है तो दोनों विचारों में वाद विवाद होने से सत्य का स्वरुप और निखरेगा सत्य और परिशुद्ध होगा। लेकिन यदि उसकी बात पूर्ण रुप से गलत हो तो भी उसकी बात को नहीं दबाया जाना चाहिए। क्योंकि असत्य के समक्ष सत्य और निखरता है। जहाँ तक कर्म के क्षेत्र में स्वतंत्रता का सवाल है मिल के इस स्तरपरक जिस अर्थ में वृद्धि के द्वारा समय समय पर राज्य को बदला है। वह कहता है कि इसी ऐतिहासिक अनुभव के आधार पर राज्य व व्यक्ति का सम्बन्ध देखा जा सकता है। इसी ऐतिहासिक अनुभव से राज्य के प्रति मनुष्य में विश्वास पनपता है, एवं यही विश्वास राज्य को चलाता है।

16.4 .3 राज्य के कार्य

उपयोगितावाद में यह माना गया कि चूंकि मनुष्य के सूखों में वृद्धि करना ही सामाजिक उद्देश्य है अतः राज्य को वही कार्य करना चाहिए जो मनुष्य के सुखों को बढ़ाए मिल भी राज्य के सकारात्मक कल्याणकारी कार्य का समर्थन करता है किन्तु वह इसके लिए अलग आधार लेता है वह कहता है कि चुकि एक उच्च चरित्र वाला ही उत्कृष्ट सुख का अनुभव कर सकता है अतः राज्य का कार्य है उन सभी कार्यो को करना जो मानव के चरित्र विकास की संभावनाओं को बढ़ाए तात्कालिक ब्रिटिश समाज को देखकर मिल यह पाता है कि भूमि उद्योग, एवं ज्ञान पर कुछ लोगों के नियन्त्रण ने बाकी लोगों को सम्मान पूर्ण जीवन से वंचित कर दिया है।

मिल का कहना है कि इस स्थिति से बाहर निकलने के लिए भूमि का परिसीमन होना चाहिए एवं इसे कर के दायरे में लाया जाना चाहिए उद्योग के क्षेत्र में वह न्यूनतम मजदूरी की व्यवस्था करने बालश्रम पर प्रतिबन्ध लगाने एवं काम के घण्टों को कम किए जाने की वकालत करना है। चरित्र विकास के लिए ज्ञान को आवश्यक मानते हुए मिल राज्य द्वारा निशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करने की भी बात करता है।

सम्पत्ति के अधिकार को भी सीमित करते हुए मिल उत्तराधिकार के नियमन इस पर करआरोपण एवं आरोही कर व्यवस्था की बात करता है।

राज्य द्वारा इन्ही प्रकार के कार्यो की बात करके जान स्टुअर्ट मिल ने एक निरकुंश एवं निष्पक्ष राज्य को मानव हित के लिए प्रतिबद्ध राज्य में बदल डाला। यही वे कारण है जिन्होने आगे चलकर कल्याणकारी राज्य की संकल्पना को जन्म दिया हाँलाकि राज्यद्वारा कल्याणकारी कार्यो के सम्पादन को स्वीकार करने वाला पहला सिद्धान्तकार बेन्थम था किन्तु तिल ने ही व्यवस्थित एवं प्रचारित किया।

16.4 .4 प्रतिनिधि सरकार

मिल ने अपनी पुस्तक Representative Government में बेथंम के इस बात को स्वीकार नही किया कि सबको समान मताधिकार मिलना चाहिए मिल का कहना है कि प्रत्येक को समान मानना अनूठे लोकतंत्र का आधार है सच्चे लोकतंत्र में योग्यता को उचित स्थान मिलना चाहिए। वह ऐसे लोगों को मताधिकार देने का विरोध करता है जो लिखना पढ़ना एवं सामान्य गणित भी नहीं जानते हो जिनके लिए मताधिकार स्वीकार करता है उन्हे भी वह बराबर नहीं मानता अधिक योग्य व्यक्ति को वह अधिक मत देता है 14 से लेकर 4 मत के आधार पर मिल पारित मतदान को स्वीकार करता है। तात्कालिक राजनीतिक व्यवस्था में अन्य सुधारों की मांग करते हुए मिल महिला मताधिकार का समर्थन करता है एवं अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए द्वितीय सदन अथवा उच्च सदन में अल्पसंख्यक प्रतिनिधित्व की बात करता है। मिल मतदान व्यवस्था के लिए अनुपातिक प्रतिनिधित्व को मान्यता देता है। इस आधार पर उसने हेयर प्रणाली का सर्मथन किया है। साथ ही मिल खुले मतदान का समर्थक है वह कहता है कि गुप्त मतदान में निन्दा का डर नहीं रहने से स्वार्थ पूर्ण मतदान की संभावना रहती है।

सरकार में मिल बहुमत के साथ साथ कार्यकुशलता का भी समावेश करना चाहता है। वह कहता है कि ससंद वाद विवाद का क्षेत्र होना चाहिए किन्तु वास्तविक या रोजमर्रा का प्रशासन नौकरशाही के जिम्मे होना चाहिए जो मन्त्रियों के नियनत्रण में कार्य करे इसी प्रकार के शासन में बहुमत एवं कार्य कुशलता दोनों का समावेश हो सकेगा।

16.4 .5 मिल अनिच्छुक लोकतन्त्रवादी

जे0 एस0 मिल के लोकतांत्रिक होने के सवाल पर लोगों ने विवाद उठाया | बेपर के अनुसार मिल अनिच्छुक लोकतन्त्रवादी है | इस सन्दर्भ में यह देखते है कि लोकतन्त्र को स्वीकार कर व्यक्ति के लिए मत प्रयोग एवं शासन में भागेदारी को उसके चरित्र विकास में आवश्यक बताकर मिल अपने लोकतन्त्रवादी होने का सबूत देता है वह कहता है कि मत प्रयोग करना को जिम्मेदार बनाता है यह इसका शैक्षणिक मुदा है राजनीतिक प्राणी के लिए उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार भौतिक प्राणियों के लिए श्वास लेना साथ ही मिल स्वतंत्रता का पूर्ण समर्थक है वह राज्य के कार्यो में जन लाभ का आधार दिखाकर भूमि के परिसीमन एवं आरोही कर व्याख्या को मान्यता देकर भी लोकतन्त्रवादी होने का सबूत देता है।महिला मताधिकार का समर्थक होना भी मिल के लोकतान्त्रिक होने का सबूत है।

किन्तु कुछ ऐसे बिन्दु भी है जो मिल के लोकतंत्र समर्थक होने पर संदेह उठाते है उसके द्वारा भारित मतदान का समर्थन किया जाना एवं पिछड़े राष्ट्रों के लिए लोकतंत्र को सही नही ठहराना इन बिन्दुओं में देखे जा सकते है। मिल का कहना है कि जो समाज समान वाद विवाद के आधार पर एक उचित बौद्धिक स्तर प्राप्त करले सिर्फ उन्हें ही स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। मिल मताधिकार के लिए सम्पत्ति को भी एक आधार मान लेता है मिल का कहना है कि जो स्वंय कर नही देते हो उन्हे अपने मत द्वारा दूसरों के पैसे से खिलवाड़ करने का हक नहीं दिया जाना चाहिए उपयुक्त समस्त तथ्य मिल के लोकतान्त्रिक होने पर संदेह व्यक्त करते है। किन्तु मिल के विचारों के मुल्यांकन का

आधार 19 वीं सदी के मध्य की स्थितियां ही है। लोकतन्त्र की 20 वीं एवं 21 वीं सदी की परिकल्पना को हम मिल पर नही लाद सकते कल्याणकारी राज्य का आधार देकर एवं व्यक्तिगत स्वतंत्रता को मान्यता देकर मिल लोकतन्त्रवादी बन जाता है।

1-मनुष्य के कार्यो को स्वपरक एवं अन्य परक कार्यो में विभाजित नही किया जा सकता मिल द्वारा ऐसा किया जाना सही नही माना जा सकता।

2-यह मान लेना कि एक व्यक्ति के इच्छा को व्यक्ति से ज्यादा भी कोई जानता है या जान सकता है एक गलत अवधारणा है। स्वतन्त्रता की यह अवधारणा बाध्यता की तरफ ले जाती है।

3-मिल अल्पसंख्यक समूह के लिए स्वतन्त्रता का पूर्ण समर्थक है, न सिर्फ मिल पूरी मानवता के समक्ष एक व्यक्ति की आवाज को अभिव्यक्ति देता है बल्कि अल्प संख्यक प्रतिनिधित्व सुनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए इन्हे उच्च सदन में स्थान भी देता है।

4-अनिच्छुक लोकतन्त्रवादी

5-मिल द्वारा उपयोगितावाद में लाया गया सुधार चाहे कितना ही सही क्यों न हो इसने उपयोगितावाद के स्वरुप को ही बदल डाला उपयोगिता वाद का समर्थन करने पर अपने प्रयोग में उपयोगितावाद ऐसी आलोचना कर डाली जो के आलोचको ने भी नही कि थी।

अभ्यास प्रश्न

1. कौन मिल को अनिच्छुक लोकतन्त्रवादी मानता है ?

2. Representative Government के लेखक कौन है ?

3 किसने यह माना कि सुखों या दुखों में सिर्फ परिणात्मक फर्क होता है

4. किसने यह माना कि सुखों या दुखों के बीच गुणात्मक अन्तर होता है।

5.बेन्थम का जन्म कहाँ हुआ था ?

6.बेन्थम राज्य को कृत्रिम संस्था माना है।सत्य/असत्य

7.Introduction to the Principles of morals and legislation

16.5 सारांश

बेथंम का सिद्धान्त 19वी सदी के प्रारम्भिक चरण में लोकतांत्रिक दबावों का प्रमुख माध्यम बनता है। बेंथम ने जब व्यस्क मताधिकार की बात की तब बहुत कम लोग इसके लिए तैयार थे। ब्रिटेन में तो अगले 100 वर्षो वर्षो तक इसे लागू करना संभव नही हो सका। इस दृष्टिकोण से बेंथम अपने समय से काफी आगे की सोच रखते थे। पर अपने समय के दबाओं से वे पूर्णत मुक्त भी नही हो सके। पूँजीवाद का उन्होने गैर तांत्रिक समर्थन करने का प्रयास किया। उपयोगितावाद नैतिक मान्यताओं पर सही नही ठहर सका। यह एक प्रकार के बहुमतवाद में बदल गया।

इसमें यह सम्भव था कि बहुमत के सुख के लिए अल्पमत का दमन किया जा सके। इसमें 5 के सुख के लिए 4 को साधन बनाना सम्भव था। अतः कान्तीवादी नैतिकता जिसके अनुसार व्यक्ति अपने आप में साध्य है इसे दूसरे के हित का साधन नही बनायाजा सकता के मापदण्ड पर वह सही नही उतरता। जॉन रॉल्स ने इसी आधार पर आलोचनावाद की आलोचना की है। बेंथम ने सुख और दुःख को पूर्णतः परिणात्मक बता दिया जिसकी उसके शिष्य निल तक ने आलोचना की। वह सुखी, खुशी, आनन्द आदि अनुभूतियों में भी अंतर नही कर सका पर बेंथम का योगदान को भी नकारा नही जा सकता। फ्रांस में जिन मूर्तियों की स्थापना के लिए क्रान्ति की आवश्यकता पड़ी उन्हे अगर ब्रिटेन में क्रमशः स्वीकार कर लिया गया तो इससे बेंथन जैसे सिद्धान्तकारी के महत्व को स्वीकार करना ही पड़ेगा। राज्य को मनुष्य के सुखों में अभिवृद्धि करने वाली संस्था बताकर बेंथन ने एक ऐसे नए मार्ग की खोज की, जिस पर-----चलकर राज्य कल्याणकारी राज्य में बदला। उपयोगितावाद स्वयं चाहे जितना सही या गलत हो परन्तु ब्रिटेन के राजनैतिक जीवन में इसकी उपयोगिता से इंकार नही किया जा सकता।

साथ ही यह भी जान सके है कि किस प्रकार से मिल ने ,बेंथम के उपयोगितावादी सिद्धांत में आमूलचूल परिवर्तन कर दिया है |जिसमें उन्होंने बेंथम के मात्रात्मक सुख के सिद्धांत का खंडन किया और बताया की मानव जीवन में महत्व मात्रात्मक सुख का नहीं है वरन गुणात्मक सुख का है | स्वतंत्रता को अपने आप में एक सुख मानने के कारण मिल ने विशेष रुप से इनकी चर्चा की है | और स्पष्ट किया है किस प्रकार से एक लोकतांत्रिक देश में स्वतंत्रता के अधिकार महत्वपूर्ण है | इसने स्वतंत्रता पर इतना बल दिया है कि मिल को उसके लिए विशेष रूप से जाना जाता है |

16.6 शब्दावली

उपयोगितावाद – इस शब्द का प्रयोग बेंथम और मिल ने राज्य की प्रकृति को स्पष्ट करने के लिए किये है |जिसके अनुसार राज्य एक कृत्रिम संस्था है | जिसका आधार यह है कि राज्य व्यक्ति लिए एक उपयोगी (साधन)संस्था है |

प्रतिनिधि सरकार – ऐसी सरकार जो जनता के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करती है |जिसके अस्तित्व का आधार जनता की सहमति होती है |

16.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. बेपर 2. मिल 3. .बेथंम 4. मिल.5. इंग्लैड 6. सत्य 7. पुस्तक

16.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.राजनीतिक चिंतन की रूपरेखा - ओ0पी0 गाबा-मयूर पेपर बैक्स, प्रथम संस्करण-1996

2.आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास, चतुर्थ भाग-ज्योति प्रसाद सूद- के0 नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ, 1994-95

3.राजनीति कोश- डॉ0 सुभाष कश्यप, विश्व प्रकाश गुप्त, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण-1998

4.राजनीति सिद्धांत की रूपरेखा- ओ0पी0 गाबा-मयूर पेपर बैक्स, पंचम संस्करण-2001

5.राजनीति विज्ञान विश्वकोश- ओ0पी0 गाबा- नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1998

16.9 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन – पी.डी. शर्मा

2.पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन – जीवन मेहता

16.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.बेंथम के उपयोग्तावादी सिद्धांत पर एक निबंध लिखिए|

2.जान स्टुअर्ट मिल के उपयोग्तावादी सिद्धांत की विवेचना कीजिये|

इकाई 17 : कार्ल मार्क्स

इकाई की संरचना

17.1 प्रस्तावना
17.2 उद्देश्य
17.3 जीवन परिचय
17.4 द्वंद्वात्मक भौतिकवाद
17.5 ऐतिहासिक भौतिकवाद
17.6 वर्ग संघर्ष
17.7 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत
17.8 युवा मार्क्स
17.9 सारांश
17.10 शब्दावली
17.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
17.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
17.13 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री
17.14 निबंधात्मक प्रश्न

17.1 प्रस्तावना

इसके पूर्व की इकाई में हम उपयोगितावादी विचारकों बेंथम और मिल के विचारों का अध्ययन कर चुके है |जिसमें हमें बेंथम ने उपयोगितावादी विचार में सुख की गडना मात्रात्मक आधार पर की है और राज्य का आधार उसकी आमजनमानस के लिए उसकी उपयोगिता बताया है | जान स्टुअर्ट मिल ने उपयोगितावाद में सुधार करने के प्रयास में उसमें इतना बदलाव ला दिया कि मिल का उपयोगितावाद बेथंम के उपयोगितावाद का समर्थक नहीं बल्कि आलोचक बन जाता है। मिल को बेथंम तथा मिल ने उपयोगितावाद के समर्थक के रुप में तैयार किया | मिल ने ,बेंथम द्वाराडी गई सुख की मात्रात्मक व्याख्या,को गुणात्मक व्याख्या की है |

इस इकाई में मार्क्स के राजनीतिक विचारों का विस्तार से अध्ययन करेंगे | इसमें हम द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत का भी अध्ययन करेंगे .जिसमें यह देखेंगे कि किस तरह से समाज के विकास का आधार भौतिक शक्तिया है |जिसमें उत्पादन संरचना ऐसी है कि उत्पादन के साधनों पर कुछ लोंगो का स्वामित्व स्थापित हो जाता है |जिससे समाज में वर्ग विभाजन स्पष्ट हो जाता है |और इसी पूजीवादी व्यस्था में ही इसके विनास के बीज निहित होते है |इसका भी अध्ययन इस इकाई में किया जाएगा |

17.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम मार्क्स के --

1. राजनीतिक विचारों के सम्बन्ध में विस्तार से जान सकेंगे |

2.द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत को समझ सकेंगे |

3.ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धांत को समझ सकेंगे |

4.अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत और वर्ग संघर्ष के बारे में जान सकेंगे |

5.यह भी जान सकेंगे कि वे कौन से कारक है जो अंततः सर्वाहार वर्ग को संगठित होकर क्रांति के लिए अग्रसर करते हैं |

17.3 जीवन परिचय

मार्क्स को एक ऐसे सिद्धांतकार के रुप में जान जाता है जिससे समाज विज्ञानों में आर्थिक व्याख्या के तत्व को शामिल कराया। राजनीति विज्ञान में मार्क्स साम्यवादी विचारधारा को लाया तथा सर्वहारा के अधिनायकतंत्र की स्थापना के लिए उसने क्रांति का समर्थन किया। मार्क्स का जन्म 1818 में प्रसा के एक यहूदी परिवार में हुआ। बाद में परिवार ने इसाई धर्म को अपना लिया तथा मार्क्स धर्म से विमुख होने लगा। 1935 में मार्क्स विधि की पढ़ाई करने वॉन विश्वविद्यालय पहुँचा, पर 1936 में वह बर्लिन पहुँच गया जहाँ पहुँचकर वह हीगल के प्रभाव में आ गया। अपनी शिक्षा के बाद उसने पत्रकार का पेशा अपनाया तथा पेरिस आ पहुँचा जहाँ उसकी मुलाकात उस युग के समाजवादी विचारको से हुई। इनमें कैबेट, प्रूदों तथा ऐंजल्स आदि का नाम महत्वपूर्ण है। 1844 में मार्क्स ने Economic and Philosophical manuscript लिखा किन्तु यह पुस्तक छिपी रही तथा 1930 के दशक में ही विश्व को इसका पता चल सका। फ्रांस की 1848 की क्रान्ति के बाद मार्क्स को ऐंजल्स के साथ मिलकर साम्यवादियों के लिए घोषणापत्र लिखने का कार्य दिया गया तथा इन्होने Communist Manifesto की रचना की। यही पुस्तक मार्क्स की ख्याति का आधार बनी। 1859 में मार्क्स ने Critic of Political Economy लिखा तथा 1868 में दास कैपिटल का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। 1883 में लंदन में मार्क्स की मृत्यु हो गई।

17.4 द्वंद्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्स का मूल सिद्धान्त द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का सिद्धांत है। मार्क्स ने द्वंद्ववाद का दृष्टिकोण हीगल से तथा भौतिकवाद का दृष्टिकोण फेयर बैक से ग्रहण किया है। इनही दोनों जर्मन विचारकों के प्रभाव को देखते हुए लेनिन के बाद में कहा कि मार्क्स पर जर्मन दर्शन का प्रभाव देखा जा सकता है। द्वंद्ववादी प्रक्रिया में यह माना जाता है कि अतं र्विरोध ही परिवर्तन का मूल कारण है। मार्क्स इस विचार को स्वीकार कर कहता है कि संघर्ष सभी परिवर्तनों के मूल में है। दूसरी और भौतिकवाद कहता है कि हमारे विचार भौतिक परिस्थितियों से निर्धारित होते है। मार्क्स इन दोनों विचारों अर्थात द्वन्द्ववाद एंव भौतिकवाद को मिला देता है। किन्तु इस परिवर्तन की पद्धति द्वन्द्वात्मक होती है। किसी भी समाज में भौतिकता आर्थिक ढ़ॉचे में निहित होती है जिसका निर्माण मनुष्य अपनी भौतिक जरूरतों की पूर्ति के लिए करता है। मनुष्य का उद्देश्य अपने भौतिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि होती है एवं इन्ही आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए समाज की आर्थिक प्रक्रिया समाज का आधारभूत ढांचा बनाती है। मार्क्स कहता है कि प्रत्येक सामाजिक संरचना में दो ढाँचे निहित होते है आधारभूत ढाँचा एवं उपरी ढाँचा। आधार का निर्माण आर्थिक प्रक्रिया से होता है एवं राजनैतिक विधिक वैचारिक एवं दार्शनिक व्यवस्थाएं ऊपरी ढाँचे में निहित होती है। भौतिकवादी दृष्टिकोण के आधार पर मार्क्स कहता है कि चूंकि भौतिकता आर्थिक प्रक्रिया में निहित होती है इसलिए आर्थिक प्रक्रिया का बदलाव ही सामाजिक बदलाव को निर्धारित करता है। एक समाज कि विचारधारा धर्म, राजनीति आदि वैसी ही होती है जैसी उस समाज की आर्थिक प्रक्रिया होती है। दूसरे शब्दों में जैसी उस एसमाज की उत्पादन रीति होती है वैसी ही समाज होता है। इन्हीं सन्दर्भो में मार्क्स ने कहा है कि राज्य की जड़ राजनीति में निहित न होकर आर्थिक प्रक्रिया में निहित होती है। हीगल के द्वन्द्वात्मक आदर्शवाद को भौतिकवादी आधार से जोड़ देने के कारण ही मार्क्स ने कहा कि हीगल सर के बल खड़ा था मैने उसे पॉव पर खड़ा कर दिया। यहाँ सर का तात्पर्य चेतना से एवं पैर का तात्पर्य भौतिकता से है।

समाज की आर्थिक प्रक्रिया का निर्धारण उत्पादन रीति से होता है। मार्क्स का कहना है कि उत्पादन रीति में होने वाला हर बदलाव समाज को विकास की ओर ले जाता है। समाज विकास के विभिन्न चरणों में आने वाले पड़ाव एक निश्चित उत्पादन रीति द्वारा ही निर्धारित होते है। मार्क्स कहता है कि हर आर्थिक सामाजिक संरचना एक निश्चित उत्पादन रीति पर आधारित होती है। यदि सामंतवाद कृषक उत्पादन रीति पर आधारित था, तो पूंजीवाद औद्योगिक उत्पादन रीति पर आधारित होती है। प्रत्येक उत्पादन रीति के दो मार्ग होते है- उत्पादन शक्ति तथा उत्पादन सम्बन्ध उत्पादन शक्ति के भी दो भाग होते है- उत्पादन के साधन तथा मानव शक्ति। उत्पादन के साधन के भी दो भाग होते है- श्रम का साधन तथा श्रम की वस्तु। श्रम की वस्तु वह है जिस पर श्रम आरोपित होता है तथा श्रम का साधन वह है जिसकी सहायता से हम श्रम आरोपित करते है। यदि इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को उदाहरणों से स्पष्ट किया जाये तो हम देखते है कि सामन्तवादी आर्थिक सामाजिक संरचना में कृषक उत्पादन पद्धति निहित होती है। यहाँ उत्पादन सम्बन्ध सामान्तों व कृषकों के बीच का सम्बन्ध है। मानव शक्ति का तात्पर्य कृषकों की उत्पादन शक्ति है। श्रम की वस्तु भूमि है तथा श्रम का साधन हल है। मार्क्स कहता है कि इसी आर्थिक प्रक्रिया के बदलाव से समाज आता है। आर्थिक प्रक्रिया का बदलाव अन्तर्विरोध के कारण है।

यह अन्तर्विराध उत्पादन शक्ति एवं उत्पादन सम्बन्ध के बीच होता है। उत्पादन शक्तियाँ विकसित होती रहती है पर उत्पादन सम्बन्ध नही बदलते, यही इस अन्तर्विराध का कारण है। उत्पादन सम्बन्ध का उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण होता है। उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण दो प्रकार से सम्भव है- निजी अथवा सामूहिक निजी नियन्त्रण की स्थिति में उत्पादन सम्बन्ध स्वार्थ पर आधारित होते है। मार्क्स कहता है कि हर वर्ग विभाजित समाज में दो मूल वर्ग होते है एक वह जिसका उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण होता है दूसरा वह जिसका उत्पादन के साधनों पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। इन वर्ग विभाजित समाजों में उत्पादन सम्बन्ध वर्ग हित में होते है। अर्थात इनमें उस वर्ग का हित होता है जिसका उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण होता है यह वर्ग उत्पादन सम्बन्ध को नहीं बदलने देना चाहता है। मार्क्स की परिकल्पना कहती है कि उत्पादक शक्तियों का विकास निरन्तर होता रहता है जबकि उत्पादन सम्बन्ध नही बदलते। उत्पादक शक्ति का हर बदलाव उत्पादन सम्बन्धों में बदलाव की अपेक्षा करता है, परन्तु जब उत्पादन सम्बन्ध नहीं बदलते तो उत्पादक शक्तियों एवं उत्पादन सम्बन्धों में तनाव बनने लगता है एवं उत्पादक शक्तियों का विकास अवरूद्ध होने लगता है।

परन्तु चुँकि उत्पादन शक्तियों का विकास होना ही है तो एक निश्चित अवस्था के बाद जब उत्पादक शक्ति और विकसित नहीं हो सकती, क्रांन्ति होती है तथा उत्पादक पद्धति बदल जाती है। इस नई उत्पादन पद्धति अथवा उत्पादन रीति में नये सम्बन्ध होते है एवं इन नये सम्बन्धों के तहत उत्पादक शक्तियों का विकास होने लगता है। लेकिन अगर उत्पादन सम्बन्ध अभी भी वर्ग हित में हो तो उत्पादक शक्तियों का विकास फिर अवरूद्ध होने लगता है एवं नए सिरे से क्रांन्ति होती है, नई उत्पादन रीति बनती है एवं उत्पादक शक्तियाँ बढ़ती रहती है। बदलाव की यह प्रक्रिया इन्हीं अन्तर्विरोधी के फलस्वरूप आगें बढ़ती जाती है। तबतक जब तक कि उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व स्थापित न हो जाए वर्ग विभाजन समाप्त न हो जाए एवं उत्पादक शक्तियों के विकास पर कोई प्रतिबन्ध न रहे। बदलाव की इस पद्धति में अन्तर्विरोधी में सामंजस्य एवं नए अन्तर्विरोधों का विकास अन्तर्निहित है। उत्पादन रीति में आने वाला वदलाव अगर वाद है तो उत्पादक शक्तियों एवं उत्पादन सम्बन्धों के बीच का तनाव प्रतिवाद है, नई आर्थिक सामाजिक संरचना का निर्माण संवाद है।

17.5 ऐतिहासिक भौतिकवाद

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की इसी पद्धति को जब मार्क्स ने इतिहास की व्याख्या के लिए प्रयोग किया तो ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धान्त सामने आया। ऐतिहासिक भौतिकवाद वस्तुतः इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का प्रयास है। मार्क्स कहता है कि इतिहास भौतिक आधारों और मूलतः उत्पादन रीति में आने वाले परिवर्तन से निर्धारित होता है। इतिहास का यह विकास एक निश्चित रेखा पर समान गति से न हो कर विभिन्न चरणों मे होता है। प्रत्येक चरण एक निश्चित सामाजिक आर्थिक संरचना से बनता है जिसका एक निश्चित उत्पादन रीति होती है। मार्क्स के अनुसार इतिहास में ऐसे पाँच चरण आते है। इनमें से चार चरणों से हम गुजर चुके है एवं पॉचवा भविष्य में सामने आएगा। प्रथम चार चरण

1. आदिम साम्यवाद

2. दासमूलक समाज

3.सामन्तवाद एवं

4. पूँजीवाद से बनते है।

पाँचवाँ चरण साम्यवाद का होगा किन्तु उसके पहले समाजवादी का एक मध्यवर्ती चरण आएगा जो पूँजीवाद से साम्यवाद में संक्रमण काल के दौर में दिखेगा।

प्रथम चरण जिसे मार्क्स आदिम साम्यवाद कहते है। एक वर्ग विहीन एवं राज्य विहीन स्थिति थी। उत्पादक शक्तियों का विकास काफी कम हुआ था, जिसके कारण उत्पादन, उपभोग से कम था। जो भी उत्पादित होता था वह उपभोग में आ जाता था, जिसके कारण किसी अधिशेष की उपस्थिति नही थी। अधिरोष न होने से निजी सम्पत्ति की अवधारणा भी नहीं थी। समाज में समानता थी एवं वर्ग का अस्तित्व नहीं था। वर्ग न होने से वर्ग शोषण के उपकरण की जरूरत भी नहीं थी, इस प्रकार राज्य भी अनुपस्थित था क्योंकि राज्य शोषण के उपकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पर उत्पादक शक्तियों का निरन्तर विकास हो रहा था। इसी विकास क्रम में एक ऐसी स्थिति आई जब उत्पादन ने उपभोग के स्तर को प्राप्त कर लिया। अब अधिशेष का बचना सम्भव हो गया। इससे समाज वर्गो में बटने लगा। सम्पत्तिवान वर्ग को अपनी संपित्त को बचाए रखने की चिंता थी अतः वर्ग शोषण के उपकरण राज्य का निर्माण किया गया।

इसी के साथ हम दासमूलक समाज में आ गए। यह समाज विकास की दूसरी अवस्था थी। इसमें वर्ग एवं राज्य दोनों का अस्तित्व था। उच्च्च वर्ग अर्थात दास स्वामियों ने दासों को नियन्त्रित का प्रयोग किया। मार्क्स कहता है कि आगे के समाज विकास के चरण भी वर्ग विभाजित थे। सामंतवाद में सामंत और कृषक तथा पूतीवाद में मजदूर समाज वर्ग के प्रमुख थे। मार्क्स कहता है कि पूँजीवाद का विकास स्वयं ही पूँजीवाद को विनाश की और ले जायेगा तथा क्रांति के पश्चात सर्वहारा अधिनायकतंत्र स्थापित होगा। अब समाज एक संक्रमण काल से गुजरेगा जिसे मार्क्स पूँजीवाद और साम्यवाद के बीच का मध्यवर्ती चरण बताता है तथा समाजवाद का नाम देता है। इसकी पहचान सर्वहारा के अधिनायकयंत्र के रूप में इसलिए है क्योकि यह भी एक शोषण परक व्यवस्था होगी। इसमें सर्वहारा अर्थात बहुसंख्यक, पूँजीपति अथवा अल्पसंख्यक का शोषण करेगा। इसका लक्ष्य शोषण को बनाए रखना नही

वरन इसे समाप्त करना होगा। इसमें सामाजिक वितरण प्रत्येक को उसकी योग्यता के अनुसार एवं प्रत्येक को उसके योग्यता के अनुसार होगा। इसमें पूँजीवादी प्रवृत्तियों को धीरे-धीरे समाप्त का दिये जायेगा तथा धीरे-धीरे वर्ग विभाजन समाप्त हो जायेगा।

यही साम्यवाद का चरण होगा जिसमें न तो वर्ग की उपस्थिति होगी न वर्ग शोषण के उपकरण राज्य की। यह धर्म विहीन राज्यविहीन स्थिति होगी। इसमें सामाजिक वितरण का आधार होगा प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार और प्रत्येक को उसकी आवश्यकता के अनुसार यहाँ वर्ग विरोध न होने के कारण उत्पादक शक्तियों को रोकने वाला उत्पादन संबंध नही होगा। उत्पादन के साधन सामूहिक स्वामित्व में होगे तथा संम्बन्ध समानता के होंगे अतः उत्पादक शक्तियों एवम् उत्पादन संबंधों में तनाव उत्पन्न नही हो पाएगा। उत्पादन शक्ति के विकास के कारण उत्पादन इतना बढ़ जाएगा कि सबके आवश्यकता की पूर्ति करना संभव हो जायेगा। मार्क्स का यह ऐतिहासिक भौतिकवाद अंततः नियतीवादी दृष्टिकोण बन जाता है। इसमें इतिहास की एक निश्चित रेखा निर्धारित कर दी गई है। हर समाज को इसी रेखा से होकर गुजरना है। मार्क्स कहता है कि एक विकसित राष्ट्र एक पिछड़े राष्ट्र को उसके भविष्य की तस्वीर दिखाता है। इसका यह तात्पर्य हुआ कि एक ही रेखा पर सभी बढ़ रहे है। कोई थोड़ा आगे है तो कोई थोड़ा पीछे। इस प्रकार का नियतिवादी दृष्टिकोण मानवीय प्रयास की संभावना को ब्यर्थ बना देता है। मानव समुदाय अपनी इच्छा एवंम् सोच से समाज के भविष्य का निर्धारण नही कर सकता है, पर मार्क्स के बाद के इतिहास को देखने पर हम पाते है कि ऐसा नही हुआ। रूस से सर्वहारा के अधिनायकतंत्र की स्थापना का प्रयास जरूर हुआ पर इससे राज्य के समाप्ति के प्रयास की झलक नही मिली एवम् साम्यवादी विचार को नकारकर लोकतंत्र की स्थापना की गई इसके अतिरिक्त साम्यवाद मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण पर भी सही नही ठहरता मानव मनोविज्ञान कहता है कि आवश्यकता को संतुष्टि संभव ही नही है।

17.6 वर्ग संघर्ष

मार्क्स कहता है कि अब तक का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। यह वर्ग संघर्ष इस कारण है कि वर्ग विभाजित समाज में शोषण अन्तर्निहित है। वर्ग का निर्धारण उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण से होता है जिनका उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण से होता है वे समाज में शक्तिशाली होते है। मार्क्स का मानना है कि हर सामाजिक आर्थिक संरचना में जिसकी एक निश्चित उत्पादन रीति होती है एवं जो वर्ग विभाजित होता है। दो मूलवर्ग होते है। एक वह जिसका उत्पादन के साधन पर नियन्त्रण है तथा दूसरे वे जिनका नियन्त्रण नही होता है। इन दो के अलावा और भी वर्ग उपस्थित हो सकते है परन्तु यही दो मूलवर्ग होते है। इनका सम्बन्ध संघर्ष पूर्ण सम्बन्ध होता है क्योंकि एक शोषित होता है और दूसरा शोषण करने वाला होता है। एक शोषण पर ही दूसरे का हित टिका होता है। इस कारण इन दोनों वर्गो में संघर्ष अन्तर्निहित होता है। हर वर्ग विभाजित समाज में यह संघर्ष देखा जा सकता है। दासों व दासस्वामियों, सामान्तों एवं कृषकों तथा मजदूरों एवं पूँजीपतियों में यह संघर्ष विद्यमान रहा है। इस संघर्ष के दो परिणाम संभव हैं या तो शोषित वर्ग की विजय होगी या दोनों वर्ग समाप्त हो जायेगे । शोषितों की विजय सम्भव नही क्योंकि ये अल्पसंख्यक है जीतना तो शोषितों को ही है। पर न तो दास जीत सके न कृषक पर सर्वहारा इस संघर्ष में विजय प्राप्त करेगा। दास मूलक समाज की समाप्ति पर न दास बचे न दास स्वामी एवं सामन्तवाद की समाप्ति पर सामन्त रहे न कृषक परन्तु पूंजीवाद की समाप्ति सर्वहारा की जीत के साथ होगी। ऐसा कारण होगा कि जहाँ दास एवं कृषक स्वंय में एक वर्ग थे वही सर्वहारा स्वंय के लिए एक वर्ग में बदल जाएगा।

स्वंय में एक वर्ग का तात्पर्य वर्ग चेतना की अनुपस्थिति से है। ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति अपनी वर्ग स्थिति को अपनी चेतना से नही जोड पाता और इस कारण वर्ग एकता का अभाव होता है। इस एकता के अभाव में वह अपनी निम्न एवं शोषित स्थिति का कारण नही समझ पाता। वह इन्हें व्यक्तिगत कारणों से जोडता है। सत्य का उसे पता नही होता। वह विचारधारा, धर्म आदि की मिथ्या चेतना से जुड़ा होता है। एकता की अनुपस्थिति ही उसे कमजोर बनाती है और इस कारण वर्ग संघर्ष में उसकी जीत की संभावना कम हो जाती है। ऐसा ही दासों एवं कृषकों के साथ हुआ परन्तु पूंजीवाद की स्थिति भिन्न है। इसने औद्योगीकरण को बढ़ावा दिया है। लाखों मजदूर एक साथ कार्य कर रहे है। इससे उन्हे एक दूसरे का आभास मिलता है। अपने शोषण एवं अपने सहयोगियो के शोषण की समानता को वह पहचान जाते है। वे एकताबद्ध होने लगते है और स्वंय में एक वर्ग से स्वंय के लिए एक वर्ग में बदल जाते है। अब उन्हें अपनी वर्ग स्थिति एवं अपने वर्ग की ऐतिहासिक भूमिका का अहसास हो जाता है। अपनी भूमिका की इसी स्वीकृति का परिणाम है क्रांन्ति के फलस्वरूप सर्वहारा अपना अधिनायकतन्त्र स्थापित करता है एवं उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व स्थापित कर दिया जाता है। इससे अधिशेष किसी एक वर्ग अथवा व्यक्ति के पास नही जाता। वर्ग विभाजन समाप्त होने लगता है और अन्ततः साम्यवाद में जाकर वर्ग की अवधारणा समाप्त हो जाती है। अन्तर मात्र इतना रहता है कि जहाँ आय दिन साम्यवाद मे उत्पादन शक्तियों के कम विकसित होने एवंम् प्राकृतिक बंधनों के मजबूत होने के कारण मानव जीवन पर अनेक बंधन होते है वही साम्यवाद में आकर मानव प्राकृतिक बंधनों से मुक्त हो जाता है। उसकी सभी आवश्यकताएँ संतुष्ट हो जाती है और वह विवशता के लोक से स्वतंत्रता के लोक में पहुँच जाता है। वह आत्मप्रेरित व्यवहार करने लगता है। इस प्रकार हम देखते है कि समाज का वर्ग विभाजन इतिहास के एक निश्चित दौर का यथार्थ है। वर्ग न तो हमेशा से थे न ही हमेशा रहेंगे। ये इतिहास की एक निश्चित अवस्था में उत्पन्न हुए तथा इतिहास की एक निश्चित अवस्था में जाकर समाप्त हो जाऐंगें। उत्पादक शक्तियों के विकास से जब उत्पादन उपभोग से अधिक हो गया तो इस अधिशेष ने वर्गो को उत्पन्न कर दिया एवमं जब उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व हो जायेगा तो वर्ग समाप्त हो जायेगें। पूर्ण समानता के इस समाज में ही वास्तविक स्वतन्त्रता निहित होगी।

वर्ग विभेद रहित समाज के इस स्वप्न ने पीढ़ियों तक लोगो को मार्क्सवादी विचार से जोड़ा है। पर यह दृष्टिकोण व्यवहारिक के पैमानो पर आलोचित भी होता रहा है। लोगों का कहना है कि हर समाज में श्रेणीक्रम निर्धारित हो जाते है। निश्चित रूप से यह माना जा सकता है कि वर्तमान समाज में सम्पत्ति असमानता का प्रमुख कारण है पर यह मानना मुश्किल है कि निजी सम्पत्ति की अनुपस्थिति वाले समाज में पूर्ण समानता आ जाएगी। इजराइल के किबुत्ज पर अध्ययन करने वाले लोगों ने भी कहा है कि पूर्ण समानता यहाँ भी नहीं है।

यहाँ मार्क्स ने जिस साम्यवादी स्थिति की बात की है उसमें राज्य को कोई अस्तित्व नहीं है। राज्य विषयक अपने दृष्टिकोण में मार्क्स ने कहा है कि आधुनिक राज्य शोषण के उपकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मार्क्स का कहना है कि राज्य का कार्यकारिणी पूजीपतियों की समिति मात्र है। मार्क्स के सहयोगी ऐजल्स ने अपनी पुस्तक 'Origin of Family, Private Property and State' में लिखा है कि राज्य समाज विकास में एक निश्चित अवस्था का उत्पाद है। यह अवस्था वस्तुतः आदिम साम्यवाद से दासमूलक समाज में संक्रमण की आवस्था है। इस संक्रमण काल में जब अधिशेष की उपस्थिति के कारण वर्ग विभाजन प्रकट हो गया तो सम्पत्तिवान वर्ग को अपने हितों को बनाए रखने की चिंता हुई इस चिंता ने वर्ग शोषण के एक उपकरण को जन्म दिया। राज्य यही वर्ग शोषण का उपकरण है। इसकी सहायता से अमीर वर्ग अपना हित साधता है दासमूलक समाज में इस राज्य ने दासों को नियन्त्रित रखने में दास मालिकों की मदद की। सामतवाद में इसी प्रकार इसने सामंतो का और पूँजी वाद में पूँजीपतियों का साथ दिया। इसने शोषण से लोगों का ध्यान हटाने के लिए सहमति का भ्रम पैदा किया। इसके लिए

इसने राष्ट्रवाद एवम् राष्ट्रीयता आदि विचारधाराओं का प्रयोग किया। मार्क्स का मानना है कि विचारधारा सत्य का अहसास नहीं होने देती, यह एक प्रकार की मिथ्या चेतना है। यहाँ विचारधारण एवंम सहमति आदि बातों से यह निष्कर्ष नही निकाल लेना चाहिए कि मार्क्स के अनुसार पूँजीपति वर्ग सहमति पैदा कर अपना हित साधता है। सहमति के आधार पर शोषण का दृष्टिकोण तो आगे चलकर ग्राम्शी ने दिया। मार्क्स तो बल प्रयोग पर ही अपनी आस्था रखता है। मार्क्स का मानना है कि राज्य अपनी शक्ति के द्वारा पूँजीपति वर्ग की मदद करता है। इसका कार्य उस शोषण परक अनुबन्ध को लागू करना है जो मजदूर को पूँजीपति का गुलाम बना देता है मार्क्स का मानना है कि जब क्रांन्ति के पश्चात सर्वहारा का अधिनायकतन्त्र स्थापित होता है तब भी राज्य की शोषण परक भूमिका बनी रहती है। अब वह मजदूरों के हित में पुँजीपतियों का शोषण करता है। इस चरण में उत्पादन के साधनों पर जिस सामाजिक स्वामित्व की बात होती है वह व्यवहारिक रुप में राज्य के स्वामित्व में ही रहता है। इस वस्तुतः मार्क्सवादी अवधारणा में राज्य की भूमिका तब तक बनी रहती है जब तक वर्ग विभाजन बना रहता है। इस अवधारणा के अनुसार जब साम्यवादी चरण में जाकर वर्ग विभेद समाप्त हो जाएगा तभी राज्य लुप्त हो जाएगा।

17.7 अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत

समाजिक परिवर्तन के माध्यम से साम्यवाद की स्थापना का प्राथमिक बिन्दु सर्वहारा क्रांन्ति है। मार्क्स कहता है। कि दुनिया के मजदूर एकजुट होकर पूँजीवाद का नाश करेगें किन्तु मार्क्स इसे मजदूरों की इच्छा पर नहीं छोड़ता वह इसे पूँजीवाद के विकास का स्वभाविक परिणाम बताता है। मार्क्स कहता है कि पूँजीवाद अपने ही अन्तर्विरोधों के तले टूटकर बिखर जाएगा। मार्क्सवादी विचार में पूँजीवाद की समाप्ति को शोषण की अनिवार्यता दिखाने का सिद्धांत अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत है। अतिरिक्त मूल्य का मार्क्स का यह सिद्धान्त रिकार्डो द्वारा प्रतिपादित मूल्य के श्रम सिद्धान्त से प्रभावित है। यदि किसी वस्तु के उत्पादन में 4 घंटे लगे तो इसकी कीमत उस वस्तु से दोगुनी होगी जिसके उत्पादन में 2 घंटे लगते है। मार्क्स का कहना है कि पूँजीवाद की प्रक्रिया में जो कुछ भी मूल्य उत्पादित होता है वह मजदूर के द्वारा होता है। किन्तु मजदूर जितना श्रम करता है उतना मूल्य नही प्राप्त करता। उसे जितने घंटे का वेतन मिलता है उसके अतिरिक्त भी कूछ कार्य करना पड़ता है। इसी अतिरिक्त समय में किए गये कार्य द्वारा दत्पादित मूल्य से पूँजीपति का लाभ निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए यदि मजदूर 10 घंटे कार्य करे तो उसे 7 धंटे का ही वेतन मिलता है। इस अतिरिक्त 3 धंटे में उत्पादित मूल्य को पूँजीपति अपने पास रख लेते है और यही उसका लाभ है। पूँजीपति का पूरा ढांचा और पूँजीपति का सम्पूर्ण लाभ इसी अतिरिक्त मूल्य के शोषण पर टिका हुआ है। इसमें मजदूर शोषित होता है क्योंकि वही मूल्य का उत्पादन करता है और पूँजीपति ही शोषक है क्योकि वह बिना किसी योगदान के लाभ प्राप्त करता है।

मार्क्स कहता है कि पूँजीपति में अन्तर्विरोध निहित होता है। पूँजीपति अधिक ये अधिक लाभ की आशा करता है। इसलिए वह जिस अतिरिक्त मूल्य का शोषण करता है उसका पुनः पूँजी के रूप में निवेश करता है। इसके द्वारा नये मजदूरों को काम पर लगाया जाता है जो और अधिक कार्य कर अधिक मूल्य एवं अन्ततः अधिक अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन करते है। इस प्रक्रिया में उत्पादन में वृद्धि होती है। दूसरी और पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ पूँजीपतियों के बीच प्रतिस्पर्धा भी बढ़ती जाती है। इस प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप पूँजीपति का लाभ घटता है क्योंकि प्रतिस्पर्धा का परिणाम कीमतों का कम होना है। लाभ के कम न होने देने के लिए मजदूरों का शोषण बढ़ा देते है। इससे मजदूरों की स्थिति खराब होती जाती है। समाज में वर्ग विभाजन भी स्पष्ट हो रहा होता है। अतः एक ऐसी स्थिति आती है जब अधिसंख्यक जनता मजदूर बन चुकी होती है। पूँजीपति अपना लाभ समाप्त नही कर सकता अतः स्वाभाविक रुप से मजदूर गरीब होते जाते है और मजदूरों की बढ़ती संख्या अन्ततः सम्पूर्ण समाज को गरीब

बना देती है। मार्क्स इसे सर्वहाराकरण की प्रक्रिया कहता है। पूँजीवाद प्रगति करते हुए अतिउत्पादन की स्थिति में पहुँच जाता है। इस स्थिति से उद्योग धन्धे होने लगते है क्योंकि और उत्पादन की जरूरत ही नहीं रह जाती अब मजदूर बेकार होने लगते ऐसी स्थिति में मजदूरों के पास क्रान्ति में अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता। इस प्रकार मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त के आधार पर यह दिखाने का प्रयास किया है कि पूँजीवाद का अन्त अवश्यम्भावी है। अतः मजदूर क्रांन्ति को सफल ही होना है। पूँजीपति अपना लाभ नही छोड़ सकता क्योंकि उत्पादन के साधन को खड़ा करने में उसकी पूँजी लगती है वह शोषण भी नहीं छोड़ सकता क्योंकि यही शोषण उसके लाभ का आधार है। मार्क्स यह बताना चाहता है कि मजदूर क्रांन्ति पूँजीवाद का ही परिणाम है न कि मजदूरों की इच्छा का पूँजीवाद के शोषण की इस अनिवार्यता का आधार उत्पादन के साधनों का निजी स्वामित्व है। इसी आधार पर मार्क्स यह कहता है कि साम्यवाद में शोषण को अनुपस्थिति होगी, क्योंकि उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व होगा।

मार्क्स पर फ्रांसीसी समाजवाद का प्रभाव जैसा कि लेनिन ने कहा है मार्क्स के विचारो पर प्रारंभिक फ्रांसीसी समाजवाद का प्रभाव भी देखा जा सकता है। फ्रांस में 1789 की क्रांन्ति के बाद से ही समाजवादी विचारों की उत्पत्ति होने लगी थी। फ्रांसीसी क्रांन्ति में स्वतन्त्रता समानता और बंधुत्व का नारा दिया गया था। पर जिस प्रकार युरोप में औद्योगिक क्रांन्ति को लागू किया गया उसने इन मांगो को शब्द मात्र बनाकर छोड़ दिया। औद्योगिक क्रांन्ति के साथ साथ वे सभी बुराइयाँ भी सामने आती गई जिन्हें इसके साथ जोड़ा जाता है। औद्योगीकरण ने अमीरों तथा गरीबों के बीच की खाई को बढ़ाया। इसी के विरूद्ध प्रतिक्रया स्वरूप समाजवादी विचारों का जन्म हुआ। मार्क्स पेरिस में अपने प्रवास के दौरान इन विचारों के संपर्क में आया। सेंट साईमन, चार्ल्स फूरिए तथा एटियाने कैबेट जैसे प्रारभिक समाजवादीयों तथा प्रूदों जैसे सामाजिक अराजकतावादियों के प्रभाव के कारण मार्क्स ने यह मानना शुरू कर दिया कि सामाजिक समस्याओं की वजह पूँजीवाद स्वंय है। पूँजीवाद में शोषण अतंर्निहित है। यूरोप के इन सामाजवादियों ने यह माना कि औद्योगिक समाज के आगमन से समाज में कई प्रकार की समस्याएँ सामने आई। सामाजिक समस्याओं को इस नजर से देखने की प्रेरणा मार्क्स ने उन्ही से पाई। हालॉकि मार्क्स ने उन लोगों की तरह यह नहीं माना कि पूँजीपतियों को प्रेरणा देकर पूँजीवाद की समस्या का समाधान हो सकता है। पर यह भी सच है कि उन्हीं की प्रेरणा से मार्क्स ने इन समस्याओं को पहचानना शुरू किया। यह अलग बात है कि मार्क्स ने समाधान अलग दिया। वर्ग की अवधारण भी मार्क्स ने इन्ही फ्रांसीसी समाजवादियों से प्राप्त की तथा सामाजिक समानता का विचार भी मार्क्स ने उन्ही से प्राप्त किया।

17.8 युवा मार्क्स

मार्क्स को विश्व ने 1848 में प्रकाशित कम्यूनिष्ट मेनिफेस्टों से जाना। वर्गक संघर्ष तथा सर्वहारा क्रान्ति के विचार ही मार्क्स की पहचान का आधार बने। हालाकि 1844 में ही मार्क्स ने एक पुस्तक के लेखन का प्रयास किया था पर यह पुस्तक छप नही पाई तथा 1920 के दशक तक विश्व को इस पुस्तक की जानकारी नहीं थी। यह मूलतः जर्मन भाषा में थी तथा 30 के दशक के प्रारंभ में इसे अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित किया गया तथा Economic and Philosophical Manuscript of 1844 नाम दिया गया। इस पुस्तक में दिए गए विचार Communist manifesto एंव बाद की पुस्तकों में दिए गये विचारों से काफी भिन्न थे। इस दौर में मार्क्स कुछ हद तक आदर्शवादी था। युवावस्था के कारण उसमें व्यवहारिक अनुभव की कुछ कमी थी। वह दर्शन तथा हीगल के विचारों से प्रभावित था। इस दौर के मार्क्स के विचारों को देखकर उसे क्रांन्तिकारी कहने की अपेक्षा मानवतावादी

कहना अधिक उचित होगा। यह मार्क्स उस मार्क्स से काफी भिन्न था जिसे अब तक विश्व ने जाना था अतः इसे तरूण मार्क्स का नाम दिया गया। तरूण मार्क्स मानव स्वतन्त्रता की बात करता है। यह महसूस करता है कि मनुष्य की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई किन्तु यह इसका कारण किसी वर्ग विभेद में नहीं ढुँढता। यह मानना है कि पूँजीवाद के कारण मनुष्य अलगाव की एक प्रक्रिया से गुजर रहा है तथा यह अलगाव ही मनुष्य की स्वतंत्रता का नाश करता है। अलगाव की यह प्रक्रिया चार स्तरों पर चलती है।

1. उत्पादन के स्तर पर

2. प्रकृति के स्तर पर

3. समाज के स्तर पर

4. स्वंय के स्तर पर

1. उत्पादन के स्तर पर मनुष्य का अलगाव उत्पादन प्रक्रिया से उसे अलग कर देता है। पूँजीवाद में उत्पादन केन्द्रीकृत होता है एवं श्रम का विभाजन कर दिया जाता हैं यहाँ उत्पादन कई लोगों के सम्मिलित प्रयास का परिणाम होता है। जबकि पूँजीवादी व्यवस्था के पहले की सहायता से करता था। तथा एक वस्तु का उत्पादन एक कामगार स्वंय एवं अपने परिवार के दूसरे सदस्यों की सहायता से करता था। उत्पादन की सम्पूर्णता से जुड़ा होने के कारण उसे रचनात्मक सन्तुष्टि मिलती थी किन्तु पूँजीवाद में श्रम विभाजन के कारण यह उत्पादित वस्तु का एक छोटा सा हिस्सा ही बना पाता है, अतः रचनात्मक सन्तुष्टि का अनुभव नहीं कर पाता। दूसरी ओर पूँजीवाद के पहले उत्पादन स्थानीय उपभोग के लिए होता था, अतः एक मजदूर उत्पादित वस्तु को अपने आस-पास ही पाता था लेकिन पूँजीवाद में उत्पादित वस्तु दूर दूर तक जाती है। इन सभी कारणों से मनुष्य उत्पादन प्रक्रिया और अपने उत्पाद से अलग हो जाता है।

2. प्रकृति के स्तर पर मार्क्स कहता है कि पूँजीवाद में मनुष्य एक कृत्रिम वातावरण में कार्य करता है। चार दीवारों और एक छत के नीचे कैद इस व्यक्ति को यह पता नही होता कि बाहर क्या हो रहा है। पूँजीवादी उत्पादन प्रक्रिया के पहले की स्थितियों में मनुष्य प्रकृति गोद में कार्य करता था। वह खुली हवा में सांस ले सकता था, वृक्षों की छांव में आराम कर सकता था। लेकिन पूँजीवाद ने उसे प्रकृति से अलग कर दिया।

3. समाज के स्तर पर मार्क्स कहता है कि पूँजीवाद प्रतिस्पर्धा पर टिका है। यहाँ एक कामगार दूसरे कामगार से प्रतिस्पर्धा करता है। पहले इनके बीच सहयोग था। सभी अपने समुदाय से जुडे थे। जब कोई एक व्यक्ति बीमार हो जाता था तो दूसरे उसकी मदद करते थे। पर पूँजीवाद में यदि एक मजदूर बीमार होता है तो दूसरा मजदूर उसकी मदद करने की जगह उसकी नौकरी छीनने में लग जाते है। इस प्रकार मनुष्य का स्वार्थ उसे समाज से अलग कर देता है।

4. स्वंय से अलगाव - मार्क्स कहता है कि उत्पादन प्रक्रिया समाज प्रकृति आदि से अलगाव के कारण मनुष्य के भीतर एक पाप बोध घर करने लगता है यह पाप बोध उसे अलगाव के उच्चतम स्तर तक ले जाता है और वह स्वंय से अलग हो जाता है।

तरूण मार्क्स की मुख्य समस्या मनुष्य का यही परायापन अथवा अलगाव है। किन्तु इस मार्क्स के पास इस समस्या का कोई समाधान नहीं है। वह कहता है कि प्रतिस्पर्धा को हटाकर सहयोग को अपनाया जाना चाहिए, कृत्रिमता को हटाकर प्राकृतिक वातावरण में लौटना चाहिए। किन्तु यह कैसे होगा यह स्पष्ट नहीं है। इन्हीं कारणों से तरूण मार्क्स आदर्शवादी प्रतीत होता है, किन्तु यह भी सच है कि बीसवीं सदी के मार्क्स वादियों को जिनमें नवमार्क्स वादियों का प्रमुख स्थान है, अगर मार्क्स की किसी एक पुस्तक ने सर्वाधिक प्रभावित किया तो वह यही पुस्तक है।

अभ्यास प्रश्न

1.फ्रांस में की क्रांन्ति किस सन में हुई ?

2.दुनिया के मजदूर एकजुट होकर किसने नारा दिया है ?

3. अब तक का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है किसने कहा है ?

4. मार्क्स की मृत्यु कहाँ हुई थी ?

5. मार्क्स को प्रसिद्धि दिलाने में किस पुस्तक का योगदान प्रमुख है ?

17.9 सारांश

उपरोक्त अध्ययन के उपरान्त हम यह समझ सकते है कि मार्क्स ऐसे सिद्धान्तकार के रूप में जाना जाता है जिसने समाज विज्ञानों में आर्थिक व्याख्या को महत्वपूर्ण स्थान दिलाया। इसके पहले सामाजिक व्याख्या के लिए धार्मिक, राजनीतिक, दार्शनिक आदि पद्धतियों का सहारा लिया जाता था। मार्क्स कहता है कि एक समाज वैसा ही होता है जैसी उसकी उत्पादन रीति होती है। यह जरूर कहा जाता है कि आर्थिक तत्वों पर हद से अधिक बल देकर मार्क्स का सिद्धान्त एक पक्षीय हो जाता है किन्तु इस तथ्य को भी स्वीकार किया जाना चाहिए, कि विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं में आर्थिक प्रक्रिया का भी महत्वपूर्ण स्थान है और इसे महत्वपूर्ण बनाकर मार्क्स ने सामाजिक व्यवस्था की व्याख्या को समुन्नत ही बनाया है। दूसरी और मार्क्स पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद का उसका सिद्धान्त नियतिवाद को बढ़ावा देता है एवं मानव चेतना तथा मानव इच्छा के महत्व को शून्य कर देता है। कुछ हद तक मार्क्स में नियतिवाद का आभाष मिलता है इसे माना जाना चाहिए, किन्तु दूसरी और समतामूलक समाज की स्थापना एवं शोषण रहित समाज का स्वप्न देकर मार्क्स ने मानवतावाद को बढ़ावा ही दिया विशेष रुप से युवा मार्क्स के विचारों में इस मानवतावादी दृष्टिकोण को स्पष्ट रुप से देखा जा सकता है।

मार्क्स ने आने वाले समाज के सन्दर्भ में जो अपेक्षाएं रखीं थी, उसे इतिहास ने गलत सिद्ध कर दिया। मार्क्स के अनुसार क्रांन्ति ब्रिटेन में होनी थी किन्तु रूस में जाकर हुयी। चीन में तो क्रांन्ति की तो कोई सम्भावना ही नहीं थी, जबकि ऐसा हुआ। माओं ने एक कृषक समाज में क्रांन्ति की संभावना को सच कर दिखाया। अतः भविष्य के सन्दर्भ में मार्क्स के अनुमान गलत ही सिद्ध हुए। मार्क्स ने यह भी कहा था कि लोकतान्त्रिक माध्यम से समाज में बदलाव नही लाए जा सकते किन्तु 20वीं सदी में लोकतन्त्र की सर्वस्वीकृति एवं कल्याणकारी राज्य के हमारे अनुभव ने इस बात को गलत ही सिद्ध किया। सर्वहारा के अधिनायकतन्त्र के संदर्भ में मार्क्स का विचार भी पूरे विश्व में आलोचना का पात्र रहा है। टाटस्की ने यह कहा था कि सर्वहारा का अधिनायकतन्त्र जो लोकतान्त्रिक केन्द्रवाद के सिद्धान्त पर आधारित है अन्ततः तानाशाही में ही बदल जाता है। रूस के अनुभव एवं स्टालिन की

कार्य पद्धति इस बात को सही सिद्ध करती है। सामाजिक शक्ति के सन्दर्भ में भी मार्क्स का विचार आलोचना का पात्र बनता रहा है। मार्क्स ने यह कहा था। कि किसी समाज में वही शक्तिशाली होता है जिसके पास आर्थिक शक्ति होती है। किन्तु मैक्स वेबर ने अपने सिद्धान्तों में यह साबित किया कि आर्थिक शक्ति सामाजिक शक्ति का केवल एक भाग है। सामाजिक प्रस्थिति एवं राजनैतिक शक्ति भी एक व्यक्ति को शक्तिशाली बना सकते हैं। राज्य के वर्ग चरित्र के संदर्भ में मार्क्स का विचार भी विवादों में रहा है। लूई बोनापार्ट के शासन के विषय में मार्क्स ने स्वतः यह माना था कि यह शासन वर्ग निरपक्ष था। यदि राज्य वर्ग शोषण के उपकरण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है तो ऐसा कैसे सम्भव था। भारतीय राज्य के सन्दर्भ में हम्जा अलवी तथा अनुपम सेन का अध्ययन भी इसे वर्ग घोषित करता है। अगर मार्क्स के विचारों पर उठने वाले विवादों को देखा जाए तो हम पाते है कि मार्क्स के बाद आने वाले हस सिद्धान्तकार ने मार्क्स की कुछ न कुछ बातों को नकारा तो साथ ही कुछ न कुछ नया जोड़ा भी। अतः मार्क्स की आलोचना के पर्याप्त बिन्दु मिल ही जाते है। पर मार्क्स का महत्व इस बात में है कि एक ऐसे समाज में जहाँ शोषण था, भेदभाव था, इसने लोगों को समता मुलक समाज का स्वप्न दिया तथा पीढ़ियों को समाजिक बदलाव के लिए प्रेरित किया यह कमोबेश मार्क्स का ही दबाव था जिसके कारण उदारवाद को अपना रास्ता बदलना पड़ा तथा नकारात्मक से सकारात्मक स्वरूप में आना पड़ा। हाँलाकि कार्ल पॉवर ने मुक्त समाज के दुश्मनों में मार्क्स को भी रखा पर मार्क्स का सिद्धान्त तो वास्तविक स्वतंत्रता की ही तलाश कर रहा था। औद्योगिक पूँजीवाद की सभ्यता से स्वतंत्रता की अनुपस्थिति को ही मार्क्स दूर करना चाहता था। वास्तविक स्वतंत्रता की इसी आशा ने पीढ़ियों को मार्क्सवादी चेतना में प्रशिक्षित किया।

17.10 शब्दावली

परायापन अथवा अलगाव- किसी व्यक्ति के द्वारा अपने समाज,समूह, कार्यस्थल, अपने श्रम के उत्पाद और अंततः स्वयं से सम्बन्ध का न होना |

सर्वहारा – उत्पादन के स्वामियों के अतिरिक्त अन्य सभी सामूहिक रूप से |

ऐतिहासिक भौतिकवाद - ऐतिहासिक भौतिकवाद वस्तुतः इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का प्रयास है

17.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1789 2. मार्क्स 3. मार्क्स 4..लंदन में 5.Communist Manifesto

17.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.राजनीतिक चिंतन की रूपरेखा - ओ0पी0 गाबा-मयूर पेपर बैक्स, प्रथम संस्करण-1996

2.आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास, चतुर्थ भाग-ज्योति प्रसाद सूद- के0 नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ, 1994-95

3.राजनीति कोश- डॉ0 सुभाष कश्यप, विश्व प्रकाश गुप्त, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण-1998

4.राजनीति सिद्धांत की रूपरेखा- ओ0पी0 गाबा-मयूर पेपर बैक्स, पंचम संस्करण-2001

5.राजनीति विज्ञान विश्वकोश- ओ0पी0 गाबा- नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1998

17.13 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन – पी.डी. शर्मा

2.पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन – जीवन मेहता

17.14 निबंधात्मक प्रश्न

1.मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की व्याख्या कीजिये |

2. मार्क्स केएतिहासिक भौतिकवाद की विवेचना कीजिये |

3. मार्क्स के वर्ग संघर्ष संबंधी विचारों की व्याख्या कीजिये |

इकाई-18 : महात्मा गाँधी

इकाई की रूपरेखा

18.1 प्रस्तावना
18.2 उद्देश्य
18.3 महात्मा गांधी
18.3.1 महात्मा गांधी का जीवन परिचय
18.3.2 महात्मा गांधी के सामाजिक एंव राजनीतिक विचार
18.3.3 महात्मा गांधी एवं राष्ट्रीय आन्दोलन
18.3.4 महात्मा गांधी एवं नारी चेतना
18.3.5 महात्मा गांधी एवं सत्याग्रह आन्दोलन
18.3.6 गांधीवाद और साम्मवाद या मार्क्सवाद के नैतिक आधार
18.3.7 महात्मा गांधी की 21वीं शताब्दी में प्रासंगिकता
15.3.8 गांधी जी का सर्वोदय एवं ट्रस्टीशिप की अवधारणा
15.3.9 गांधी जी का सत्याग्रह सम्बन्धी अवधारणा-
15.3.10. गांधी जी की सत्य एवं अहिंसा की अवधारणा
18.4 सारांश
18.5 शब्दावली
18.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
18.7 सदंर्भ ग्रन्थ
18.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
18.9 निबंधात्मक प्रश्न

18.1 प्रस्तावना

मोहनदास करमचन्द्र गांधी जिन्हें सम्पूर्ण विश्व भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के रूप में जानता है। महात्मा गांधी विशुद्ध दार्शनिक नही थे फिर भी व्यवहारिक जीवन में आन्दोलन के जो साधन और विचार अपनाये उनमें भारतीय दर्शन को लेकर पाश्चात् चिन्तन के कई विचारक का जैसे-टॉलस्टाय, थोरो आदि का प्रभाव था। गांधी जी परम्परागत अर्थों में न राजनीतिक दार्शनिक थे, न ही ऐसा होने का उन्होंने दावा किया।

गांधी जी दार्शनिक से अलग एक क्रियाशील व्यक्ति थे परन्तु उन्होंने समाज और राज्य में मूलभूत परिवर्तन लाने के लिए अनेक महत्वपूर्ण प्रयास किये और शक्तिशाली साधनों का विकास किया जिससे राजनीतिक दर्शन में नवीन मान्यताओं का सूत्रपात हुआ और इन्हीं मान्यताओं के आधार पर गांधीवादी विचार धारा का विकास हुआ। गांधी वाद एक ऐसी विचारधारा है जिसके आधारभूत सिद्धान्त है-सत्य और अहिंसा ये सिद्धान्त उसकी आत्मा के प्रतीक हैं जिनके चारों तरफ गांधीवाद रूपी शरीर का ताना-बाना बुना गया है।

महात्मा गांधी ने सदैव अपने को विश्व का नागरिक समझा और उस रूप में अपने कार्यों को अधिक महत्व दिया। दक्षिण अफ्रीका तथा भारत की राजनीति उनकी प्रयोगशाला थी जिसमें उन्होनें अपने सत्य अहिंसा सम्बन्धी सिद्धान्त का परीक्षण किया। गांधी के संदेश की सार्थकता पर बल देना आवश्यक है। इस युग में जब सामूहिक संहार ने शक्तिशाली वाह्य अस्त्रों ने मानवीय व्यवस्था को बुरी तरह झकझोर दिया है, गांधी जी मानवीय मूल्यों का संदेश देते हैं। आधुनिक जगत के राजनीतिक आदर्श माल्थस, डार्बिन और नीत्से के इस सिद्धान्त से निर्धारित हो रहे हैं कि जीवन-शास्त्रीय नियमों के अनुसार बलशाली की दुर्बलों पर विजय प्राकृतिक और आवश्यक है। यही कारण है कि आधुनिक बुद्धिवादी के लिए प्रारम्भ में गांधी जी के उस संदेश को अंगीकार करना कठिन हो जाता है। क्योंकि उनका संदेश वेदान्तियों, बौद्धों, स्टाइकों और ईसाइयों की इस धारणा का सार है कि अन्त में विजय सत्य की ही होती है न कि सबसे अधिक बलशाली की। इस युग में जब वीभत्सतापूर्ण आतंक, गोपनीयता की प्रवृत्ति तथा जासूसी पराकाण्ठा पर पहुंच गयी हैं, गांधी जी द्वारा प्रतिपादित सत्य और सर्जनात्मकता अहिंसा का संदेश अति पुरातन जान पड़ता है। लेकिन वास्तविकता यही है कि आज बिना संवाद और अध्यात्म के हम उदारीकरण के इस युग में अपने को स्थापित नही कर सकते।

दुनिया की राजनीति में संभावतः महात्मा गांधी ही एक ऐसे अपवाद थे जो आजादी के कर्त्ता-धर्ता होकर भी आजादी के बाद भी सत्ता से दूर रहे। गांधी जी का व्यक्तित्व दुनिया के सभी राजनीतियों से अलग है। कारण उन्होंने जहां सत्ता की राजनीति से अपने को पृथक रखा, वहीं दुनिया का हर राजनेता सत्ता के पीछे पागल बना रहा। गांधी जी व्यवस्था चाहते थे इसलिए उन्होंने राजनीति में नीति को प्रमुखता दी। सत्य, अहिंसा असहयोग आदि उन्होंने अस्त्र बनाए, जिनके सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियों प्रारम्भ हुई, लेकिन बाद में हर व्यक्ति गांधी- दर्शन का कायल हो गया।

बीसवीं शदी में दुनिया की राजनीति को कार्ल मार्क्स और महात्मा गांधी ने समान रूप से प्रभावित और उद्धेलित किया। इसका मुख्य कारण यह था कि दोनों ने अपने जीवन से एक सौ साल आगे के काल को अपने सामने रखा। यही कारण है कि झंझावतों के बावजूद आज या कल न तो मार्क्स मरेंगे और न गांधी की मौत होगी।

18.2 उद्देश्य

इस इकाई के अन्तर्गत महात्मा गांधी के जीवन से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर विस्तार पूर्वक विवेचन किया जायेगा। महात्मा गांधी का जीवन परिचय महात्मा गांधी का राष्ट्रीय आन्दोलन में भूमिका, गांधी जी के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार क्या थे। उनके विचारों की वर्तमान वैश्विक संदर्भ में क्या प्रासंगिकता है। क्या गांधी जी के सत्य एवं अहिंसा का सिद्धान्त आज के इस मारक युग में प्रासंगिक है कि नही? आदि बातों का विस्तार पूर्वक विवेचन किया जायेगा, गांधी जी के विचारों की गहरी समझ वर्तमान आनुधिक युग में प्रत्येक नागरिक के लिए अति आवश्यक हो जाती है। अतः आप इस इकाई के सम्यक एवं गहन अध्ययन के पश्चात आपः-

1.गांधी जी के महत्व को समझ सकेंगे।

2.गांधी जी के सात्विक जीवन के विषय में जान सकेंगे।

3.गांधीवाद क्या है इसकी समझ हो सकेगी।

4.गांधी जी का राष्ट्रीय आन्दोलन एवं देश की आजादी में क्या योगदान था यह जान सकेंगे।

5.गांधी जी के जीवन की क्या उपलब्धियां रही हैं और उन्होंने समाज एवं देश को क्या दिया है यह भी आप समझ सकेंगे।

6.गांधी जी 21वीं शताब्दी में क्या प्रासंगिक है। इससे भली-भांति परिचित हो सकेंगे।

18.3 महात्मा गांधी

इस इकाई के अन्तर्गत हम महात्मा गांधी का जीवन परिचय, महात्मा गांधी के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार, गांधी एवं राष्ट्रीय आन्दोलन, गांधी जी एवं नारी चेतना, तथा राष्ट्र निर्माण में गांधी जी का योगदान आदि विषय पर चर्चा करेंगे। महात्मा गांधी का मार्क्स से तुलनात्मक अध्ययन एवं गांधी जी का 21वीं सदी में उनकी वैश्विक प्रांसगिकता तथा उनकी उपलब्धियां तथा देन आदि विषय पर विस्तार पूर्वक अध्ययन करेंगे।

18.3.1 महात्मा गांधी का जीवन परिचय

महात्मा गांधी एक महान् युग प्रवर्तक महापुरुष थे। उनके जीवन का एक-एक पल लोकहित और राष्ट्र के निर्माण के लिए संपूर्णरूप से समर्पित था। यद्यपि उनका जन्म 02 अक्टूबर 1869 को गुजरात के पोरबन्दर नामक स्थान पर हुआ था किन्तु अपने समर्पित सादा जीवन और अनुकरणीय कार्यों के परिणामस्वरूप गांधी जी मात्र गुजरात और पोरबन्दर के ही नहीं अपितु सम्पूर्ण भारत के प्रिय और सम्पूर्ण विश्व के अनुकरणीय आदर्श के प्रतीक सिद्ध हो गये। उनके गुण अपने पूर्वपुरुषों द्वारा विरासत में प्राप्त हुए थे। गांधी वंश में उत्तमचन्द्र नामक एक महापुरुष उस समय के सौराष्ट्र नामक राज्य के मंत्री थे। उनके छः पुत्रों में वीरोचित विचारों से युक्त, सत्यवादी और सभी को अपने गुणों और कार्यों से प्रभावित करने वाले करमचन्द्र सबसे अधिक प्रसिद्ध हो गये। उन करमचन्द्र के यद्यपि चार पत्नियां थीं किन्तु पुतली नामक उनकी पत्नी सभी गुणों से युक्त और उत्तम स्वभाव से युक्त एक आदर्श गृहिणी थीं। उन्हीं ने गांधी जी को जन्म दिया जिनका नाम परम्परानुसार मोहनदास करमचन्द्र गांधी हुआ। यही आगे चलकर महात्मा गांधी के रूप में प्रसिद्ध हो गये।

गांधी अपने शरीर और सुख की कभी चिन्ता नहीं किया। सभी के कल्याण के लिए उन्होंने अपना जीवन सदा के लिए समर्पित कर दिया। अधोलिखित पद्य के भाव उन गांधी जी के संदर्भ में पूर्णतः संगत हैं-

परोपकारैकधियः स्वसुखाय गतस्पृहाः।

परोपकाराव जायन्ते महात्मानों महाव्रताः।।-(संस्कृत मुक्तावली पृष्ठ-12)

ऐसे महाव्रती महात्मा के रोम-रोम के अन्तर्गत उनके माता और पिता के गुणों का अमित एवं अमिट प्रभाव असंख्य गुण उनके दुर्बल शरीर में विद्यमान रहते थे। निर्भीकता और सहनशीलता उनमें भरी पड़ी थी। मतलब भर के काम चलाऊ मात्र वस्त्र धारण कर पद-यात्रा करना तथा सर्वधर्म में समभाव स्थापित करना उनके जीवन का विशेष लक्ष्य था। स्वदेश वस्तुओं और स्वोपार्जित वस्तुओं के प्रति उनका विशेष लगाव हुआ करता था। अपने जीवन को यथार्थ बनाने, स्थिरप्रतिज्ञ होने और दरिद्रता तथा दासता से पीड़ित जनता को मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से ही उन्होंने अपना जन्म स्वीकार किया था।

18.3.2 महात्मा गांधी के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार

उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी के लगभग सभी भारतीय चिन्तकों एवं महापुरुषों का चिन्तन जीवन के सभी क्षेत्रों से सम्बद्ध रहा है। भारत की राजनीतिक पराधीनता के फलस्वरूप देश के धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने के कारण, स्वतंत्रता आन्दोलन छेड़ने के साथ ही देश के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में भी सुधार की आवश्यकता अनुभव की गयी, केवल राजनीतिक स्वतंत्रता का कोई महत्व नहीं था। गांधी जी से

पूर्व राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द, अरविन्द, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, लोकमान्य तिलक, आदि अनेक सामाजिक सुधारक हो चुके थे। राजा राममोहन राय द्वारा रोपी गयी भारतीय पुनर्जागरण की बेल जिसे पनपाने में स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द आदि ने योगदान दिया था जो गांधी जी के प्रयत्नों से परिपक्व हुई। राजा राममोहन राय ने नारी उद्धार एवं शिक्षा का उत्थान आरम्भ किया। स्वामी दयानन्द ने अस्पृश्यता, शूद्र व नारी शिक्षा, स्व की भावना तथा धार्मिक अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों के त्याग का मंत्र तथा वैदिक सभ्यता की रक्षा का आह्वान किया। स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय आध्यात्मिकता की रक्षा, पाश्चात्य भौतिक सभ्यता के अनुकरण न करने का परामर्श और सर्वधर्म समन्वय, विश्व-बन्धुत्व एवं सेवा का उपदेश तथा भारत मे सर्वप्रथम प्रबल स्वाभिमान की भावना उत्पन्न की। सुधारकों ने बाल-विवाह, बहु-विवाह, कन्या-वध, बलात वैधव्य व सती प्रथा समाप्त करने का प्रयास किया। स्त्रियों व शुद्रों के उत्थान के मार्ग की बाधाओं, अन्धविश्वासों एवं प्रचलित रूढ़ियों के विरूद्ध उन्होंने जोरदार आन्दोलन छेड़ा। महात्मा गांधी के जीवन, चिन्तन, शिक्षाओं और कार्यों में भारतीय पुनर्जागरण अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुआ। गांधी जी के अभ्युदय से राजनीतिक और सामाजिक परिदृश्य बदल गया। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त अभिजन की दृष्टि में अहिंसा, औद्योगीकरण, शिक्षा, यौन और विवाह सम्बन्धी उनके विचार असंगत (विलक्षण) और पुराने ढर्रे के प्रतीक होते थे। परन्तु उनके निधन के लम्बे समय के बाद वे अद्भुत रूप से आधुनिक प्रतीत होने लगे हैं। अल्पविकसित विश्व की सामाजिक-आर्थिक समस्याओं के सर्वेक्षण के दौरान गुन्नार मिर्डाल ने गांधी जी को समस्त व्यवहारिक क्षेत्रों में एक प्रबुद्ध उदारवादी घोषित किया।

आज की राजनीतिक परिस्थिति में नैतिकता का सर्वथा अभाव है। अहिंसा तथा सत्य के सिद्धान्तों की चर्चा करना मूर्खता समझी जाती है। सामान्यतः शासनतंत्र में भ्रष्टाचार व्याप्त है। समाज का राजनीतिक ढांचा नैतिकता विहीन हो जाय यह गंभीर चिन्ता का विषय है। अतः राजनीतिक संदर्भो पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

गांधी जी ने विकेन्द्रीकरण की बात कहीं थी और उसका कुछ समावेश संविधान में हुआ था। राज्यों को संविधान में बहुत से अधिकार दिये गये थे। उदाहरण के लिए शिक्षा राज्य का विषय थी किन्तु 1976 में उसे समवर्ती सूची में ला दिया गया। इसका अर्थ यह हुआ कि शिक्षा के ऊपर केन्द्रीय नियंत्रण बढ़ गया। वैसे शिक्षा में विश्वविद्यालयों पर नियंत्रण उसी केन्द्रीयकरण की प्रक्रिया के अंग थे। सारे देश के लिए एक रूप पाठ्यक्रम बनाना और चलाना उसी केन्द्रीकरण की प्रक्रिया का एक स्वरूप है।

गांधी जी मुख्यतः व्यक्तिवादी थे और व्यक्ति के प्रति उनकी अपार आस्था थी, यद्यपि पूरे समाज और विश्व को उन्होंने अपने सक एक रूप कर रखा था। वे वास्तव में व्यक्ति और समाज में कोई द्वन्द्व या भेद नहीं मानते थे। किन्तु आज का युग समाजीकरण का युग है। समाज के सामने व्यक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है। समाजवाद के प्रभाव में उत्पादन और वितरण के अनेक क्षेत्रों का समाजीकरण हो चुका है। बैंकों का राष्ट्रीयकरण समाजीकरण की प्रक्रिया का ही एक अंग हैं। व्यक्ति की पूंजी, सम्पत्ति और सामान्य जीवन पर राज्य का नियंत्रण बढ़ता जा रहा है। जहां पूंजीपतियों के शोषण की समस्या थी वहां अब राज्य व्यक्ति का शोषण कर रहा है।

वर्तमान समय में पूरा शासनतंत्र भ्रष्ट चुनाव की प्रक्रिया पर आधारित है। करोड़ों रूपये चुनाव में खर्च करके जो पार्टियां गलत तरीकों से सत्ता में आती हैं वे उन लोगों के नियंत्रण में रहती हैं जो चुनाव में उन्हें धन देते हैं। आज राजनीति जनहित के बजाय स्वार्थ और लोक-सेवा के बजाय लोकशोषण पर केन्द्रित है। पदलोलुपता का बोलबाला है और कोई काम बिना घूस के नहीं हो सकता है। इस राजनीति का यदि कोई विकल्प नहीं सोचा जाता है तो नागरिक जीवन सुरक्षित और सुखी रहना असंभव है।

गांधी जी के जीवन का अंतिम चरण द्वितीय महायुद्ध के विषाक्त वातावरण और उसके दूरगामी प्रभावों से आच्छादित था। आज इतने वर्ष के बाद युद्ध के बादल फिर गरज रहे हैं। गांधी जी ने जो अहिंसा का पाठ पढ़ाया था वह संकुचित राष्ट्रवाद पर नहीं बल्कि समस्त मानवता के कल्याण की भावना पर आधारित था। आज राष्ट्रों के बीच में परस्पर अविश्वास, घृणा और विद्वेष की भावना अधिक बलवती है। इसके अतिरिक्त पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के शोषण के जो तरीके पहले थे वे आज अधिक परिमार्जित और प्रच्छत रूप से प्रभावी हैं।

गांधी जी के राजनीतिक दर्शन में युद्ध का कोई स्थान नहीं था। हर बात में समझौते, सद्भावना और हृदय परिवर्तन से सुलझाना उनके दर्शन का मूलमंत्र था। प्रश्न यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में किस राजनीति को अपनाना है-युद्ध की राजनीति अथवा शान्ति की? और आज यह प्रश्न जितना ज्वलंत है और संदर्भ जितना सार्थक है उतना कदाचित् मानव-जीवन के इतिहास में कभी नहीं था।

18.3.3 महात्मा गांधी एवं राष्ट्रीय आन्दोलन

दक्षिण अफ्रीका से 1918 में भारत आने के बाद गांधी जी ने गुजरात प्रान्त के अहमदाबाद जिले में साबरमती नदी के किनारे साबरमती आश्रम की स्थापना की। गांधी जी ने गोपाल कृष्ण गोखले को अपना राजनीतिक गुरू मानकर उन्हीं के निर्देश पर भारतीय राजनीति का अध्ययन प्रारम्भ किया। 1917 ई0 के चम्पारन सत्याग्रह के अन्तर्गत गांधी ने बिहार के चम्पारन जिले में नील की खेती करने वाले किसानों पर यूरोपीय मालिकों द्वारा किये जा रहे अत्याचारों के खिलाफ आन्दोलन चलाया जिसमें उन्हें सफलता मिली। इस आन्दोलन में गांधी जी का सहयोग मजरूल हक, आचार्य कृपलानी एवं महादेव देसाई ने किया।आन्दोलन के इन्हीं दिनों में रवीन्द्र नाथ टैगोर ने सर्वप्रथम गांधी जी को महात्मा की उपाधि दी तथा बापू की उपाधि सुभाष चन्द्र बोस ने दी।

खेड़ा में किसानों पर अधिक कर का बोझ सरकार द्वारा डाले जाने पर गांधी जी ने यहां के किसानों का नेतृत्व किया। उन्होंने 1918 ई0 में खेड़ा में कर नहीं दो आन्दोलन चलाया। साथ ही सत्याग्रह का प्रयोग किया जिसके परिणाम स्वरूप उन्हें कर की दर कम करवाने में सफलता मिली। 1918 ई0 में गांधी जी ने अहमदाबाद के मिल मजदूरों की वेतनवृद्धि के लिए आमरण अनशन किया। अनशन के चौथे दिन ही सरकार मजदूरों की मांग मानने के लिए विवश हो गयी।

गांधी जी चूंकि गोखले से प्रभावित थे, इसलिए उन्होंने भारतीय राजनीति में ब्रिटिश सरकार के सहयोगी के रूप में प्रवेश किया। उन्होंने प्रथम विश्व युद्ध के समय ब्रिटिश सरकार की अभूतपूर्व सहायता की जिससे खुश होकर सरकार ने उन्हें केसर-ए-हिन्द सम्मान से सम्मानित किया। परन्तु शीघ्र ही गांधी जी विदेशी सरकार से निराश होने लगे, फलस्वरूप वे सरकार के सबसे बड़े असहयोगी बन गये। गांधी जी को असहयोगी बनाने के लिए उत्तरदायी कारकों में महत्वपूर्ण थे-रौलट ऐक्ट, जलियावाला बाग हत्याकाण्ड, खिलाफत समस्या आदि। गांधी जी ने 1919 ई0 में खिलाफत आन्दोलन का नेतृत्व किया। उन्होंने अंगेजी को शैतानी लोग कहा और 1920-22 ई0 तक असहयोग आन्दोलन चलाया। 1920 ई0 में यंग इण्डिया एवं नवजीवन समाचार पत्रों की स्थापना की। उन्होंने 1924 ई0 के बेलगांव में हुए कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता की। 1930 ई0 में गांधी जी ने सविनय अवज्ञा आन्दोलन के अंतग्रत 6 अप्रैल 1930 को 78 अनुयायियों के साथ नमक कानून तोड़ने के लिए डाण्डी समुद्र तट के लिए यात्रा आरम्भ की। 4 मई को गांधी जी को गिरफ्तार कर लिया गया। 26 जनवरी 1931 को एक संधि हुई जिसे गांधी-इरविन समझौता के नाम से जाना जाता है। नवम्बर, 1931 में गांधी जी ने लन्दन में हुए द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस का नेतृत्व किया। गांधी जी दलितों के पृथक निर्वाचन प्रणाली के विरोध में 1932 ई0

जेल में आमरण अनशन किया, फलस्वरूप सरकार को झुकना पड़ा। 7 अप्रैल, 1934 को गांधी जी ने सरकार के प्रति असहयोग की नीति अपनायी। 1940 ई0 में व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया जिसके प्रथम सत्याग्रही विनोबा भावे तथा द्वितीय सत्याग्रही जवाहर लाल नेहरू थे। मार्च 1942 में भारत आये क्रिप्स मिशन द्वारा मई, 1942 में प्रस्तुत क्रिप्स प्रस्ताव के बारे में गांधी जी ने कहा कि उत्तरतिथीय चेक ; है। 8 अगस्त 1942 को गांधी जी ने ऐतिहासिक अंग्रेजों भारत छोड़ों प्रस्ताव को कांग्रेस से पास करवाया, जिसमें उन्होंने करो या मरो का नारा दिया। गांधी जी के सतत् प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप 18 अगस्त 1947 को भारत आजाद हो गया।

18.3.4 महात्मा गांधी एवं नारी चेतना

गांधी के लिए औरतें बेजुबान और गुमनाम महिला शक्ति मात्र नहीं थीं जिसमें शक्ति का संचार किया जाना जरूरी थी, बल्कि उनके लिए महिलाएं उच्चतर मानवीय मूल्यों जैसे करूणा बलिदान का प्रतीक थी। वे उन्हें महज घर की शोभा बढ़ाने वाली वस्तु या गृहस्थी की चक्की में पिसती रहने वाली सदस्य नहीं मानते थे। गांधी जी का कहना था मैं महिलाओं को घरेलू दासता को बहशीपन की निशानी मानता हूँ। मेरे राय में रसोई घर की दासता केवल बर्बरता का ही अवशिष्ट रूप है। अब समय आ गया है कि महिलाओं को इस दासता से मुक्त कराया जाये महिलाओं का सारा समय सिर्फ घेरलू काम में नही बिताना चाहिए।

गांधी जी ने पर्दा, कुप्रथा और नारी की पवित्रता को लेकर महिलाओं की अत्यधिक फिक्र पर भी प्रहार किये। अपनी स्पष्ट वादी शैली में उन्होंने कहा अगर महिलाओं को पुरूषों की पवित्रता के बारे में कुछ कहने का अधिकार हो तो क्या वे भी शुचिता के बारे में इसी प्रकार व्यग्र रहेंगे? अगर उसका उत्तर नहीं में है तो पुरूषों को इस बात का क्या अधिकार है कि वे शुद्धता को लेकर अपनी मर्जी दूसरे पर थोपें। उन्होंने भारत की महिलाओं से आग्रह किया कि वे एक जोरदार झटके के साथ पर्दे को फाड़ डालें, इसी तरह वे कहते थे शुचिता किसी बन्द कमरे में रखकर उगाया जाने वाला पौधा नहीं है, इसे किसी पर थोपा नहीं जा सकता पर्दे की दीवारें बना कर इसे तो अन्दर से उत्पन्न होना चाहिए और अगर शुचित का कोई मूल्य है तो यह यही है कि इसे किसी भी प्रलोभन से बचाने में सक्षम होना चाहिए।

महात्मा गांधी के दर्शन, संघर्ष एवं विचारों ने पूरे भारत में स्वतंत्रता की चेतना को उत्पन्न किया, जिसके फलस्वरूप शताब्दियों से पराम्पराओं की वर्जनाओं में जकड़ी नारी भी आन्दोलन और संघर्ष के मार्ग पर बेधड़क निकल पड़ी। गांधी ने 'यंग इण्डिया', 'हरिजन' आदि रचनाओं और भाषणाओं में नारी को माता, पृथ्वी, गुरू आधी सृष्टि, सहगामिनी आदि कहकर उन्हें सम्मान प्रदान किया। गांधी जी मानते थे कि जब तक आधी आबादी राष्ट्रीय आन्दोलन से नही जुड़ेगी, तब तक यह आन्दोलन जन आन्दोलन नही बनेगा। इसलिए उन्होंने नारियों को सूत कातना, स्वदेशी वस्त्र धारण करना, छुआछूत न मानना, प्रभातफेरी एवं प्रार्थनाओं में अधिकाधिक हिस्सा लेने के लिये प्रेरित किया, उन्हें घर की चहरदीवारी से बाहर निकाल कर सार्वजनिक जीवन में प्रविष्ट कराया। जिससे नारियों में आत्मविश्वास और नेतृत्व का विकास हुआ।

18.3.5 महात्मा गांधी एवं सत्याग्रह आन्दोलन

सत्याग्रह का अर्थ सत्य के प्रति अग्राह या सत्य पर निश्चित रहना है। परन्तु गांधीवादी परिभाषा में ही सत्याग्रह उसके एक राजनीतिक शस्त्र या साधन होने का इशारा है। गांधीवाद के अनुसार सत्याग्रह सत्याप्रति परिभाषा इस प्रकार है- सत्यादि धर्मो का पालन करने का आग्राह और अधर्म का सत्यादि द्वारा ही विरोध। गांधीवादी नजर से

सत्याग्रह का उद्देश्य अपने उद्देश्य या विकास के लिये हिंसा किये बिना प्रयत्न करना है। महात्मा गांधी अहिंसा और नानवायलेन्स शब्दों का प्रयोग अपने राजनीतिक आन्दोलनों के कार्यक्रम का रूप बताने के लिये करते थे। उनकी व्यवस्था के अनुसार अहिंसा और नानवायलेन्स का अर्थ अपने उद्देश्य के लिये किसी प्रकार की शारीरिक शक्ति का प्रयोग न करना है। विपक्षी द्वारा अपने विरुद्ध शारीरिक बल का प्रयोग करने पर शारीरिक शक्ति द्वारा आत्म रक्षा या प्रतिकार का उपाय न करके, विरोधी का चोट सह लेना और स्वयं कष्ट सहने के हठ द्वारा विपक्षी को परास्त कर देने का निश्चिय था। शारीरिक शक्ति का उपयोग न करने अथवा स्वयं सह लेने को ही अहिंसा की कसौटी नही मान लिया जा सकता। शारीरिक शक्ति का प्रयोग किये बिना केवल जिद से दूसरे व्यक्ति को विषम परिस्थिति में डाल देने के व्यवहार को केवल इसलिए सही नही कहा जा सकता, कि शारीरिक शक्ति का उपयोग नही किया जा रहा है, इस प्रकार के व्यवहार को निष्क्रिय हिंसा ही कहा जायेगा। सत्याग्रह का व्यवहारिक अर्थ अपने लक्ष्य या उद्देश्य के लिये शारीरिक शक्ति का प्रयोग किये बिना स्वयं कष्ट सहकर दृष्हता पूर्वक प्रयत्न करना ही है। गांधी जी ने सत्याग्रह के दो रूप माने हैं- पहला व्यक्तिगत सत्याग्रह दूसरा सामूहिक सत्याग्रह। गांधी जी ने सत्याग्रह के लिये परिस्थिति के अनुसार निम्नलिखित साधनों को अपनाये जाने का सुझाव दिया है-

असहयोग,

सविनय अवज्ञा,

स्वेच्छिक पलायन,

अनशन या उपवास,

धरना, हड़ताल,

सामाजिक बहिष्कार,

गांधी जी ने साधनों की तुलना बीज से की है-साधनों की तुलना बीज से की जा सकती है और साध्य की वृक्ष से। जो अटूट सम्बन्धी बृक्ष और बीज में है वही साध्य और साधन में है। कहा जाता है कि निष्क्रिय प्रतिरोध अर्थात् सत्याग्रह दुर्बलों का हथियार है लेकिन सत्याग्रह का केवल ताकतवर ही इसका इस्तेमाल कर सकता है। यह निष्क्रिय प्रतिरोध की शक्ति नहीं है। इसके लिये तो सघन सक्रियता चाहिए, दक्षिण अफ्रीका का आन्दोलन निष्क्रिय नही बल्कि सक्रिय आन्दोलन था। सत्याग्रह शारीरिक बल नही है। सत्याग्रह कभी भी अपने शत्रु को कष्ट नहीं पहुंचाता वह अपने शत्रु का विनाश नही चाहता है। सत्याग्रह के प्रयोग में दुर्भावना के लिये कोई स्थान नही होता है।

सत्याग्रह तो शुद्ध आत्मबल है, सत्य ही आत्मा का आधार होता है, इसलिये इस बल को सत्याग्रह का नाम दिया गया है। गांधी जी ने सत्य, अहिंसा के बल पर ही भारत को आजादी दिलायी। देश एवं विदेश में अपने नाम का लोहा मनवाया।

महात्मा गांधी ने युद्ध और क्रान्ति के बिकल्प के रूप में राजनीतिक क्षेत्र में सत्याग्रह के साधन का सफलता पूर्वक प्रयोग किया और यह सिद्ध किया कि राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में इसका प्रयोग युद्ध एवं क्रान्ति के समय में

समान महत्वपूर्ण है। मार्क्स अवलेनिन जिस परिवर्तन को हिंसापूर्ण क्रान्ति से करना चाहते थे, गांधी जी उसे अहिंसक सत्याग्रह से सम्पन्न किया।

18.3.6 गांधीवाद और साम्यवाद या मार्क्सवाद के नैतिक आधार

गांधी जी द्वारा प्रतिपादित सर्वोदय अर्थात् सभी का सर्वांगीण विकास का सिद्धान्त तथा समाजवादी दृष्टिगत कुछ ऐसे ही हैं जिससे यह भय हो सकता है कि गांधीवाद एवं मार्क्सवाद या साम्यवाद प्रायः एक से हैं। हिंसा रहित साम्यवाद गांधीवाद तथा साम्यवाद हिंसायुक्त गांधीवाद है।

अमेरिका के सुप्रसिद्ध पत्रकार लुई फिशर ने सन् 1946 में जुलाई के अन्तिम सप्ताह में गांधी जी के पंचगनी में विविध विषयों पर चर्चा की है उस दिन फिशर से गांधी जी ने स्पष्ट कहा था-''मैं अपने आपको साम्यवादी ही कहता हूँ।''

सुप्रसिद्ध गांधीवादी अर्थशास्त्री कुमारप्पा का भी कथन है ''जहां तक हम भौतिक हित के लक्ष्य तक पहुंचने का प्रयास करते हैं, साम्यवाद, समाजवाद और गांधीवाद में कोई अन्तर नहीं हो सकता है।'' इससे स्पष्ट होता है कि गांधीवाद और मार्क्सवाद में कुछ नैतिक आधार सामान्य है जो निम्नलिखित हैं-

1.श्रमिकों के लिए आर्थिक सामाजिक न्याय।

2.आधुनिक समाज व्यवस्था में निम्न वर्गों का शोषण।

3.गांधीवाद और मार्क्सवाद दोनों ही यह विश्वास करते हैं कि प्रत्येक मनुष्य जन्म से समान होता है और इसलिए सबको समान अवसर पाने का अधिकार है।

4.गांधी जी और मार्क्स द्वारा प्रस्तुत समाज में सभी सदस्य बराबर दर्जे के होंगे।

5.मार्क्सवाद और गांधीवाद दोनों ही विश्वास करते थे कि राजनीतिक स्वतंत्रता आर्थिक स्वतंत्रता के बिना आधारहीन और अर्थहीन है जहां गांधी जी ने लिखा है ''मेरे स्वराज्य का सपना गरीबों के स्वराज्य का है'' वहां मार्क्स ने ''सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना' के पक्ष में दी है।

6.गांधी वाद और मार्क्सवाद दोनों ही राज्यहीन समाज की स्थापना के पक्ष में थे गांधी जी ने लिखा है कि ''राज्य हिंसा का केन्द्रीकृत और संगठित रूप है'' इसलिए इससे दूर ही रहना उचित है।

7.गांधीवाद और साम्यवाद दोनों ही चाहते हैं कि राष्ट्रीय धन का समान वितरण होना चाहिए क्योंकि इसके बिना समाज में पाई जाने वाली आर्थिक असमानताओं को दूर नहीं किया जा सकता और आर्थिक असमानताओं को दूर किये बिना स्वतंत्रता का कोई भी अर्थ नहीं है।

मार्क्स अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए हिंसा या क्रान्ति का प्रयोग करते हैं जबकि गांधी जी का साधन पूर्णतया अहिंसात्मक है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गांधीवाद और मार्क्सवाद के उद्देश्य में प्रचुर समानता है लेकिन उद्देश्यों की पूर्ति के साधनों में पूर्णतया भिन्नता है।

18.3.7 महात्मा गांधी की 21वीं शताब्दी में प्रांसगिकता

गांधी जी ने भारत की सामाजिक समस्याओं ध्यानपूर्वक अध्ययन किया था वे समस्याएं जो हमारे सामाजिक ढांचे को खोखला कर रही थी इन समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण बड़ा व्यापक था, उनकी दृष्टि गहन थी। गांधी जी ने सामाजिक बुराईयां आर्थिक प्रगति और राजनीतिक स्थिरता तथा व्यवस्था को स्थायी रूप से दूर करने का प्रयास किये थे।

गांधी जी जिन्हें लोग प्यार से बापू कहते हैं भारतीय रंगमंच पर 1919 से 1948 तक इस प्रकार छाये रहे कि इस युग को भारतीय इतिहास का गांधीवादी ही कहा जाता है। शान्ति और अहिंसा के दूत, गांधी का संदेश समस्त विश्व के लिये है और उससे मानव जाति प्रभावित है। गांधी जी पहले भी प्रासंगिक थे और आज भी प्रासंगिक हैं और जैसे-जैसे विश्व में विध्वंशक अस्त्र एवं शस्त्रों का विकास होता जायेगा वैसे-वैसे गांधी जी और उनके विचार तथा साधन और प्रासंगिक होते जायेंगे। अफ्रीकी नेता नेन्सन मण्टेला के प्रेणा गांधी जी ही थे अमेरिकी राष्ट्रपति वराकओबामा से लेकर मार्टिन लुथर किंग आदि गांधी जी के प्रसंशक एवं समर्थक हैं। पिछलों दिनों अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा ने व्हाइट हाउस में अफ्रीकी महादीप के 50 अफ्रीकी देशों के युवा नेताओं को सम्बोधित करते हुये कहा कि आज के बदलते परिवेश में युवाओं को गांधी जी से प्रेरणा लेने की जरूरत है। गांधी एक युग पुरुष हैं भारत की दासता को छिन्न-भिन्न करने वाले निशस्त्र योद्धा हैं, स्वराज के संदेहवाहक एवं दीन-हीन दुखियों के दाता, नारी जाति, अस्पृश्यता, ग्रामीण जनता, श्रमिक वर्ग के लिये उनके हृदय में अपार सम्मान था, उन्होंने मनुष्य की पीड़ा का निकट से अनुभव किया और उसको दूर करने का प्रयास भी किया। गांधी जी राष्ट्र धर्मनिष्ठ थे गांधी जी का पूरा जीवन समाज के हित के लिये लगा रहा, डॉ0 के0एम0 मुन्शी ने गांधी जी के विषय में बताया है कि गांधी जी ने अराजकता पायी एवं व्यवस्था में परिवर्तित कर दिया, कायरता पायी उसे साहस में बदल दिया अनेक वर्गों के विभाजन जन समूह को राष्ट्र में बदल दिया, निराशा को सौभाग्य में बदल दिया और बिना किसी प्रकार की हिंसा या नैतिक शक्ति का प्रयोग किये एक साम्राज्यवादी शक्ति के बन्धनों का अन्त कर दिया और विश्व शान्ति को जन्म दिया। विदेशों में तो गांधी के कद्रदानों में काफी बढ़ोत्तरी हुई है, इस शताब्दी में इनकी प्रामाणिकता और बढ़ी है निःसंदेह गांधी प्रासंगिक हैं, आधुनिक एवं नैतिक क्रान्ति के उद्गाता हैं, अध्यात्मिक राजनीति के पुरोधा हैं, शान्ति के संदेह वाहक और अहिंसा के पुजारी हैं, वे मानवतावादी, राष्ट्रवादी एवं नैतिक यथार्थवादी हैं। गांधी एक दर्शन है, एक विचार है, धर्म है, कर्म है, और मानवता तथा विश्व शान्ति का मर्म है।

15.3.8 गांधी जी का सर्वोदय एवं ट्रस्टीशिप की अवधारणा

गांधी के सर्वोदय की जड़े प्राचीन भारतीय दर्शन में थीं। उन्हें वेदान्त की इस धारणा से कि सभी प्राणियों में अध्यात्मिक एकता है और गीता तथा बुद्ध के सर्वभूतहित के आदर्श से प्रेरणा मिली थी। सर्वोदय का व्यापक आदर्शवाद, लॉक के बहुसंख्यावाद, मार्क्स गुप्लोवित्भ के वर्ग और जातीय संघर्ष के सिद्धान्त तथा वेन्थम के 'अधिकतम संख्या का अधिकतम सुख' के आदर्श के विरूद्ध है। एक दृष्टि से प्लेटों और गांधी में बहुत साम्य है प्लेटों ने अपनी रिपब्लिक में काल्पनिक आदर्शवाद का प्रतिवादन किया है। किन्तु लॉज तथा स्टेट्समैन में उसने मानव स्वभाव तथा सामाजिक व्यवस्था की यथार्थवादी आवश्यकता का ध्यान रखा है।

गांधीवादी सर्वोदय सिद्धान्त के अनुसार एक आदर्श समाज में न केवल मजदूरों के ही, बल्कि समाज के विभिन्न व्यवसायों में लगे हुये नागरिकों के भी पारिश्रमिक समानता होनी चाहिए। समाज के सभी लोगों को अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं के अनुसार साधन मिलने चाहिए। इस प्रकार सामाजिक एवं आर्थिक बुराइयों के स्थायी

उपचार के लिए गांधी जी ने वकील, डाक्टर, अध्यापक और मंत्री आदि सभी पेंशों के लोगों को समान पारिश्रमिक देने का एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त संसार को दिया।

श्रम-विभाजन के इस क्रान्तिकारी सिद्धान्त के अनुसार प्रथम चरण में प्रत्येक मनुष्य की अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं के लिए साधन होना चाहिए। कहीं भी अनावश्यक संग्रह न हो। आर्थिक समता के प्रारम्भिक आधार के रूप में प्रत्येक परिवार के लिए संतुलित भोजन, स्वच्छ आवास, चिकित्सा-व्यवस्था तथा बच्चों की शिक्षा की सुविधा आवश्यक है। आर्थिक समता से गांधी जी का यह अभिप्राय नहीं है कि सभी व्यक्तियों की सम्पत्ति बिल्कुल समान रूप से बंट जाय। ऐसी समता न तो सम्भव ही है, न उचित ही। ऐसी समता का केवल सांख्यिक महत्व होगा। अरस्तु की तरह आनुपातिक समानता के सिद्धान्त को गांधी जी नहीं मानते थे। अरस्तू के अनुसार गुण और उपलब्ध को ध्यान में रखकर समता की स्थापना होनी चाहिए। गांधी जी के इस कथन से वकील और भंगी को समान पारिश्रमिक मिलना चाहिए। इससे साफ जाहिर है कि वे अरस्तू के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं। आर्थिक समता लाने के चर्खा और उससे संबंधित उद्योगों का सहारा लेना अत्यन्त आवश्यक है। इनके सहारे बहुत हद तक सामाजिक तथा आर्थिक समता प्राप्त हो सकती है। गांधी जी व्यक्तिगत शारीरिक श्रम पर जोर देते थे। उन्होंने लिखा है, ''मेरी योजना के अनुसार राज्य सिर्फ नागरिकों की इच्छा को पूर्ण करने के लिए ही रहेगा। राज्य न तो जनता पर अपना हुकुम लादेगा और न वह अपनी मरजी के मुताबिक काम करने के लिए उन्हें बाध्य ही करेगा। घृणा को हटाकर प्रेम की शक्ति से लोगों को अपने विचार के अनुकूल बनाते हुए मैं अहिंसा के जरिये आर्थिक समता की स्थापना करूँगा । जब तक पूरा समाज मेरे विचार के अनुकूल नहीं हो जाता तब तक मैं इन्तजार नही करूँगा बल्कि स्वयं इसे शुरू कर दूँगा। यदि मैं खुद 50 मोटरकार या 10 बीघे भूमि का मालिक रहूँ तो यह साफ जाहिर है कि मैं अपने सिद्धान्त के अनुरूप आर्थिक समता नही ला सकता। उसके लिए मुझे अपने को सबसे गरीब आदमी के स्तर पर लाना होगा।

संरक्षकता (ट्रस्टीशिप) का सिद्धान्त-महात्मा गांधी आर्थिक विषमताओं का अन्त करने के पक्ष में थे, लेकिन वे आर्थिक समानता स्थापित करने के साम्यवादी ढंग से सहमत नहीं थे, जिसके अन्तर्गत धनिकों से उनका धन बलपूर्वक छीनकर उसका सार्वजनिक हित में प्रयोग करने की बात कही जाती है। गांधी जी का विचार था कि हिंसात्मक होने के कारण साम्यवादी पद्धति उपयोगी नहीं हो सकती और पूंजीपति वर्ग को पूर्णतया नष्ट कर देने से समाज उनकी सेवाओं से वंचित रह जायेगा। इस सम्बन्ध में गांधी जी का विचार था कि यदि सत्य और अहिंसा के आधार पर सार्वजनिक हित के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति ली जा सके तो ऐसा अवश्य ही किया जाना चाहिए।

इस सम्बन्ध में गांधी जी ने ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसका यह मतलब है कि धनी व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं से अधिक जमीन, जायदाद, कारखाने तथा विविध प्रकार की सम्पत्ति का अपने को स्वामी न समझे अपितु इसे समाज की अमानता या धरोहर माने, उसका उपयोग अपने लाभ के लिए नहीं अपितु समाज के कल्याण के लिए करें। गांधी जी का यह सिद्धान्त अपरिग्रह के विचार पर आधारित है। अपरिग्रह का अर्थ है कि मनुष्य को अपने जीवन की आवश्यकताओं से अधिक किसी वस्तु का संग्रह नहीं करना चाहिए। यदि किसी के पास अधिक सम्पत्ति हो गयी है तो उसे उसको अपनी न समझ कर ईश्वर की तथा समाज की समझनी चाहिए। संसार की सभी वस्तुओं पर ईश्वर का स्वामित्व है, मनुष्य को अपने परिश्रम और आवश्यकतानुसार इसमें से अपना हिस्सा लेने का अधिकार है। अतः वह किसी भी प्रकार की सम्पत्ति का स्वामी नहीं अपितु उसका संरक्षक मात्र है।

गांधी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त के अनुसार धनी लोगों को स्वेच्छापूर्वक यह समझना चाहिए कि उनके पास जो धन है, वह समाज की धरोहर है, वे उसमें से केवल अपने निर्वाह के लिए आवश्यक धनराशि ही ले सकते हैं। शेष सारी धनराशि उन्हें समाज की दृष्टि से हितकर कार्यों में लगा देनी चाहिए। इसका यह मतलब नहीं है कि धनी अपनी जीवन निर्वाह से बची हुई सम्पत्ति को निर्धन व्यक्तियों में बांट दे। ऐसा करने पर तो यह सम्पत्ति उपभोग में आकर शीघ्र नष्ट हो जायेगी। अतः धनिक वर्ग अपनी फालतू सम्पत्ति को ऐसे उद्योग-धंधो में लगाये, जिनमें साधारण जनता को रोजगार मिल सके।उन्हें दूसरो को काम देकर तथा उत्पादन बढ़ाकर अपनी पूंजी का सदुपयोग सार्वजनिक हित के कल्याण एवं वृद्धि के लिए करना चाहिए। वे इसे तालाब, विद्यालय, चिकित्सालय, आदि बनाने के जनकल्याणकारी कार्यों में भी लगा सकते हैं। जमींदारी अपनी फालतू जमीन भूमिहीन निर्धन व्यक्तियों को जोतने, बोने के लिए दे सकते हैं।

वे सहजता, ग्रामीणता, कुटीर उद्योग, ट्रस्टीशिप स्वावलम्बी जीवन श्रमशील आचरण और सर्वोदयी विचार के थे। सर्वहारा के लिए उन्होंने बहुत कुछ किया भी। उनके हरिजन आन्दोलन, अस्पृश्यता निवारण, नारी जागरण, किसान आन्दोलन आदि इसी क्रम में आते हैं। हरिजन मार्च 31, 1946 भूमि के अधिकार के सम्बन्ध में गांधी जी का यह सिद्धान्त उनके दूसरे सिद्धान्त के विपरीत पड़ता है कि जमींदार किसानों के न्यासधारी (ट्रस्टी) हैं। 1939 ई. में द्वितीय गोलमेज परिषद की संघीय व्यवस्था समिति में भाषण करते हुए गांधी जी ने कहा था ''गांधी ने इन दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय करने का प्रयत्न किया। इसके लिए दर्शनीय है। एक सीमा तक वे मार्क्सवाद को मानते थे। गांधी जी का आदर्श ऐसे समाज की स्थापना करना था, जो पारस्परिक सक्रिय प्रेम एवं सामजस्य पर आधारित हों वह पूर्ण आस्तिक (ईश्वरवादी) हो, क्योंकि सभी ईश्वर की संतान हैं। रस्किन के इस सिद्धान्त को उन्होंने भी माना है कि जो प्रथम को मिलता है-वही अन्तिम को भी मिलना चाहिए। सर्वोदयी विचार को उन्होंने सदैव सम्मान किया है।

15.3.9 गांधी जी का सत्याग्रह सम्बन्धी अवधारणा-

सत्याग्रह शारीरिक शक्ति नहीं हैं, यह आत्मबल है। अतः यह शक्ति सत्याग्रह कहलाती है। जिसमें ज्ञान और प्रेम की लौ उजागर रहती है। यदि कोई अज्ञानवश हमें कष्ट देता है तो हम उसे प्रेम से जीतेंगे यही सत्याग्रह है। महात्मा गांधी भारतीय राजनैतिक मंच पर 1919 से 1948 तक इस प्रकार छाए रहे हैं कि इस युग को भारतीय इतिहास का गांधी युग कहा जाता है। शान्ति और अहिंसा के दूत गांधी का संदेश समस्त विश्व के लिए हैं। उससे सम्पूर्ण मानव जाति प्रभावित हुई।

गांधीवादी विचारधारा राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में एक निर्णायक मोड़ है। इतिहास साक्षी है कि मनुष्य ने सदैव अन्याय के विरूद्ध आवाज उठायी है। गांधी जी के प्रयासों से भारतीयों ने अपना विरोध प्रकट करने के लिए पारस्परिक तरीकों को नहीं चुना बल्कि गांधी जी ने भारतीयों को विरोध प्रदर्शित करने का एक नवीन मार्ग सुझाया। यह मार्ग था सत्याग्रह।

गांधी जी का सत्याग्रह-दर्शन सत्य के सर्वोच्च आदर्श से उत्पन्न हुआ है। यदि सत्य ही परम तत्व है तो उसके पुजारी का पुनीत कर्तव्य है कि सत्य की कसौटी तथा उसके आधारों की रक्षा करें। ईश्वर ही परम सत्य है अतः ईश्वर भक्त के लिए आवश्यक कि है वह पूर्णतः विनम्र और स्वार्थरहित हो। उसमें नैतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों के लिए संघर्ष करने को अजेय कल्प तथा साहस होना चाहिए तभी वह अपनी सच्ची नैतिक भावना का प्रमाण दे सकता है।

सब प्रकार के अन्याय, उत्पीड़न और शोषण के विरूद्ध शुद्धतम आत्मबल का प्रयोग ही सत्याग्रह है। कष्ट-सहन तथा विश्वास आत्मबल के गुण हैं। 'तेजस्वी दीन' के सक्रिय अहिंसात्मक प्रतिरोध का हृदय पर तत्काल प्रभाव होता है। वह विरोधी को जोखिम में नहीं डालना चाहता, बल्कि वह उसे अपनी निर्दोषिता की प्रचण्ड शक्ति से अभिभूत कर देना चाहता है। सत्याग्रह अथवा हृदय-परिवर्तन के विस्मयकारी तरीके सरकार तथा सामाजिक अत्याचारियों एवं परम्परावाद के नेताओं, सभी के विरूद्ध प्रयोग किया जा सकता है।

सत्य पर अटल रहना ही सत्याग्रह है। सत्याग्रह असत्य को सत्य से व हिंसा को अहिसा से जीतने का नैतिक शस्त्र है। इसका उद्देश्य, धैर्यपूर्वक, कष्ट सहकर अहिंसात्मक एवं उचित तरीकों से सत्य को प्रकट करना, भूलों को सुधरना एवं भूल करने वालों का हृदय परिवर्तन करना है। सत्याग्रह एक सरल, किन्तु अचूक उपाय है।

सत्याग्रह का ही एक रूप असहयोग आन्दोलन है। जिसका प्रयोग गांधी जी ने नीतियों का विरोध करने के लिए किया था। महात्मा गांधी अपने युग के महान नेता थे। उन्होंने सत्य, अहिंसा एवं सत्याग्रह के साधनों से भारतीयों को स्वतंत्रता आन्दोलन का नेतृत्व किया। सत्य अहिंसा जैसे सिद्धान्त गांधी द्वारा प्रयुक्त ऐसे सिद्धान्त थे जो उन्हें महात्मावादी स्वरूप प्रदान करने में सहायक रहे हैं। अपनी अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति से मानव के शाश्वत मूल्यों को उद्घाषित करने वाले विश्व इतिहास के महान तथा अमर नायक महात्मा गांधी आजीवन सत्य, अहिंसा और प्रेम का पथ प्रदर्शित करते रहे।

राजनैतिक क्षेत्र में, अहिंसा की विचारधारा को कार्यक्रम में परिणत करने के लिए जिस कार्य पद्धति का प्रयोग एवं प्रतिपादन किया, उसे सत्याग्रह कहा जाता है। सत्याग्रह सत्य और आग्रह दो शब्दों से मिलकर बना है। सत्य का आग्रह अर्थात् सत्य के हेतु आग्रह। गांधी जी के जीवन के तीन प्रमुख सिद्धान्त थे-सत्य, अहिंसा और साधनों की शुद्धता। इन्हीं के बल पर उन्होंने अंग्रेजों से संघर्ष किया और अन्त में सफलता प्राप्त की। महात्मा गांधी का सम्पूर्ण जीवन सत्य पर आधारित था, उसके सामने वे किसी बात से समझौता नहीं करते थे। सत्य के विषय में उनका कहना था-सत्य से ऊँचा कोई ईश्वर नहीं और हर इंसान को सत्य की खोज करनी चाहिए सत्य और अहिंसा को अलग-अलग नहीं किया जा सकता है। जहां हिंसा है वहां सत्य नहीं रह सकता जो सत्य में विश्वास करता है वह दुश्मन को भी नहीं हानि पहुंचायेगा।

वे अहिंसा के पुजारी थे। वे अहिंसा को मनुष्य की अन्तनिर्हित धार्मिक भावना के विकास के लिए बहुत ही आवश्यक समझते थे। गांधी जी स्वयं कहा करते थे कि-सत्याग्रही अहिंसा के पुजारी थे वे सदा हंसते हुए, बिना प्रति रोध के मरने के लिए रहना चाहिए।

सत्याग्रह के द्वारा गांधी जी ने दक्षिणी अफ्रीका में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की तत्पश्चात् वह भारत आकर ब्रिटिश शासन के विरूद्ध भारतीय जनता को भी सत्याग्रह की भावना से ओत-प्रोत कराया। वह मोह, ममता, विषय, वासना, ऐश्वर्य, छल कपट आदि से दूर रहने की सलाह दी।

सत्याग्रह की प्रक्रिया-

महात्मा गांधी जी ने सत्याग्रह को एक रणकला कहा है। उसके अनुसार एक सत्याग्रही को पूर्णतः समर्पित रहना चाहिए, उसे अपने लक्ष्य के प्रति पूर्ण जागरूक होनी चाहिए। सत्याग्रही के मन में किसी के प्रति कुटिल भावना नहीं चाहिए उसके लिए छल के प्रति त्याग करके उसके अन्दर और बाहर समान रहते हुए कथनी और करनी में कुछ

अन्तर न करके पूरी तरह अहिंसक रहना बहुत आवश्यक है। वह अच्छाई से बुराई को, प्रेम से क्रोध को, सत्य के द्वारा असत्य को, अहिंसा द्वारा हिंसा को जीतने का प्रयास करें।

डॉ. वी.पी. वर्मा लिखते हैं कि-गांधी जी का सत्याग्रह के सर्वोच्च आदर्श से उत्पन्न हुआ है। सत्य के पुजारी का यह कर्तव्य है कि सत्य की कसौटी तथा उसके अधिकारों की रक्षा करें।

सत्याग्रही को पूर्णतया अनुशासित और निष्ठावान रहते हुए सत्याग्रह के मार्ग पर मिलने वाली कठिनाइयांे भरी यातनाओं को सहर्ष स्वीकार करना पड़ता है।

गांधी जी के अनुसार-सत्याग्रही को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपिरग्रह, शारीरिक अस्वाद, निर्भयता, आदि गुणों से युक्त धर्मों को समान देखने वाला तथा स्वदेशी तथा अस्पृश्यता निवारण करने वाला होना चाहिए।

सत्याग्रह के विभिन्न रूप-

गांधी जी के विचार में सत्याग्रही प्रेम और अहिंसा के द्वारा शत्रु के हृदय पर विजय प्राप्त करता है। वह वीरों का अस्त्र है। वह प्रेम मूलक है और शत्रु के प्रति प्रेम और उदारता का भाव रखता है। सत्याग्रह व्यक्तिगत और सामूहिक दोनों प्रकार का हो सकता है। सत्याग्रही त्याग और सेवा की भावना से प्रेरित होकर अपने आप को खादी, ग्रामोद्योग अस्पृश्यता निवारण, प्रौढ़ शिक्षा, राष्ट्र भाषा प्रचार, जातीय एकता, मद्यपान निषेध, जनकल्याणकारी कार्यों में लगा रहता है।

सामूहिक सत्याग्रह का प्रयोग गांधी जी ने पहले दक्षिण अफ्रीका में भारत में विकसित वर्ग सामूहिक सत्याग्रह के रूप में निम्न कार्यवाहियां स्वीकृत की गयी हैं-

1.हड़ताल-इसका उद्देश्य कार्य को बन्द करके जनता, सरकार और सम्बन्धित संस्था के मस्तिष्क को प्रभावित करना, लेकिन आवश्यक है कि हड़तालें जल्दी न की जायें। वह सदैव अहिंसात्मक होना चाहिए।

2.बहिष्कार-इसका अर्थ समाज के उन कलंकी लोगों का बहिष्कार करना है जो जनमत की अवहेलना करते हैं और सहयोग नहीं करते हैं। उनका सामाजिक बहिष्कार करना बहुत ही पुराना तरीका है। इसका प्रयोग सीमित अर्थ में ही किया जाना चाहिए।

3.असहयोग-सत्याग्रह का ही रूप असहयोग है। जिसका गांधी जी ने अंग्रेजों की नीतियों का विरोध करने के लिए किया, गांधी जी का विचार था कि-अन्याय करने वाला भी अन्याय सहने वाले के बिना अत्याचार नहीं कर सकता, अतः गांधी जी ने जन साधारण से अंग्रेजी सरकार के साथ सहयोग करने की अपील की। क्योंकि सरकार का सभी काम प्रजाजनों के सहयोग से ही चलता है। यदि प्रजा असहयोग करें, सरकारी व्यवस्था को स्वीकार करे तो अकेले शासन चला पाना कठिन है।

4.धरना-धरना देने का अर्थ कि जब तक सत्याग्रही की न्यायपूर्ण बात नहीं मानी जाएगी तब तक वह एक आसन पर स्थिर होकर भूखा बैठा रहेगा। धरना शान्तिपूर्ण होना चाहिए। इसमें किसी प्रकार का बल प्रयोग, अभद्र, आचरण करना पूर्णतः निषिद्ध है। सन् 1920-22 में तथा 1930-34 में उन्होंने शराब, अफीम आदि मादक द्रव्यों और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर इस प्रकार की घटना का आवाहन् किया था।

5.हिजरत-इसका अर्थ है स्वैच्छिक देश निकाला। सत्याग्रह के अन्तर्गत इसका अर्थ है दमन के स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर चले जाना। मुहम्मद साहब के जीवन के घटना से गांधी जी हिजरत का प्रयोग किया। जब मोहम्मद साहब का मक्का में रहना उनके विरोधियों ने दुर्भर कर दिया तो वे मदीना हिजरत कर गये। अर्थात् मक्का छोड़ मदीना चले गये। इसी प्रकार हिन्दुओं के अमानवीय अत्याचारों से पीड़ित हरिजनों को गांधी जी ने यह राय दी थी कि यदि वे अपने अत्याचारों को बंद न करें तो वे दूसरे गांव चले जाएं।

6.उपवास-उपवास को गांधी जी अपने शस्त्रगार में सबसे अधिक फलदायक अस्त्र मानते थे। उपवास का उद्देश्य आत्मशुद्धि है, यह सामूहिक भी हो सकता है, व्यक्तिगत भी। उन्होंने सन् 1922 में 5 दिन, 1924 में 21 दिन, 1953 में 5 दिन, 1947 व 1948 में अनेकों दिनों तक लगातार उपवास किया।

7.सविनय अवज्ञा-बैल्स फोर्ड ने इस आन्दोलन के विषय में लिखा-भारतीय अपना उद्देश्य निश्चित कर चुके थे। अपने दिलों में वे स्वतंत्रता प्राप्त कर चुके थे। गांधी जी ने एक सौम्य तथा निष्क्रिय राष्ट्र को शताब्दियों की निद्रा से जगा दिया था।

गांधी जी के अनुसार कानून जनता के कल्याण के लिए होता है। यदि कानून जनहित का विरोध करता है तो वह अन्यायपूर्ण और अनैतिक हो जाएगा। अतः ऐसी स्थिति में उस कानून की अवज्ञा करना उसे न मानना नैतिक आचरण हो जाता है। अतः कुशासन करने वालों को सहयोग न देना जनता का सहज अधिकार है। गांधी जी ने इसी कार्य को सविनय अवज्ञा की संज्ञा दी है।

सत्याग्रही का आचरण-

गांधी जी ने सत्याग्रही के लिए कुछ आचार व नियम बनाएं जो निम्न थे-

1.ब्रह्मचर्य-गांधी जी का मानना था कि मन, वचन कर्म से अपनी इन्द्रियों पर पूर्णतः नियंत्रण करते हुए पारिवारिक जीवन के पूर्ण कर्तव्यों को निभाना था। अर्थात् वैवाहिक जीवन के वे विरोधी नहीं थे। उनके अनुसार सम्पूर्ण जीवन शक्ति विषयोन्मुख न होकर उच्च आदर्शों के लिए होनी चाहिए जिसे सत्याग्रही की शारीरिक नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति प्रबल हो।

2.निर्भयता-सत्याग्रही को पूर्णतः निर्भीक होकर काम करना चाहिए। वह केवल ईश्वर से ही डरे उसके अतिरिक्त किसी से भी भयभीत नहीं होना चाहिए। गांधी जी की प्रशंसा करते हुए डॉ. के.एम. मुंशी ने लिखा है- गांधी जी ने अराजकता पायी और उसे व्यवस्था में परिवर्तित कर दिया, कायरता पायी और उसे साहस में बदल दिया, अनेक वर्गों में विभाजित लोगों को जनसमूह में बदल दिया। निराशा को सौभाग्य में बदल दिया और बिना किसी प्रकार की हिंसा या सैनिक शक्ति का प्रयोग किये एक साम्राज्यवादी शक्ति के बंधनों को अन्त कर विश्वशान्ति को जन्म दिया।

3.अस्तेय-इसका शाब्दिक अर्थ तो चोरी न करना है। अतः सत्याग्रही को त्यागी प्रवृत्ति का बनकर संचय करने व संग्रह करने सर्वदा दूर रहना चाहिए।

4.अपरिग्रह-सांसारिक पदार्थों को त्याग करना ही अपरिग्रह है। अतः सत्याग्रही को त्यागी संचय करने व संग्रह करने से सर्वदा दूर रहना चाहिए।

5.श्रम व उपार्जन-अपने परिश्रम द्वारा अपने जीविकोपार्जन को करते हुए किसी अन्य के श्रम का लाभ नहीं लेना चाहिए, क्योंकि गांधी जी के अनुसार ऐसा करना शोषण माना जायेगा।

6.जीवित रहने के लिए भोजन-भोजन जीने के लिए करना चाहिए न कि भोजन करने के लिए जीना चाहिए। भोजन स्वाद के लिए नहीं जीवित जीने के लिए है। अतः भोजन सात्विक होना चाहिए। गांधी जी के जीवन का सबसे बड़ा सिद्धान्त सादा जीवन उच्च विचार था।

7.सब धर्मों को समान भाव से देखना-सत्याग्रही भले ही किसी भी धर्म का अनुयायी हो पर उसे सभी सम्प्रदायों और मतों को समान भाव से देखना चाहिए।

8.स्वदेश प्रेम की भावना-स्वदेशी का अर्थ-स्वदेशी का अर्थ अपने देश में निर्मित सभी चीजों का उपयोग करना है। अतः सत्याग्रही को चाहिए कि स्वदेश में बनी चीजें ही उपयोग में लाएं, ऐसा करने में भले ही उसे परेशानी या कष्ट का सामना करना पड़ें।

9.मानवतावादी दृष्टिकोण-एक सच्चे सत्याग्रही का दृष्टिकोण मानवतावादी होना चाहिए। मनुष्य का मानवतावादी दृष्टिकोण तभी संभव है जब कि उसमें अहंकार न हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधी जी के अनुसार सत्याग्रही का जीवन समाज के अन्य व्यक्तियों के लिए प्रेरणा का स्रोत होना चाहिए साथ ही उसे उपयुक्त गुणों से परिपूर्ण समाज का नेता होना आवश्यक है।

15.3.10. गांधी जी की सत्य एवं अहिंसा की अवधारणा-

गांधी जी के अनुसार, 'सत्य ही ईश्वर है।' परन्तु प्रश्न उठता है कि वह सत्य जो ईश्वर है और जिसकी प्राप्ति जीवन का उद्देश्य है, क्या है?

गांधी के मतानुसार 'सत्य' सत शब्द से निकला है, इसका अर्थ है अस्तित्व या होना। सत्य को ईश्वर ब्रह्म कहने का यह कारण है कि सत्य वही है जिसकी सत्ता होती है, जो सदा टिका रहता है। ब्रह्म या परमात्मा की सत्ता तीनों कालों में बनी रहती है, अतः यह सत्य है। गांधी जी अपने जीवन का ध्येय सत्य की शोध करना समझते थे। उन्होंने अपनी आत्मकथा का नाम 'मेरे सत्य के प्रयोग' रखा है।

सामान्यतः सत्य शब्द का अर्थ केवल सच बोलना ही समझा जाता है, लेकिन गांधी जी ने सत्य का व्यापकतम अर्थ लेते हुए बार-बार यह आग्रह किया है कि विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है। गांधी जी की दृष्टि में सत्य की आराधना ही सच्ची भक्ति है।

गांजी जी के अनुसार दैनिक जीवन में सत्य सापेक्ष है, किन्तु सापेक्ष सत्य के माध्यम से एक निरपेक्ष सत्य पर पहुंचा जा सकता है और यह निरपेक्ष सत्य ही जीवन का चरम लक्ष्य है, इसकी प्राप्ति ही मनुष्य का परम धर्म है।

गांधी जी के सत्य के परिवेश में केवल व्यक्ति नहीं आता है, अपितु इसमें समूह और समाज भी समावेश है। वे चाहते हैं कि सम्पूर्ण सत्य का पालन धर्म, राजनीति, अर्थ-नीति परिवार-नीति सब में होना चाहिए। राजनीति में सत्य के पूर्ण पालन का उनका नवीन प्रयोग तो विश्व इतिहास के लिए एक अविस्मरणीय घटना है।

अहिंसा का अर्थ-अहिंसा का शाब्दिक अर्थ है हिंसा या हत्या न करना। हिंसा का अर्थ किसी भी जीवन को स्वार्थवश, क्रोधवश या दुख देने की इच्छा से कष्ट पहुंचाना या मारना है। हिंसा के मूल में स्वार्थ, क्रोध या विद्वेष की भावना होती है। इसे विपरीत अहिंसा के अनुयायी को इन सभी भावनाओं पर विजय पाते हुए प्राणी मात्र के प्रति प्रेम और मैत्री की भावना रखनी होती है जिसे गांधी जी अहिंसा कहते हैं।

गांधी जी के लिए अहिंसा का अर्थ अत्यन्त व्यापक है जिसमें कार्य ही नहीं, अपितु विचार में भी सावधान रहना आवश्यक है। किसी को न मारना अहिंसा का एक अंग अवश्य है, किन्तु अहिंसा में इसके अतिरिक्त और भी कुछ है। कुविचार मात्र हिंसा है, मिथ्या भाषण हिंसा है, द्वेष हिंसा है, किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत को जिस चीज की आवश्यकता है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है।

अहिंसा के दो पक्ष-अहिंसा के दो पक्ष हैं-नकारात्मक तथा सकारात्मक। किसी प्राणी को काम, क्रोध तथा विद्वेष से वशीभूत होकर हिंसा न पहुंचाना इसका नकारात्मक रूप है, किन्तु इससे अहिंसा का पूरा स्वरूप समझ में नहीं आता है। अहिंसा का यथार्थ स्वरूप तो हमें इसके भावात्मक पक्ष से पता लगता है। भावात्मक अथवा सकारात्मक स्वरूप वाली अहिंसा को सार्वभौम प्रेम और करूणा की भावना कहा जाता है। इसके चार मूल तत्व, प्रेम, धैर्य, अन्याय का विरोध और वीरता है।

जिस प्रकार हिंसा का आधार विद्वेष होता है उसी प्रकार अहिंसा का आधार प्रेम है। अहिंसा का व्रत लेने वाला साधक अपने उग्रतम शत्रु से भी वैसा ही प्रेम रखता है जैसा पिता बुरा कार्य करने वाले अपने पुत्र से स्नेह करता है। वह शत्रु की बुराई से घृणा करता है न कि शत्रु से। अहिंसा तथा प्रेम की शक्ति से यह शत्रु की बुराई दूर करने का यत्न करता है। वह स्वयं प्रसन्नता पूर्वक कष्ट सहन कर लेता है, किन्तु शत्रु को कष्ट नहीं पहुंचाता। अहिंसा का दूसरा तत्व अनन्त धैर्य है। यदि अहिंसक को अपने प्रयत्न में जल्दी सफलता नहीं मिलती तो वह निराश नहीं होता। उसे दृढ़ विश्वास रहता है कि अहिंसा अचूक ब्रह्मास्त्र है, वह अन्त में अवश्य सफल होगी। भारी असफलताएं मिलने के बावजूद अहिंसक हिम्मत नहीं हारता और धैर्य पूर्वक अपने पथ पर आगे बढ़ता रहता है। अहिंसा की तीसरा तत्व अन्याय का प्रतिरोध करना है। अहिंसा निष्क्रियता या उदासीनता नहीं है अपितु बुराई का तथा अन्याय का सतत् प्रतिकार करते रहना है। अहिंसक अन्यायी के अत्याचारों से घबराता नहीं है अपितु वीरता पूर्वक उनका सामना करता है, अतः अहिंसा का चौथा मूल तत्व वीरता है। गांधी जी ने इस पर बहुत बल दिया है। उनके मतानुसार अहिंसा साहसी और वीर पुरुषों का गुण है, निर्बलों और कायरों का हथियार नहीं। अन्धकार और प्रकाश की तरह कायरता और अहिंसा में विरोध है। अहिंसा के प्रयोग तभी महत्व रखते हैं जब हम बलवान होते हुए तथा पशुबल का पूरा सामर्थ्य रखते हुए भी इसका प्रयोग न करें। अहिंसक योद्धा का सबसे बड़ा गुण वीरता और निर्भयता है। इसमें शस्त्र युद्ध की अपेक्षा अधिक साहस अपेक्षत है, क्योंकि इसमें सबसे बड़ा हथियार उसकी आत्मा का बल है। ऐसा वीरता पूर्वक आत्मबल न होने की दशा में गांधी जी हिंसा और बल प्रयोग को अधिक श्रेष्ठ समझते थे। एक बार उन्होंने स्वयं कहा था, ''विदेशी राज्य के सामने दीन भाव से अपनी प्रतिष्ठा खोने की अपेक्षा यह कहीं अधिक अच्छा है कि भारत शस्त्र धारण करके आत्मसम्मान की रक्षा करें।''

अहिंसा का आधार-गांधी जी की अहिंसा का आधार अद्वैत की भावना है। उनका विश्वास था कि सृष्टि की सभी वस्तुओं में एक ही चेतन सत्ता या ब्रह्म ओत-प्रोत है। सभी में भगवान का दिव्य अंश है। जब सब कुछ भगवान का रूप है और मैं भी वास्तव में उसी का रूप हूँ तो मैं किसी से कैसे द्वेष कर सकता हूँ। वह अद्वैत की भावना सृष्टि के

सभी प्राणियों के प्रति मुझे आत्मरूप होने के कारण प्रेम और अहिंसा के धर्म का पालन करने के लिए बाधित करती है।

अहिंसा की तीन अवस्थाएं-गांधी जी ने अहिंसा की निम्नलिखित तीन अवस्थाएं बतायी हैः

1.जागृत अहिंसा-इसे वीरे पुरुषों की अहिंसा भी कहते हैं। यह वह अहिंसा है जो किसी दुःखपूर्ण आवश्यकता से पैदा न होकर अन्तर आत्मा की स्वाभाविक पुकार से जन्म लेती है। इसको अपनाने वाले अहिंसा को बोझ समझ कर स्वीकार नहीं करते वरन् आन्तरिक विचारों की उत्कृष्टता या नैतिकता के कारण स्वीकार करते है। सबल व्यक्ति इसे अपनाते हैं और वे शक्ति सम्पन्न होकर भी शक्ति का तनिक सा भी प्रयोग नहीं करते। अहिंसा के इस रूप को केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं अपितु जीवन के सभी क्षेत्रों में दृढ़ता के साथ अपनाया जाना चाहिए। अहिंसा के इस रूप से असम्भव को सम्भव में बदलने और पहाड़ों को हिला देने की अपार शक्ति निहित है।

2.औचित्यपूर्ण अहिंसा-इस प्रकार की अहिंसा वह है जो जीवन के किसी क्षेत्र में विशेष आवश्यकता के पड़ने पर औचित्यानुसार एक निष्क्रिय प्रतिरोध। इसमें नैतिक विश्वास के कारण नहीं वरन् निर्बलता के कारण ही अहिंसा का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि यह अहिंसा जाग्रत अहिंसा की भांति प्रभावशाली नहीं है फिर भी यदि इसका पालन ईमानदारी, सच्चाई और दृढ़ता और अहिंसा परस्पर विरोधी है।''

3.कायरों की अहिंसा-कई बार डरपोक तथा कायर लोग भी अहिंसा का दम्भ भरते हैं। गांधी जी ऐसे लोगों की अहिंसा को अहिंसा न मानकर 'निष्क्रिय हिंसा' मानते हैं। उनका विश्वास था कि ''कायरता और अहिंसा पानी और आग की भांति एक साथ नहीं रह सकते।'' अहिंसा वीरों का धर्म है और अपनी कायरता को अहिंसा की ओट में छिपाना निन्दनीय तथा घृणित है। यदि कायरता और हिंसा में से किसी एक का चुनाव करना हो तो गांधी जी हिंसा को स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में उनका यह स्पष्ट विचार है कि, ''यदि हमारे हृदय में हिंसा भरी है तो हम अपनी कमजोरी को छिपाने के लिए अहिंसा का आवरण पहनें, इससे हिंसक होना अधिक अच्छा है।'' वस्तुतः गांधी जी कायरता के पक्ष में कभी नहीं थे।

गांधी की अहिंसा की विशेषताएं-गांधी जी की अहिंसा की दो बड़ी विशेषताएं हैं - पहली विशेषता इसका सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन है तथा दूसरी इसके क्षेत्र का विस्तार करके इसे नयी गति तथा नया विस्तार प्रदान करना है।

पहली विशेषता-गांधी जी से पहले अहिंसा का सामान्य अर्थ किसी जीव का प्राण न लेना तथा इसे खान-पान के विषय तक सीमित रखना था। गांधी जी ने इसका विस्तृत विवेचन करते हुए कहा कि यह खाद्य के विषय से परे है। मांसाहारी अहिंसक हो सकता है, फलाहारी या अन्नाहारी घोर हिंसा करते देखे जाते हैं। एक व्यापारी झूठ बोलता है, ग्राहकों को ठगता है, कम तोलता है, किन्तु यह व्यापारी चींटी को आटा डालता है, फलहार करता है। फिर भी यह व्यापारी उस मांसाहारी व्यापारी की अपेक्षा अधिक हिंसक हैं, जो मांसाहार करते हुए भी ईमानदार है और किसी को धोखा नहीं देता। इस प्रकार गांधी जी ने जीव हिंसा की विवेचना करते हुए अहिंसा की परम्परागत परिभाषा और सीमा में नवीन क्रान्तिकारी परिवर्तन और विस्तार किया।

दूसरी विशेषता-अहिंसा के कार्य क्षेत्र का विस्तार है। गांधी जी ने अहिंसा को व्यक्तिगत और पारिवारिक क्षेत्र की संकीर्ण परिधि से निकालकर इसे सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में सभी प्रकार के अन्यायों का प्रतिकार करने का शस्त्र बनाया। इसे ऋषि-मुनियों तक मर्यादित न रखकर सार्वजनिक और सार्वभौम बनाया। गांधी जी के शब्दों में, ''अहिंसा यदि व्यक्तिगत गुण है तो मेरे लिए त्याज्य वस्तु हैं। मेरी अहिंसा की कल्पना व्यापक है। वह करोड़ों

की हैं। मैं तो उसका सेवक हूं...हम तो यह सिद्ध करने के लिए पैदा हुए हैं कि सत्य और अहिंसा व्यक्तिगत आचार के नियम नहीं हैं वे समुदाय, जाति और राष्ट्र की नीति का रूप ले सकते हैं अहिंसा सबके लिए है, सब जगहों के लिए हैं, सब समय के लिए है।'' हरिजन सेवक में उन्होंने लिखा था, ''हमें सत्य और अहिंसा को केवल व्यक्तियों की वस्तु नहीं बनाना है, बल्कि ऐसी वस्तु बनाना है जिस पर समूह, जातियां और राष्ट्र अमल कर सकें।'' अहिंसा के विषय में गांधी जी की यह सबसे बड़ी मौलिक देन थी। भारत की स्वत्रंता प्राप्ति के लिए राजनीतिक क्षेत्र में अहिंसा के सफल प्रयोग से उन्होंने अपने उपर्युक्त दावे को सत्य सिद्ध किया।

अभ्यास प्रश्न

1. महात्मा गांधी का जन्म कब हुआ था?

A. 02 नवम्बर 1869 ई0 B. 02 अक्टूबर 1869 ई0

C. 02 अक्टूबर 1879 ई0 D. 02 अक्टूबर 1859 ई0

2. महात्मा गांधी का जन्म कहाँ क्या था?

A. पोरबन्दर B. राजकोट

C. गुजरात D. अहमदाबाद

3. महात्मा गांधी का दक्षिण अफ्रीका से भारत आगमन कब हुआ था।

A. 02 नवम्बर 1869 ई0 B. 02 अक्टूबर 1869 ई0

C. 02 अक्टूबर 1879 ई0 D. 02 अक्टूबर 1859 ई0

4. महात्मा गांधी ने निम्नलिखित आन्दोलनों में से किसमें भाग नही लिया था।

A. खेड़ा सत्याग्रह B. चम्पारण सत्याग्रह

C. खिलाफत आन्दोलन D. बारदौली आन्दोलन

5. महात्मा गांधी के राजनीतिक गुरू कौन थे।

A. रवीन्द्र नाथ टैगोर B. मोती लाल नेहरू

C. गोपाल कृष्ण गोखले D. दयानन्द सरस्वती

18.3.4 सारांश

गांधी जी का जीवन विशेष रूप से वर्तमान शताब्दी के पुवार्द्ध से संबंधित है। उनकी मृत्यु 30 जनवरी 1948 को हुई थी। और आज इतने वर्षों बाद जब हम उनके जीवन दर्शन के बारे में सोचते हैं तो हमें तत्कालीन व वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक संदर्भों को ध्यान में रखना आवश्यक हो जाता है। चूंकि गांधी जी ने अपना पूरा जीवन सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक कुरीतियों को दूर करने में ही लगा दिया। महात्मा गांधी ब्रिटेन से

वकालत की पढ़ाई करने के बाद जब भारत में 1892 में आये, उसके बाद से ही वह सामाजिक बुराईयों को दूर करने के लिये कूद पड़े। महात्मा गांधी के अध्यात्मिक आदर्शवाद में ईश्वर, सत्य, नैतिकता, साधन की श्रेष्ठता, अहिंसा आदि का विशिष्ठ स्थान है। गांधी जी सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलना श्रेस्कर समझा था। सत्य और अहिंसा का अटूट सम्बन्ध को मानते हुये उसी सिद्धान्त पर सारा जीवन चलते गये। महात्मा गांधी भारत के व्यापक क्षेत्र में राजनीति को लेकर आये, देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में एक अभूतपूर्व सेनानी के रूप में उनकी भूमिका रही। अतः भारतीय जनता ने उन्हें राजनीतिक नेता और देशभक्त राष्ट्रवादी के रूप में अधिक जाना-माना निःसंदेह, गांधी जी राष्ट्रवादी थे। गांधी के हृदय में राजनीतिक स्वतंता की उत्कृष्ट कामना थी वे स्वराज को सत्य का एक अंग मानते थे। अतः स्वभाविक था कि स्वतंत्रता उनके लिये अधिक पवित्र वस्तु थी। उनका विश्वास था कि राजनीतिक स्वतंत्रता अर्थात् स्वराज तीव्र संघर्ष और कष्ट सहन के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। गांधी जी राजनीति स्वतंत्रता के साथ ही आर्थिक स्वतंत्रता भी चाहते थे। गांधी जी ने इस बात पर बार-बार जोर दिया कि यदि हम भारत को एक राष्ट्र बनाना चाहते हैं तो केवल हिन्दी ही राष्ट्र भाषा हो सकती है। हरिजन में उन्होंने लिखा है- यदि हमें भारतीय राष्ट्रीयता का लक्ष्य प्राप्त करना है तो हमें क्षेत्रियता की जंजीर को तोड़ना ही होगा। समकालीन समाज में विकास से जुड़ी समस्याओं के संदर्भ में गांधी जी के चिन्तन में विशेष अभिरूची ली जा रही है। वैसे गांधी जी विकास को कोई विशेष सिद्धान्त प्रस्तुत नही किया परन्तु उन्होंने भिन्न-भिन्न अवसरों पर मनुष्य के मार्ग दर्शन के लिये जो ओजस्वी विचार प्रस्तुत किये उन्हें मिलाकर विकास का एक प्रतिरूप उभारा जा रहा है।

महात्मा गांधी जी ने समाज के प्रत्येक क्षेत्र तथा समस्याओं पर अपने विचार रखे थे चाहे वह महिलाओं की स्वतंत्रता एवं चेतना का विचार हो चाहे समाज के अत्यधिक शोषित, पीड़ित, दलित या कमजोर वर्ग की बात हो। उनके हित के लिये उन्होंने उनके साथ मिलकर समय-समय पर संघर्ष किया है और उनको एक नई दिशा दी तथा समाज की मुख्य धारा में जोड़ने का प्रयास किया। वास्तव में यह उन्हीं के प्रयत्नों का फल था कि आतंकवाद सीमत रहा और भारत में बिना बहुत रक्तपात के स्वतंत्रता प्राप्त कर ली।

गांधी जी हिन्दू-मुस्लिम एकता के महान समर्थक थे गांधी जी स्त्रियों के स्वतंत्रता के पक्षपाती थे। वे स्त्रियो के समर्थक थे और उनको पुरूषों के बराबर दर्जा देना चाहते थे। उन्होंने भारतीय नारी को राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने का सुअवसर प्रदान किया। गांधी जी साधारण धर्म और राजनीतिक को एक दूसरे से पृथक समझ और धर्म को राजनीति से अलग किया। गांधी जी बसुदेव कुटुम्बकम के सिद्धान्त पर चलने वाले चिन्तक थे। गांधी जी की हत्या एक व्यक्ति की हत्या नही बल्कि भारत की नैतिक, शक्ति और आर्थिक सोच की हत्या थी आज हमें बार-बार ऐसा लगता है कि काश कोई गांधी होता जो हमारे पतनोन्मुख एवं दिशा हीन समाज को एक गति प्रदान करता। असल में आज जरूरत है उन तत्वों को पहचानने की जो क्षुब्ध स्वार्थों के कारण भारतीय जनता के हित को गिरवी रख देना चाहते है। यदि हम आज गांधी को ठीक से समझ ढंग से समझ सके और उनके द्वारा बताये गये मार्ग पर चलने का प्रयास कर सके तो द्विवंगत आत्मा के लिये यही सच्ची श्रद्धांजलि होगी। और हमारे उद्धार का एक मात्र यही उपाय है।

18.3.5 शब्दावली

1. सत्याग्रह - सत्य पर अटल रहना।

2. अहिंसा - हिंसा न करना।

3. अपरिग्रह - सांसारिक पदार्थो का त्याग करना।

4. कुटुम्ब - परिवार

5. विकेन्द्रीकरण - सत्ता को एक जगत केन्द्रित न होकर विभिन्न स्तरों पर पाया जाना।

18.3.6 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.B 2.A 3.A 4.D 5.C

18.3.7 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. वर्मा, विश्वनाथ (1998), आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा।

2. ग्रोवर, बी.एल. तथा यशपाल (2003), आधुनिक भारत का इतिहास, एस.चन्द्र एण्ड कम्पनी लि0, रामनगर, नई दिल्ली।

3. विपिन चन्द्र (2001), भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।

4. वर्मा, दीना नाथ (2004) आधुनिक भारत, ज्ञानदा प्रकाशन (पी.एण्ड डी.), दरियागंज, नई दिल्ली।

5. पाण्डेय, एच.एल. (1997) गांधी, नेरू, टैगोर एवं अम्बेडकर, प्रयाग पुस्तक भवन, यूनर्वसिटी रोड, इलाहाबाद।

18.3.8 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. गांधी, महात्मा (2005), सत्य के प्रयोग/आत्मकथा, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद।

2. एम.के. गांधी, समाज सुधार, समस्या और समाधान।

3. हिन्द स्वराज चौथा संस्करण।

4. हरिजन, 18 माई 1940।

5. शर्मा, अरूण दत्त (2009), भारतीय राजनीतिक विचारक, यूनीक पब्लिशर्स, लालपत नगर, नई दिल्ली।

18.9 निबंधात्मक प्रश्न-

1. महात्मा गांधी के राजनीतिक एवं सामाजिक विचारों का विस्तार से उल्लेख कीजिए।

2. महात्मा गांधी का भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में उनकी भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई-19 माओ-त्से-तुंग (1893-1976)

इकाई की रूप रेखा

19.1 प्रस्तावना

19.2 उद्देश्य

19.2.1 जीवन परिचय

19.3 माओ-त्से-तुंग के दार्शनिक विचार

19.4 माओ-त्से-तुंग के सामाजिक विचार

19.5 माओ-त्से-तुंग के दल सम्बन्धी विचार

19.6 माओ-त्से-तुंग के क्रांति सम्बन्धी विचार

19.6.1 छापामार युद्ध पद्धति

19.6.2 छापामार युद्ध की सफलता के लिये आवश्यक दशाएं

19.6.3 छापामार युद्ध का सैनिक दल का नेतृतव

19.6.4 माओ और चेग्वेंरा के विचारों में अंतर

19.6.5 माओ के क्रांति सम्बंधी विचारों में विकास

19.7 सारांश

19.8 शब्दावली

19.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

19.10 सन्दर्भ ग्रंथ

19.11 सहायक पुस्तकें/उपयोगी पुस्तकें

19.12 निबंधात्मक प्रश्न

19.1 प्रस्तावना

इस इकाई का उद्देश्य माओ के सिद्धांतों को व्याख्यायित करना एवं समय-समय पर माओ द्वारा लिखे गये लेखों के आधार पर उसके विचारों को समझना है। इस इकाई में माओ के दार्शनिक विचार, सांस्कृतिक, सामाजिक विचार, उसके दल सम्बंधी एवं क्रांति सम्बंधी विचार तथा चेग्वेंरा से उसके विचारों में अंतर को बृहद रूप से रेखांकित किया गया है। मुख्य रूप से माओ सैद्धान्तिक विचारक नहीं था, वह एक व्यवहारिक राजनीतिज्ञ था जिसके नेतृत्व में चीन में मार्क्सवादी क्रान्ति हुयी थी। चूँकि उसका उद्देश्य व्यवहारिक था अतः उसकी तुलना लेनिन से की जा सकती है।

उसने समय-समय पर विभिन्न प्रकार के लेख लिखें। उसके इन लेखों का सम्बन्ध किसी न किसी व्यवहारिक समस्या से था। वास्तव में माओ का उद्देश्य किसी सिद्धान्त की स्थापना करना नहीं था, माओ की सफलता इसमें निहित है कि चीन जैसे कृषि प्रधान देश में उसने सफलतापूर्वक मार्क्सवादी क्रान्ति का नेतृत्व किया तथा 1 अक्टूबर 1949 में उसके नेतृत्व में चीन में समाजवादी सरकार की स्थापना की गयी। उक्त के सन्दर्भ में विस्तार से इस इकाई में अध्ययन किया गया है |

19.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त हम –

1.यह समझ सकेंगे कि किस प्रकार से माओ ने चीन की परिस्थितियों के अनुरूप मार्क्स के विचारों का विश्लेषण किया।

2.माओ के दार्शनिक और सामाजिक विचारों के बारे में जान सकेंगे |

3.माओ के दल संबंधी विचार को जान सकेंगे |

4.माओ के क्रांति और छापामार युद्ध के बारे में विस्तार से अध्ययन कर सकेंगे |

19.2.1 जीवन परिचय

माओ-त्से-तुंग का जन्म चीन के हुनान प्रांत के शाओशान गाँव में 26 दिसम्बर, 1893 को एक किसान परिवार में हुआ था। माओ के पिता का नाम माओशुन चेऊ और माता का नाम बेनची मेई था। माओ के शैक्षणिक जीवन का आरम्भ अपने गाँव के स्कूल से हुआ था। प्रारम्भिक काल में उसने चीन की परम्परागत शिक्षा ग्रहण की तथा चीन की परम्पराओं से अवगत हुआ। लेकिन क्रमिक रूप से उसका सम्बन्ध पाश्चात्य विचारों से हुआ। 1917 की रूस की क्रान्ति के पश्चात् वह मार्क्स के विचारों के करीब आया।

1920-21 में जब चीन ने साम्यवादी दल की स्थापना की गयी तब माओ उसका सदस्य बना। चीन में साम्यवादी दल का आरम्भ रूस के नियन्त्रण में स्थापित किया गया था। माओ ने क्रमशः यह अनुभव किया कि चीन की परिस्थितियां भिन्न प्रकार की थी, अतः जो रूस के लिए आदर्श था वह आवश्यक रूप से चीन के लिए आदर्श नहीं हो सकता था। अतः रूस के नेतृत्व की सभी बातों से वह सहमत नही था। उदाहरण के लिए रूस के नेतृत्व में इस पर बल दिया कि शहर का स्थान मुख्य है अतः क्रान्ति का प्रसार शहर से गाँव की ओर होना चाहिए।

माओ इससे सहमत नहीं था। उसने इस पर बल दिया कि चीन की परिस्थितियों में चीन की आवश्यकता की दृष्टि से ग्रामों का स्थान महत्वपूर्ण था अतः क्रान्ति का संचालन ग्रामों से किया जाना चाहिए।

1928-29 में माओ तथा चीन वे साम्यवादी दल के उन सदस्यों में जो सोवियत रूस से प्रभावित थे मतभेद अधिक आगे बढ़ा। इस मतभेद के पश्चात् माओ ने ह्यूनान के ग्रामीण क्षेत्र में अपना कार्यस्थल बनाया। 1930 के पश्चात् इसने छापामार युद्ध की नीति को स्वीकार किया। 1935 में माओ ने लम्बी पदयात्रा की। वह लोगों के सम्पर्क में आया तथा 1935 के पश्चात् वह साम्यवादी दल का मान्य नेता स्वीकार किया गया। 1935 से मृत्युपर्यन्त वह चीन के साम्यवादी दल का सर्वोच्च नेता बना रहा। 8 दिसम्बर 1976 को माओ को स्वर्गवास हो गया।

उसकी रचनाओं में निम्न के नाम महत्वपूर्ण है:-

1.एनॉलिसिस ऑफ चाइनीज़ सोसाइटी (Analysis of Chinies Society (1924)इसमें माओ ने मार्क्स के सिद्धान्तों के अनुरूप चीन के समाज की व्याख्या की थी।

2.ह्यूमन रिपोर्ट (Human Report (1927)माओ ने इस रिपोर्ट में यह स्पष्ट करने की कोशिश की थी कि चीन की परिस्थिति रूस की परिस्थिति से भिन्न थी। चीन में कृषकों तथा ग्रामों का स्थान महत्वपूर्ण था।

3.गुरिल्ला वार (Guerilla War (1932)इसमें माओ ने छापामार युद्ध की महत्ता पर बल दिया था।

4.ऑन प्रैक्टिस एण्ड ऑन कंट्राडिक्शन (On Practice and On Contradiction (1933)-इन दोनों लेखों में माओ ने अपने दार्शनिक विचारों को स्पष्ट करने की कोशिश की है तथा इस पर बल दिया गया है कि मार्क्स के अनुसार विकास की दृष्टि से व्यवहार तथा अन्तर्विरोध का स्थान महत्वपूर्ण है।

5.न्यू डेमोक्रेसी (New Democracy (1924)इसमें माओ ने प्रजातंत्र की नयी व्याख्या की थी तथा इस पर बल दिया था कि चीन की परिस्थितियों में मार्क्सवादी क्रान्ति की सफलता के लिए समान उद्देश्य वाले सभी वर्गों के साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित होने चाहिए।

6.ऑन पीपुल कोलियम (On People Coalium,)- सर्वहारा वर्ग की तानाशाही की सफलता के लिए विभिन्न वर्गों के मध्य उचित प्रकार के सम्बन्ध में स्थापना होनी चाहिए। इसी सिद्धान्त पर इस पुस्तक की रचना की गयी है।

7.ऑन करेक्ट हैंडलिंग ऑफ कंट्राडिक्शन (On Correct handling of Contradiction (1957)- इसमें इस पर बल दिया गया है कि अन्तर्विरोध के प्रति उचित नीतियों का अवलम्बन किया जाना चाहिए।

19.3 माओ के दार्शनिक विचार

माओ के दार्शनिक विचार मार्क्स और लेनिन के विचारों से प्रभावित है। मार्क्स तथा लेनिन की भाँति माओ भी अन्तर्विरोध की महत्ता पर बल देता है। मार्क्स तथा लेनिन की भाँति माओ ने भी इसे माना है कि सामाजिक विकास का सबसे मुख्य कारण अन्तर्विरोध का होना है। इस दृष्टि से उसने द्वन्दात्मक भौतिकवाद को स्वीकार किया है। मार्क्स की भाँति माओ ने इसे भी स्वीकार किया है कि विकास के क्रम में सबसे मुख्य स्थान आर्थिक तत्वों का होता है। उत्पादन के साधन जिन तत्वों को जन्म देते हैं इनसे समाज के वर्गों के सम्बन्ध निश्चित होते हैं।

लेकिन एक दृष्टि से माओ ने अन्तर्विरोध के सिद्धान्त को और आगे बढ़ाने की कोशिश की। माओ के अनुसार इतिहास की विभिन्न अवस्थाओं में दो प्रकार के विरोध होते हैं- एक आधारभूत अन्तर्विरोध जो उस ऐतिहासिक अवस्था में आधारभूत स्थान रखता है। इस आधारभूत अन्तर्विरोध के अन्तर्गत दूसरे अन्तर्विरोध भी कार्य करते हैं। माओ ने इसे मुख्य अन्तर्विरोध कहा है। माओ के अनुसार एक ऐतिहासिक अवस्था में-विकास की कई अवस्थाएं होती हैं। अतः मुख्य अन्तर्विरोध बदलता रहता है, लेकिन आधारभूत अन्तर्विरोध बना रहता है। उदाहरणार्थ उसके अनुसार पूँजीवादी अवस्था में-पूँजीपति वर्ग तथा मजदूर वर्ग के मध्य आधारभूत अन्तर्विरोध है। इसके अन्तर्गत वर्तमान समय में साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशों के लोगों के मध्य मुख्य अन्तर्विरोध है। क्योंकि अभी भी अवस्था साम्राज्यवाद की अवस्था है।

माओ अपने विचारों में लेनिन के विचारों से प्रभावित हैं। लेनिन ने दो प्रकार के अन्तर्विरोध के उल्लेख किये थे (1) प्रतिकूल तथा (2) अप्रतिकूल। लेकिन लेनिन ने अपने इस सिद्धांत/चिंतन को अधिक विकसित नहीं किया। माओ ने इसका और अधिक विकास किया है।

मार्क्स के विचारों में अन्तर्विरोध का सम्बन्ध ‘वर्ग समाज’ से है। माओ ने इस पर बल दिया कि समाजवाद की स्थापना के पश्चात् भी अन्तर्विरोध का अन्त नहीं होता, क्योंकि माओ के अनुसार अर्न्तविरोध का सम्बन्ध मानव स्वभाव से है। यद्यपि समाजवाद में भी अन्तर्विरोध बना रहता है, इसके रूप में परिवर्तन आ जाता है। वर्ग समाज में-अन्तर्विरोध का स्वरूप प्रतिकूल होता है समाजवाद में इसका स्वरूप अप्रतिकूल होता है।

माओ के अनुसार इसकी संभावना बनी रहती है कि अप्रतिकूल अन्तर्विरोध प्रतिकूल अन्तर्विरोध के रूप में बदल जाय। इस स्थिति में वर्ग समाज पुनः वापस लौट आता है। अतः माओ ने इस पर बल दिया कि इसकी आवश्यकता सतत् बनी रहती है-कि अन्तर्विरोध का स्वरूप अप्रतिकूल बना रहे।

माओ का यह विश्वास है कि मनुष्य की विचार पद्धति में-परिवर्तन किया जा सकता है। मानव स्वभाव में निहित-प्रतिकूल अन्तर्विरोध को अप्रतिकूल अन्तर्विरोध के रूप में बदल सकते हैं। माओ ने इस पर बल दिया कि हमेशा

इसके प्रयत्न किये जाने चाहिए कि आदर्श मनुष्य की स्थापना की जाय क्योंकि मनुष्य के आदर्श होने से ही आदर्श समाज की सम्भव है।

19.4सामाजिक विचार

अपने सामाजिक विचारों में माओ, मार्क्स तथा लेनिन से प्रभावित हैं किन्तु वह चीन की परिस्थितियों से भी प्रभावित हैं। किंतु वह चीन की परिस्थितियों से भी प्रभावित हैं- इस दृष्टि से उसने लेनिन के सामाजिक विचारों में संशोधन करने की कोशिश की है।

1926 तक माओ ने इस विचार को स्वीकार किया कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति का नेतृत्व औद्योगिक मजदूर से ही सम्भव है, कृषक मजदूर से संभव नहीं है। लेकिन 1926 के पश्चात् उसके विचारों में परिवर्तन दिखाई देता है। अपने भ्नउंद त्मचवतज में माओ ने इस पर बल दिया कि चीन की परिस्थितियों में कृषक मजदूर का स्थान महत्वपूर्ण है। माओ ने इसे स्वीकार किया कि सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति का नेतृत्व कृषक मजदूर वर्ग के द्वारा किया जाना चाहिए।

जैसा कि मैक्लेनन ने लिखा है कि यह माओ का एक महत्त्वपूर्ण अनुदान है-(डंतगपेउ ंजिमत डंतग)। माओ पहला मुख्य विचारक था जिसने क्रान्ति के नेतृत्व के रूप में कृषक मजदूर की महत्ता पर बल दिया। लेनिन ने रूस की परिस्थितियों में मार्क्स के सामाजिक विचारों में संशोधन करने की कोशिश की थी तथा औद्योगिक और कृषक मजदूर दोनों की परस्पर मिलाने की कोशिश की थी। उसके अनुसार इन दोनों के मिलने के पश्चात् ही सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति सफल होंगें। माओ ने इसे स्वीकार किया इसने भी लेनिन के विचारों में कुछ संशोधन भी किया।

1. लेनिन ने औद्योगिक मजदूर के नेतृत्व पर बल दिया। माओ ने कृषक मजदूर के नेतृत्व पर बल दिया।

2. माओ ने न केवल औद्योगिक तथा कृषक मजदूरों को मिलाने की कोशिश की, वरन् इस प्रक्रिया को और आगे बढ़ाया। अपने लेख छमू क्मउवबतंबल में माओ ने चीन के समाज की व्याख्या की तथा समाज को दो वर्गों में बाँटा I. मित्र वर्ग और II. शत्रु वर्ग। मित्र वर्ग में उसने औद्योगिक मजदूर, कृषक मजदूर, राष्ट्रीय पूँजीपति तथा छोटे-छोटे पूँजीपति को सम्मिलित किया। शत्रुवर्ग में उसने साम्राज्यवादी शक्ति तथा इसके समर्थकों को सम्मिलित किया।

माओ के अनुसार चीन की परिस्थितियों में सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति की सफलता के लिए इन चार मित्र वर्गों के मध्य मित्रता की स्थापना की जानी चाहिए तथा दो शत्रु वर्गों के पक्षों का विरोध किया जाना चाहिए। अपने इसी सिद्धांत को माओ ने 'नवीन प्रजातांत्रिक सिद्धान्त' का नाम दिया।

माओ के अनुसार सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति की सफलता के लिए उन सभी तत्वों की सहायता को स्वीकार किया जाना चाहिए जिनका उद्देश्य राष्ट्रीय हित का समर्थन करना है। चीन में जापानी आक्रमण हो रहे थे, विदेशी तत्वों का प्रभाव बढ़ रहा था। माओ ने चीन की स्वतंत्रता के लिए इन विदेशी साम्राज्यवादी तत्व तथा इनके समर्थक तत्वों का विरोध किया और इनके विरोध में एक 'सम्मिलित नेतृत्व' स्थापित करने की कोशिश की, उसने जिस सम्मिलित नेतृत्व की स्थापना की उसी के परिणामस्वरूप चीन में 1949 में क्रान्ति हुयी तथा समाजवाद की स्थापना हुयी।

एक बार जब इस सम्मिलित नेतृत्व में तानाशाही की स्थापना हो गयी। समाजवाद का स्वरूप स्थिर हुआ तब फिर से 1954 के पश्चात् माओ के विचारों में परिवर्तन आया। अब माओ ने उन विचारों पर बल दिया, जिससे सर्वहारा वर्ग के शासन की स्थापना, तथा वर्गविहीन समाज की स्थापना होगी।

इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि माओ के सामाजिक विचारों में एक विकास दिखाई देता है। यह विकास चीन की परिस्थितियों से प्रभावित था। यद्यपि प्रारम्भिक काल में इसने समझौते का रास्ता अपनाया लेकिन बाद में उसका उद्देश्य वर्गविहीन समाज की स्थापना करना था।

19.5दल सम्बन्धी विचार

माओ के पूर्व लक्जमबर्ग और लेनिन ने दल के सम्बन्ध में अपने विचारों को व्यक्त किया था। चीन की समस्याओं के सन्दर्भ में माओ लेनिन तथा लक्जमबर्ग के सिद्धान्तों को मिलाने का प्रयास लाता है। अपने दल सम्बन्धी विचारों में माओ लेनिन के इस मत को स्वीकार करता है कि दल की सफलता के लिए नेतृत्व आवश्यक है। नेतृत्व के अभाव में सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति सफल नही हो सकती।

लेकिन साथ ही साथ माओ ने इस पर भी बल दिया कि क्रान्तिकारी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जन समर्थन का स्थान महत्वपूर्ण है। अतः जनता की भावनाओं का आदर किया जाना चाहिए। दल का यह कर्तव्य है कि वह जनभावनाओं के अनुरूप अपनी नीतियों का निर्धारण करें। इस दृष्टि को माओ ने साम्यवादी दल में नौकरशाही की प्रवृत्ति का विरोध किया तथा 'सर्वहारा वर्ग की सहजता की भावना तथा दल के नेतृत्व' के मध्य घनिष्ठ सम्बन्धों की आवश्यकता पर बल दिया।

वास्तव में माओ अपने विचारों में चीन की परिस्थिति से प्रभावित था। उसका यह विश्वास था कि सोवियत रूस के नेताओं के विचारों को चीन में सफलतापूर्वक लागू नहीं कर सकते हैं क्योंकि चीन की परिस्थिति रूस की परिस्थिति से भिन्न है। चीन में शक्तिशाली विदेशी तत्वों का प्रभुत्व था इनमें जापान का स्थान प्रमुख था। शक्तिशाली जापान का सामना करने के लिए साम्यवादी दल को 'जनसमर्थन' प्राप्त करने की आवश्यकता थी।

माओ ने जिस साम्यवादी दल को स्वीकार किया, इसके सदस्य न केवल दल के सक्रिय सदस्य थे वरन् सामाजिक कार्यकर्ता भी थे। माओ के अनुसार दल को जनता की भावनाओं के अनुसार कार्य करना चाहिए। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि माओ के दल सम्बन्धी विचारों में लेनिन तथा लक्ज़मबर्ग के मिले जुले विचार थे। लेनिन की नीति से एक ओर उसने दल के संगठन की महत्ता पर बल दिया तो दूसरी ओर लक्ज़मबर्ग की भांति सर्वहारा वर्ग की 'सहज भावनाओं' की महत्ता को भी स्वीकार किया।

1920-21 में जब चीनी साम्यवादी दल का गठन किया गया, तब यह मुख्यतः सोवियत रूस के प्रभाव में था। माओ ने भी आरम्भ में रूस के नेताओं के विचारों को माना। लेकिन 1926 के पश्चात् माओ के विचारों में परिवर्तन आने लगे। चीन की परिस्थितियों में उसने शहरों की अपेक्षा ग्रामों की महत्ता पर बल दिया तथा कृषक मजदूरों के नेतृत्व पर बल दिया। उसने चीन में साम्यवादी दल की सफलता की दृष्टि से कृषक मजदूर एवं दल के मध्य घनिष्ठ सम्बन्धों की आवश्यकता को स्वीकार किया।

1930 में चीन की साम्यवादी दल के नेताओं से उसका मतभेद हुआ तथा ह्यूगान के ग्रामीण क्षेत्रों को उसने अपना कार्यस्थल बनाया। ग्रामीण क्षेत्र से ही अपने क्रान्तिकारी संघर्ष का नेतृत्व किया। 1935 तक माओ चीन के साम्यवादी दल के सर्वोच्च नेता के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

जिस प्रकार लेनिन ने रूस में क्रान्ति की सफलता के लिए कृषक मजदूर वर्ग और औद्योगिक वर्ग के मजदूरों के मध्य मित्रता पर बल दिया था, इसी प्रकार माओ ने भी चीन में साम्यवादी दल की सफलता के लिए उन सभी सामाजिक वर्गों के मध्य मित्रता पर बल दिया जिनकी सहानुभूति विदेशी साम्राज्यवादी तत्वों के प्रति नहीं वरन राष्ट्रीय हितों के प्रति थी।

इस दृष्टि से अपने दल सम्बन्धी विचारों में माओ ने न केवल लेनिन के विचारों को स्वीकार किया वरन उसे और आगे बढ़ाने की कोशिश की। उसने इस पर बल दिया कि क्रान्तिकारी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए संयुक्त तानाशाही की स्थापना की जानी चाहिए। इस संयुक्त तानाशाही में उसने उन छोटे-छोटे पूँजीपतियों को भी शामिल किया जिनकी सहानुभूति-राज्य के प्रति थी तथा जो विदेशी साम्राज्यवादियों के विरोधी थे।

चीन के साम्यवादी दल के जिस संयुक्त तानाशाही को स्वीकार किया, उसी के नेतृत्व में 1949 में चीन में सफलतापूर्वक क्रान्ति की गयी तथा समाजवादी शासन की स्थापना की गयी। एक दृष्टि से माओ ने चीन में साम्यवादी दल के लिए-उस प्रजातांन्त्रिक केन्द्रवाद के विचार को स्वीकार किया, जिसे रूस में स्वीकार किया गया था।

रूस की भाँति माओ ने भी एक ओर केन्द्रीय नेतृत्व की महत्ता पर बल दिया तथा दल के नीचे के स्तरों के द्वारा उसे स्वीकार किये जाने की आवश्यकता पर बल दिया। दूसरी ओर उसने दल की सफलता के लिए चुनाव के सिद्धान्त पर बल दिया तथा सर्वहारा वर्ग की सहजता के सिद्धान्त को स्वीकार किया।

1949 के पश्चात् माओ के दल सम्बन्धी विचारों में फिर से परिवर्तन दिखाई देता है। 1956 में उसने जिस नवीन नीति को स्वीकार किया उसे 'सौ फूलों के खिलने की नीति' कहते हैं। श्भ्नदकतमक थ्सवूमते ळसवववउश् माओ ने इस पर बल दिया कि दल के कार्यकर्ताओं को अपने विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि माओ ने दल के सम्बन्ध में उदारवादी तत्वों को स्वीकार किया तथा केन्द्रीयकरण को सीमित करने की कोशिश की।

1958-59 में चीन के साम्यवादी दल के नेतृत्व में कई दृष्टियों से अन्तर दिखाई देने लगा। चीन की साम्यवादी दल मुख्यतः दो भागों में बँट गयी। पहला भाग-जो अपने विचारों में अनुदारवादी था। दूसरा भाग- जो अपने विचारों में प्रगतिवादी था।

पहले भाग अर्थात अनुदारवादी दल का नेतृतव लियु-शाओ-चियु तथा देंग कर रहे थे। दूसरे दल का नेतृत्व लिन-पिआऊ कर रहे थे। जैसा कि कोला कावस्की ने लिखा है कि एक दल के इन दो भागों के मध्य मुख्यतः तीन दृष्टियों से अन्तर थे-

I. सेना के संगठन के सम्बन्ध में।

II. आर्थिक विकास के सम्बन्ध में।

III. शिक्षा के सम्बन्ध में।

1.सेना के सम्बन्ध में एक भाग श्रेणीबद्ध सेना का समर्थन कर रहा था, जिसमें विभिन्न स्तरों पर अनुशासन की महत्ता पर बल दिया जा रहा था। दूसरी ओर सेना की सफलता की दृष्टि से क्रान्तिकारी भावनाओं की महत्ता पर बल दिया जा रहा था। इसमें गुरिल्ला छापामार युद्ध की पद्धति की महत्ता पर बल दिया जा रहा था।

2.आर्थिक क्षेत्र में पहला भाग आर्थिक विकास की दृष्टि से पाश्चात्य पद्धति की महत्ता को स्वीकार कर रहा था। आर्थिक विकास हेतु वेतनमान की महत्ता पर बल दे रहा था। दूसरा भाग वेतन के स्थान पर राष्ट्रीय उद्देश्य की महत्ता पर बल दे रहा था।

3.शिक्षा के क्षेत्र में एक पक्ष सोवियत रूस की भाँति क्रमबद्ध शिक्षा की महत्ता पर बल दे रहा था। दूसरा पक्ष शिक्षा के सन्दर्भ में क्रान्तिकारी चेतना को उभारने की महत्ता पर बल दे रहा था।

इन दोनों पक्षों के विवाद में माओ की सहानुभूति प्रगतिवादी पक्ष की ओर थी। दल के अनुदारवादी नेतृत्व की आलोचना की गयी तथा इनके महत्व को कम करने की कोशिश की गयी।

1960 के दशक में चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति हुयी। इस क्रान्ति के सन्दर्भ में विचारकों ने विभिन्न प्रकार के मत दिये हैं। एक मत के अनुसार इस क्रान्ति का उद्देश्य चीन के साम्यवादी दल में माओ के नेतृत्व को स्थापित करना था। लेकिन जैसा कि स्टुअर्ट स्रैन (ने लिखा है-कि कभी भी चीन में माओ के सर्वोच्च नेतृत्व पर प्रश्नचिन्ह् नहीं लगाया गया। 1935 के पश्चात् से लेकर मृत्युपर्यन्त तक वह चीन का सर्वोच्च नेता बना रहा।

वास्तव में सांस्कृतिक क्रान्ति का मुख्य उद्देश्य दल के विचारों में सुधार करना था। माओ के अनुसार चीन के साम्यवादी दल में जो नौकरशाही तत्व आगे बढ़ रहे थे उनका विरोध करना चाहिए। जैसा कि स्टुअर्ट स्रैन लिखते हैं कि-''सांस्कृतिक क्रान्ति ने यह सिद्ध कर दिया कि चीन के साम्यवादी दल को उन्हीं आदर्शों का पालन करना चाहिए जो माओ के आदर्श थे इसी में चीन की जनता की भलाई है।''

लेकिन माओ दल का विरोधी नहीं था, यद्यपि सांस्कृतिक क्रान्ति के समय उसने इस बात पर बल दिया कि दल को सर्वहारा वर्ग की भावनाओं को समझना तथा उसके अनुरूप कार्य करना चाहिए। लेकिन 1966 में जब सांस्कृतिक क्रान्ति समाप्त हुयी तब माओ ने पुनः दल के संगठन की आवश्यकता पर बल दिया तथा दल के नेतृत्व की महत्ता को स्वीकार किया। इसके पश्चात् चीन का साम्यवादी दल माओ के आदर्शों के अनुरूप कार्य करता रहा।

1976 में जब माओ की मृत्यु हुयी तब चीन में नयी प्रगति हुयी। क्रमशः देंग फिर से दल के सर्वोच्च नेता के रूप में उभरकर सामने आये। उन्होंने दल के संगठन और इसके उद्देश्यों के सम्बन्ध में परिवर्तन किये। वास्तव में इनके जिन विचारों को 1959-60 में स्वीकार नहीं किया गया था, वरन् आलोचना की गयी थी, उन्होंने इन विचारों को फिर से स्थापित करने की कोशिश की।

19.6 क्रान्ति सम्बन्धी विचार

अपने क्रान्ति सम्बन्धी विचारों में माओ, मार्क्स तथा लेनिन से प्रभावित था। लेकिन चीन की परिस्थितियों में उसने इस सिद्धान्त में कुछ परिवर्तन भी किये। क्रान्ति के सन्दर्भ में मार्क्स ने दो कारणों की महत्ता पर बल दिया था- एक तो ऐतिहासिक कानून का विकास और दूसरे इच्छा का तत्व। इन दोनों में मार्क्स ने ऐतिहासिक कानून को अधिक

महत्व दिया था। मार्क्स के अनुसार ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त के द्वारा इस निष्कर्ष की पुष्टि की जाती है कि पूँजीवादी व्यवस्था के पश्चात् क्रान्ति होगी: तानाशाही की स्थापना होगी जिससे आदर्श समाज की स्थापना की जायेगी।

लेनिन ने मार्क्स के विचारों को स्वीकार किया लेकिन उसने रूस की परिस्थितियों में एक तो, इच्छा के तत्व पर अधिक बल दिया। लेनिन के अनुसार इसके अभाव में क्रान्ति सफलतापूर्वक नहीं की जा सकती। दूसरे लेनिन ने मार्क्स के द्वारा स्वीकार किये गये, क्रान्ति के दो चरणों में (स्तरों में) अन्तर नहीं किया वरन् इस पर बल दिया कि 1917 की परिस्थितियों में दोनों चरण एक साथ सम्पन्न हुए और तीसरे लेनिन ने इस पर बल दिया कि क्रान्ति की सफलता के लिए औद्योगिक मजदूर तथा कृषक मजदूर वर्ग के मध्य मित्रता आवश्यक है।

माओ इन विचारों से प्रभावित था, लेकिन जिस प्रकार लेनिन ने रूस की परिस्थितियों के अनुरूप मार्क्स के सिद्धान्त में परिवर्तन करने की कोशिश की थी, उसी प्रकार माओ ने चीन की परिस्थितियों में इसमें परिवर्तन करने की कोशिश की।

माओ ने अपने विचारों में ऐतिहासिक कानूनों की महत्ता पर अधिक बल नहीं दिया। उसने लेनिन के इस विचार को मान लिया कि वर्तमान युग साम्राज्यवाद का युग है। मुख्य अन्तर्विरोध साम्राज्यवादी शक्ति तथा उपनिवेशों की शोषित जनता के मध्य है। उसने इस पर बल दिया कि क्रान्ति के पश्चात् सर्वहारा वर्ग की विजय होगी तथा तानाशाही की स्थापना की जायेगी इससे आदर्श समाज की स्थापना होगी।

लेनिन की भाँति माओ ने भी क्रान्ति के विभिन्न चरणों की महत्ता को स्वीकार नहीं किया। उसके विचारों में इस पर बल नहीं दिखाई देता है। लेनिन की भाँति उसने भी स्वीकार किया कि विभिन्न चरण एक साथ सम्पादित हो सकते हैं।

क्रान्ति की सफलता की दृष्टि से उसने लेनिन की भाँति सर्वहारा वर्ग के विभिन्न वर्गों के मध्य मित्रतापूर्ण सम्बन्ध की आवश्यकता पर बल दिया। वास्तव में माओ ने लेनिन के इस विचार को और आगे बढ़ाया। इसने न केवल औद्योगिक मजदूर और कृषक मजदूर वर्ग की मित्रता की आवश्यकता पर बल दिया, वरन इसे और अधिक व्यापक बनाने की कोशिश की। चीन की परिस्थितियों में उसने इस पर भी बल दिया कि क्रान्ति का नेतृत्व कृषक मजदूर वर्ग के द्वारा किया जाना चाहिए।

माओ ने अपने क्रान्ति के सिद्धान्त में सर्वाधिक महत्व शक्ति को प्रदान किया। उसने लिखा है कि 'बन्दूक की नली से क्रान्तियाँ होती हैं'' मार्क्स के विचारों में भी शक्ति की महत्ता को स्वीकार किया गया है, लेनिन ने भी इसके महत्व को स्वीकार किया है। लेकिन मार्क्स और लेनिन में प्रजातांत्रिक तत्वों की महत्ता को भी स्वीकार किया गया है। क्रान्ति के सन्दर्भ में शक्ति की महत्ता पर बल देने में माओ इनसे आगे हैं।

शक्ति के अभाव में छापामार युद्ध पद्धति- माओ का यह विश्वास था कि संगठित शक्ति के अभाव में चीन में सफलतापूर्वक क्रान्ति नहीं की जा सकती थी। इसी दृष्टि से उसने एक विशेष युद्ध पद्धति पर बल दिया, जिसे छापामार युद्ध पद्धति कहते हैं तथा चीन में उसने विशिष्ट सेना का गठन किया, जिसे लाल सेना का नाम दिया गया।

19.6.1 छापामार युद्ध पद्धति

माओ के क्रान्ति सिद्धान्त में इन दोनों का स्थान महत्वपूर्ण है। छापामार युद्ध पद्धति माओ का एक विशेष अनुदान है। इस पद्धति के अनुसार शक्तिशाली शत्रु से खुले रूप में सामना करना उचित नहीं है वरन् इसका सामना छिपकर करना चाहिए। माओ ने जिस छापामार युद्ध पद्धति पर बल दिया है उसमें उसने इसकी कई अवस्थाओं पर बल दिया है। इसकी सफलता के लिए एक विशेष रणनीति की आवश्यकता होती है। 'माओ के अनुसार जब शत्रु आक्रमण करता है हम पीछे हटते हैं जब शत्रु रूकता है तब हम तैयारी करते हैं और जब शत्रु थक जाता है तब हम उसे परेशान करते हैं तथा जब शत्रु वापस लौटता है तब हम आक्रमण करते हैं।''

19.6.2 सफलता के लिए आवश्यक दशाएं

माओ का यह विश्वास है कि इस युद्ध पद्धति में एक के द्वारा दस शत्रुओं का सामना किया जा सकता है लेकिन माओ के अनुसार छापामार युद्ध की सफलता के लिए कुछ आवश्यक दशाएं होती हैं-इनके अभाव में यह सफल नहीं हो पाती, इसकी सफलता की मुख्य दशाएं ये हैं-

1.जनता में इसके लिए एक विशिष्ट स्थान का होना अर्थात जनता द्वारा इस पद्धति का समर्थन होना।

2.दल के द्वारा सशक्त नेतृत्व की स्थापना।

3.एक शक्तिशाली सैन्य संगठन।

4.उपयुक्त युद्ध क्षेत्र की प्राप्ति- जंगली या पहाड़ी भूमि में यह युद्ध अधिक सफलतापूर्वक किया जा सकता है।

5.आवश्यक आर्थिक संगठन का होना।

19.6.3 छापामार युद्ध का सैनिक एवं दल का नेतृत्व

माओ के अनुसार छापामार युद्ध का सैनिक केवल सैनिक मात्र नहीं होता है, वरन वह जनता का पथ प्रर्दशन भी करता है। वह क्रान्तिकारी चेतना के विकास में सहायता करता है। सामान्य समयों में वह जनता में हिल मिलकर रहता है तथा घर-घर में क्रान्ति का सन्देश पहुँचाता है। माओ ने इस पर भी बल दिया है कि इस युद्ध पद्धति की सफलता के लिए दल का नेतृत्व आवश्यक होता है।

19.6.4 माओ तथा चेग्वेंरा में अन्तर

इस दृष्टि से माओ तथा चेग्वेंरा के विचारों में अन्तर है। चेग्वेंरा ने लैटिन अमेरिका की परिस्थितियों में इस पर बल दिया कि छापामार सैनिक नेतृत्व प्रदान करता है। इन सैनिकों से साम्यवादी दल के नेतृत्व की स्थापना की जाती है। अतः चेग्वेंरा ने अपने विचारों में पृथक दल के नेतृत्व की अपेक्षा छापामार सैनिकों के नेतृत्व पर अधिक बल दिया है। चेग्वेंरा के विचारों में दल का स्थान इनके पीछे है। माओ ने दल के नेतृत्व पर बल दिया है तथा छापामार सैनिकों पर दल के द्वारा नियन्त्रण की स्थापना पर बल दिया है।

19.6.5 क्रान्ति सम्बन्धी विचारों में विकास

1926 के बाद- माओ के क्रान्ति सम्बन्धी विचारों में एक विकास दिखाई देता है। 1926 ई0 के पूर्व चीन के साम्यवादी दल पर सोवियत रूस के साम्यवादी दल के विचारों का प्रभाव था। क्रान्ति की सफलता की दृष्टि से

सोवियत रूस के नेताओं ने गाँव की अपेक्षा नगरों की महत्ता पर अधिक बल दिया था। उनके अनुसार क्रान्ति का आरम्भ नगर से किया जाना चाहिए क्योंकि देश में नगरों का स्थान अधिक महत्वपूर्ण होता है।

दूसरे सोवियत रूप के नेताओं ने चीन में क्रान्ति की सफलता के लिए इस पर बल दिया था कि चीन के साम्यवादी दल को वहाँ के कोमिंक-तांग-पार्टी से मिलकर कार्य करना चाहिए। इसका नेतृत्व चांग-ताई-शेक कर रहे थे। 1926 तक माओ ने इसके साथ मिलकर कार्य किया किन्तु 1926 के उपरान्त उसने इन दोनों बातों की आलोचना की।

माओ के अनुसार चीन में नगरों के स्थान पर ग्रामों का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है अतः क्रान्ति की प्राप्ति की दिशा नगरों से गाँव की ओर नहीं वरन ग्रामों से नगरों की ओर होना चाहिए। दूसरे माओ ने इस पर भी बल दिया कि क्रान्ति की सफलता के लिए ‘कोमिक-तांग-दल’ पर निर्भर नहीं रहना चाहिए वरन् साम्यवादी दल को स्वयं अपनी शक्ति का विकास करना चाहिए।

आरम्भ में माओ के इन विचारों को चीन के साम्यवादी दल ने स्वीकार नहीं किया लेकिन 1930 तक माओ के विचारों की सत्यता प्रमाणित होने लगी। चीन के जिन नगरों में क्रान्ति के प्रयत्न किये गये थे वे असफल सिद्ध हुए और इन क्रान्तियों के असफल होने में ज्ञण्डण्ज् का भी सहयोग था।

1930 के बाद 1935 तक- 1930 के पश्चात् माओ तथा चीन के साम्यवादी दल के नेतृतव के मध्य मतभेद उभरकर सामने आए। माओ ने ह्यूनान के ग्रामों में अपने अलग दल की स्थापना की तथा ह्यूनॉन के ग्रामों से वह क्रान्ति का संचालन करने लगा। इसके लिए माओ ने एक सशक्त सेना का निर्माण किया। छापामार युद्ध पद्धति को स्वीकार किया तथा इनका उपयोग विदेशी शक्ति, साम्राज्यवादी और साम्राज्यवाद के समर्थकों के विरूद्ध किया। चूँकि इस काल में चीन में जापान का प्रभुत्व बढ़ रहा था। अतः जनता में जापानियों के लिए आदर की भावना नहीं थी। इसलिए माओ को जन समर्थन प्राप्त हुआ।

ग्रामों की सहायता से उसने अपने प्रभाव का विस्तार किया। 1934-35 में माओ ने अपने समर्थकों के साथ लम्बी यात्रा की तथा जनता के समक्ष अपने विचारों को रखा। 1935 तक माओ ने क्रान्ति के जिस स्वरूप को प्रस्तुत किया था उसे चीन के साम्यवादी दल ने भी स्वीकार कर लिया था। क्रान्ति के सन्दर्भ में शक्ति की महत्ता और लाल सेना तथा ग्रामीण जनता के समर्थन की महत्ता को स्वीकार कर लिया गया।

1935 के पश्चात- 1935 के पश्चात् माओ के क्रान्ति सम्बन्धी विचारों में फिर एक परिवर्तन दिखाई देता है उसने सर्वहारा वर्ग की तानाशाही के सन्दर्भ में लेनिन के विचारों को और आगे बढ़ाने की कोशिश की। उसने क्रान्ति की सफलता की दृष्टि से न केवल कृषक मजदूर वर्ग और औद्योगिक मजदूर वर्ग के मध्य घनिष्ठ सम्बन्धों की आवश्यकता पर बल दिया, वरन् उन सभी वर्गों की सहायता स्वीकार किया, जिनकी सहानुभूति राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रति थी। माओ ने अपने लेख छमू क्मउवबतंबल (1940द्ध में चीन की जनता में शत्रु वर्ग ओर मित्र वर्ग के मध्य एक विभाजन की रेखा खींचने की कोशिश की। उसने सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति की सफलता की दृष्टि से राष्ट्रीय पूँजीपतियों तथा छोटे-छोटे पूँजीपतियों की सहायता को स्वीकार किया।

इस दृष्टि से माओ ने एक संयुक्त तानाशाही की स्थापना पर बल दिया। इस संयुक्त तानाशाही के नेतृत्व में ही चीन में क्रान्ति सफल हुयी तथा 1949 में वहाँ समाजवादी शासन की स्थापना की गयी।

1949 के पश्चात्

1949 के पश्चात् माओ के क्रान्ति सम्बन्धी विचारों में फिर से एक बदलाव दिखाई पड़ता है। अब माओ के विचारों में 'संयुक्त तानाशाही' के स्थान पर 'समाजवादी समाज की तानाशाही' की स्थापना पर बल दिखाई देता हैं।

1960 के दशक में

"On Correct Handling and Contradiction में माओ ने इस बात पर बल दिया कि समाजवाद की स्थापना के लिए अन्तर्विरोधों का अन्त किया जाना चाहिए। अब माओ मार्क्स के आदर्श समाज की ओर झुका हुआ दिखाई देता है। 1960 के दशक में जो सांस्कृतिक क्रान्ति हुयी उस क्रान्ति में माओ ने (1) समाज विरोधी तत्वों को दबाने पर बल दिया तथा उसने (2) चीन के समाज को आदर्श समाज की ओर बढ़ाने की कोशिश करते हुए (3) अन्तर्विरोधों को समाप्त करने का प्रयास किया।

सांस्कृतिक क्रान्ति में क्रान्तिकारी गतिविधियों को नेतृत्व प्रदान करने के लिए कम्यून्स (ब्वउउनदमे) की स्थापना की गयी थी। इस क्रान्तिकारी नेतृत्व में माओ ने तीन तत्वों को शामिल करने की कोशिश की (1) सेना का प्रतिनिधि (2) दल का प्रतिनिधि (3) युवा क्रान्तिकारियों का प्रतिनिधित्व- माओं के इसी सिद्धान्त को Three in One का सिद्धान्त कहा गया है।

अपने क्रान्ति सम्बन्धी विचारों में माओ ने इस पर बल दिया कि 'अन्तर्विरोध' मानव स्वभाव में निहित है अतः क्रान्ति की सम्भावना हमेशा बनी रहती है। माओ के इस सिद्धान्त को सतत् क्रान्ति का सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार विरोध के दो रूप है- एक प्रतिकूल तथा दूसरा अप्रतिकूल।

समाजवादी समाज में विरोध का स्वरूप अप्रतिकूल होता है। वर्ग समाज में इसका रूप प्रतिकूल होता है। समाजवाद की स्थापना में पश्चात् भी इसकी सम्भावना बनी रहती है। अन्तर्विरोध का स्वरूप अप्रतिकूल से प्रतिकूल हो जाय और फिर से वर्ग समाज वापस लौट आये। इसलिए इसे रोकने की आवश्यकता हमेशा बनी रहती है अतः क्रान्ति की आवश्यकता हमेशा बनी रहती है। इसकी सम्भावना समाजवाद की स्थापना के बाद भी बनी रहती है।

माओ का यह विश्वास था कि मानव स्वभाव को बदला जा सकता है। माओ के अनुसार जब तक आदर्श व्यक्ति की स्थापना नहीं होती आदर्श समाज की स्थाना नहीं की जा सकती है। माओ के विचारों का वास्तविक उद्देश्य आदर्श व्यक्ति का निर्माण करना है। इस दृष्टि से वह विचार की उपयोगिता को स्वीकार करता है। सिद्धान्तों के द्वारा व्यक्ति का स्वभाव बदल कर आदर्श व्यक्ति का निर्माण किया जा सकता है। अतः इस दृष्टि से स्टालिन तथा माओ में अन्तर है।

स्टालिन ने अपने विरोधियों को समाप्त करने की कोशिश की जबकि माओ ने उनको सुधारने की कोशिश की। उनके मस्तिष्क को बदलना होगा, माओ के विचारों में आदर्श व्यक्ति का निर्माण करना महत्वपूर्ण है। विचारों के माध्यम से आदर्श व्यक्ति की स्थापना करना माओ के विचारों का एक महत्वपूर्ण अनुदान है। राजनीतिक विचारों का आधार व्यक्तियों की अबुद्धिवादी प्रवृत्तियाँ है। अतः इन विचारकों ने अपने विचारों में राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक तत्वों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्धों की स्थापना पर बल दिया।

अभ्यास प्रश्न-

1. 'न्यू डेमोक्रेसी' किसी रचना है?

a.मार्क्स b. लेनिन c. स्टालिन d. माओ

2. निम्न में कौन सी पुस्तक/पुस्तकें माओ द्वारा लिखित है-

a. 'ऑन करेक्ट हैंडलिंग ऑफ कंट्राडिक्शन b. 'ऑन प्रैक्टिस एण्ड ऑन कंट्राडिक्शन'

c. 'गुरिल्ला वार' d. उपरोक्त सभी

3. माओ-त्से-तुंग की जन्मतिथि है-

a. 26 दिसम्बर 1893 b. 26 मार्च 1893

c. 26 अगस्त 1893 d. 26 जनवरी 1893

4. माओ ने अपने विचारों में प्रधानता दी-

a. सिद्धांत को b. व्यवहार को

c. उपरोक्त दोनों को d. इनमें से कोई नहीं

5. माओ के समय चीन में सर्वाधिक असंतोषक किस वर्ग में था-

a. मजदूर वर्ग b. पंूजीवादी वर्ग

c. कृषक वर्ग d. उपरोक्त कोई नहीं

19.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अंतर्गत अपने माओ-त्से-तुंग का जीवन परिचय जाना एवं माओ के समय के चीन की परिस्थितियों से अवगत हुए। आपने यह भी देखा कि चीन की परिस्थितियों का माओ के दार्शनिक, सामाजिक एवं क्रांति के सिद्धांतों पर महत्वपूर्ण अंकन है। माओ चीन की परिस्थतियो से पूर्णतया प्रभावित था किंतु 1917 की क्रांति के बाद वह मार्क्स एवं लेनिन के सिद्धांतों से भी अपने को प्रभावित होने से रोक न सका।

माओ तत्कालीन चीन की समस्याओं के समाधान को एक ऐसी क्रांति के रूप में देखता है जो साम्यवादी दल के माध्यम से संयुक्त तानाशाही के रूप में स्थापित होती है और इसमें छापामार युद्ध पद्धति का प्रमुख स्थान होता है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि माओ का वास्तविक उद्देश्य आदर्श व्यक्ति का निर्माण करते हुये चीन के वर्तमान समाज को आदर्श समाज बनाने का प्रयत्न था। अन्त में माओ के सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वह यह मानता था कि मनुष्य का स्वभाव बदला जा सकता है, यही वजह थी कि स्टालिन की भाँति वह विरोधियों को समाप्त करने की जगह विचारों के माध्यम से आदर्श व्यक्ति की स्थापना पर जोर देता है।

19.8शब्दावली

1.साम्यवाद- ऐसी समाज-व्यवस्था जिसमें किसी समुदाय के सदस्य मिल-जुलकर रहते हैं। कोई छोटा-बड़ा नहीं होता। ऐसे समाज में किसी वस्तु पर किसी का व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं होता, बल्कि समुदाय की सभी वस्तुएं सब सदस्यों के सामान्य स्वामित्व में रखी जाती है।

2.अधिनायकवाद- अधिनायकवाद का प्रयोग साधारणतः ऐसे सन्दर्भ में करते हैं जहाँ कोई व्यक्ति अपने विलक्षण नेतृत्व, लोकप्रियता या सैन्य संगठन की निष्ठा के बल पर सांविधानिक व्यवस्था को धाराशायी करके पूर्ण सत्ता पर अपना अधिकार कर लेता है। इस व्यवस्था के अंतर्गत सत्ता के विरोधियों के दमन पर विशेष बल दिया जाता है।

3.सांस्कृतिक क्रांति- नव मार्क्सवाद के साथ जुड़ा यह विचार केवल आर्थिक या कानूनी क्षेत्र में क्रांति हो जाने पर सारी व्यवस्था अपने आप वर्गहीन समाज की ओर अग्रसर नहीं होगी। समाजवाद के लक्ष्य की पूर्ति के लिये समाज की चिंतन प्रणाली, विचारधारा और संस्कृति को बुर्जुवा संस्कारों से मुक्त करके नए समाजवादी ढांचे में ढालना जरूरी है।

4.शक्ति- साधारणतः लोग जो कुछ नहीं करना चाहते उनसे वैसा कराने की क्षमता को ‘शक्ति’ की संज्ञा दी जाती है।

5.K.M.T कुओमिटांग, 1891 में सुनयात-सेन द्वारा संस्थापित चीन का राष्ट्रवादी दल।

6.सर्वहारा- मार्क्सवाद के अनुसार औद्योगिक कामगारों का वह विशाल वर्ग जो औद्योगिकीकरण के साथ अस्तित्व में आया और पूंजीवादी युग में जनसाधारण का पर्याय है। इसके पास कोई निजी सम्पत्ति नहीं होती और यह केवल अपनी श्रम शक्ति के बल पर जीवन निर्वाह करता है।

19.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.d 2.d 3.a 4.b 5.c

19.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.‘एनालिसिस ऑफ चाइनीज सोसाइटी’ (1924)

2.‘ह्यूमन रिपोर्ट’ (1927)

3.‘गुरिल्ला वार’ (1932)

4.‘ऑन प्रैक्टिस एण्ड ऑन कन्ट्राडिक्शन’ (1933)

5.‘न्यू डेमोक्रेसी’ (1924)

6.‘ऑन करेक्ट हैंडलिंग ऑफ कंट्राडिक्शन’ (1957)

19.11 सहायक/उपयोगी पुस्तकें-

1.राजनीतिक चिंतन की रूपरेखा - ओ0पी0 गाबा-मयूर पेपर बैक्स, प्रथम संस्करण-1996

2.आधुनिक राजनीतिक विचारों का इतिहास, चतुर्थ भाग-ज्योति प्रसाद सूद- के0 नाथ एण्ड कम्पनी, मेरठ, 1994-95

3.राजनीति कोश- डॉ0 सुभाष कश्यप, विश्व प्रकाश गुप्त, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण-1998

4.राजनीति सिद्धांत की रूपरेखा- ओ0पी0 गाबा-मयूर पेपर बैक्स, पंचम संस्करण-2001

5.राजनीति विज्ञान विश्वकोश- ओ0पी0 गाबा- नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण-1998

19.12 निबन्धात्मक प्रश्न-

1.माओ-त्से-तुंग के क्रांति सम्बंधी सिद्धांतों का विस्तृत विश्लेषण करते हुये आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए?

2.माओ-त्से-तुंग के दार्शनिक विचारों पर विस्तृत रूप से विवेचन प्रस्तुत करें?